हिन्दू-विश्वविद्यालय-ग्रन्थमाला

प्राचीन भारत

लेखक

गङ्गाप्रसाद मेहता, एम० ए०

प्रोफ़ेसर, इतिहास-विभाग, काशी-विश्वविद्यालय

प्रकाशक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय

१९३३

प्रथम संस्करण

प्रास्ताविक उपोद्‌घात

हमारे देश में नवीन शिक्षा की स्थापना हुए एक शताब्दी हो चुकी; पर शोक है कि अद्यापि हमको शिक्षा—विशेषतः उच्च शिक्षा—अँगरेज़ी भाषा द्वारा ही दी जाती है।

ई० स० १८३५ में कलकत्ता की 'जनरल कमिटी आफ़ एड्‌युकेशन' ने अपना मत प्रकट किया था कि—

"We are deeply sensible of the importance of encouraging the cultivation of Vernacular languages.................We conceive the formation of a Vernacular Literature to be the ultimate object to which all our efforts must be directed."

अर्थात्, देश का साहित्य बढ़ाना ही हमारी शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य है।

सन् १८३८ में सर चार्ल्स ट्रेवेलियन ने "हिन्दुस्तान में शिक्षा" विषयक जो लेख लिखा था उसमें भी उस विद्वान् ने कहा है—

"Our main object is to raise up a class of persons, who will make the lerning of Europe intelligible to the people of Asia in their own languages."

अर्थात् हमारा उद्देश्य ऐसे सुशिक्षित जन तैयार करने का है जो यूरोप की विद्या को एशिया के लोगों की बुद्धि में अपनी भाषा द्वारा उतार दें।

ई० स० १८३९ में लार्ड आकलेंड (गवर्नर-जनरल) ने अपनी एक टिप्पणी में लिखा था कि—

"I have not stopped to state that correctness and elegance in Vernacular composition ought to be sedulously attended to in the superior colleges"

अर्थात्, उच्च विद्यालयों में मातृभाषा के निबन्धों में वाणी का यथार्थ रूप और लालित्य लाने पर विशेष ध्यान देने की बात मैं बिना कहे नहीं रह सकता।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने आशा की थी कि अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए लोगों के संसर्ग से साधारण जनता में नवीन विद्या का आप ही आप प्रचार होगा। लेकिन यह आशा सफल न हुई। अतएव ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तिम समय (१८५४) में कम्पनी के 'बोर्ड आफ़ कंट्रोल' (निरीक्षण समिति) के अध्यक्ष सर चार्ल्स वुड ने एक चिर-स्मरणीय लेख लिखा, जिसमें उन्होंने प्राथमिक शिक्षा से लेकर युनिवर्सिटी तक की शिक्षा का प्रबन्ध सूचित किया। पश्चात् कम्पनी से हिन्दुस्तान का राज्याधिकार महारानी विक्टोरिया के हाथ में आया और बड़े समारोह से नवीन शिक्षा की व्यवस्था हुई—तथापि पूर्वोक्त उद्देश्य बहुशः सफल नहीं हुआ। यूनिवर्सिटी के स्थापनानन्तर २५-३० वर्ष बाद भी सर जेम्स पील (बम्बई के कुछ समय तक शिक्षाधिकारी) निम्न-लिखित रूप में आक्षेप कर सके थे—

"The dislike shown by University graduates to writing in their vernacular, can only be attributed to the concsiousness of an imperfect command of it. I cannot otherwise explain the fact that graduates do not compete for any of the prizes of greater money-value than Chancellor's or Arnold's Prize at Oxford, or Smith's or the Members' Prizes at Cambridge. So curiouse an apathy, so discouraging a want of patriotism, is inexplicable, if the transfer of English thought to the native idiom were, as it should be, a pleasant exercise, and not, as I fear it is, a tedious and repulsive trial."

हमारे नव शिक्षित बन्धुओं ने देशभाषा द्वारा देश का साहित्य बढ़ाया है। इससे इनकार करना अकृतज्ञता करना है, तथापि इतना कहना पड़ता है कि वह साहित्य-समृद्धि जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं हुई है।

इसका कारण क्या है? कई विद्वानों ने इसका कारण देशी भाषा का अज्ञान और विश्वविद्यालयों में देशी भाषा के पठन-पाठन का अभाव माना है। लेकिन वास्तविक कारण इससे भी आगे जाकर देखना चाहिए। मूल में बात यह है कि परभाषा द्वारा विद्यार्थियों को जो विद्या पढ़ाई जाती है वह उनकी बुद्धि और आत्मा से मेल नहीं खाती। परिणाम यह होता है कि सब पाठ उनकी बुद्धि में—भूमि में पत्थर के टुकड़े के समान—पड़े रहते हैं, बीज के समान भूमि में मिलकर अंकुर नहीं उत्पन्न करने पाते।

यह सुसिद्धान्तित और सुविदित है कि बालक मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा में सफलता पा सकते हैं क्योंकि मातृभाषा शिक्षा का स्वाभाविक वाहन है। इसलिए हमारी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा मातृभाषा द्वारा ही होनी चाहिए। केवल सिद्धान्त रूप में ही हम ऐसा नहीं कहते, बल्कि यह व्यवहार में भी हिन्दुस्तान की सब प्राथमिक और अनेक माध्यमिक शिक्षण-शालाओं में स्वीकृत हो चुकी है। तथापि उच्च शिक्षा के लिए इस विषय में अभी तक कुछ उपक्रम नहीं हुआ है। विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जब महाविद्यालय में प्रवेश करता है तब भी मातृभाषा द्वारा ही उच्च शिक्षा ग्रहण करना उसके लिए स्वाभाविक देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तान ऐसा विशाल देश है कि इसकी एकता साधने के लिए हर एक प्रान्त की (मातृ) भाषा के अतिरिक्त समस्त देश की एक राष्ट्रभाषा होना आवश्यक है। ऐसी राष्ट्रभाषा होने का जन्मसिद्ध और व्यवहारसिद्ध अधिकार देश की सब भाषाओं में हिन्दी भाषा को ही है। उचित है कि हिन्द के सब विद्यार्थी जब विश्वविद्यालय में प्रवेश करें तो स्वाभाविक मातृभाषा से आगे बढ़के राष्ट्र-भाषा—हिन्दी—द्वारा ही शिक्षा प्राप्त करें। वस्तुतः प्राचीन काल में जैसे संस्कृत और पीछे पाली राष्ट्रभाषा थी उसी प्रकार अर्वाचीन काल में हिन्दी है। इस प्रान्त में हिन्दी का ज्ञान मातृभाषा के रूप में होता ही है। लेकिन

जिन प्रान्तों की यह मातृभाषा नहीं है वे भी इसको राष्ट्रभाषा होने के कारण माध्यमिक शिक्षा के क्रम में एक अधिक भाषा के रूप में सीख लें और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा इसी भाषा में प्राप्त करें; यही उचित है। तामिल देश को छोड़कर हिन्दुस्तान की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत प्राकृतादि क्रम से एक ही मूल भाषा या भाषामंडल में से उत्पन्न हुई हैं। अतएव उनमें एक कौटुम्बिक साम्य है। इसलिए अन्य प्रान्तीय भी, अपनी मातृभाषा न होने पर भी, हिन्दी सहज ही में सीख सकते हैं। ज्ञान-द्वार की स्वाभाविकता में इससे कुछ न्यूनता ज़रूर आती है तथापि एक राष्ट्र की सिद्धि के लिए इतनी अल्प अस्वाभाविकता सह लेना आवश्यक है। उत्तम शिक्षा की कक्षा में यह दुष्कर भी नहीं है; क्योंकि मनुष्य की बुद्धि जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे वैसे स्वाभाविकता के पार जाने का सामर्थ्य भी कुछ सीमा तक बढ़ता है।

आधुनिक ज्ञान की उच्च शिक्षा में उपकारक ग्रन्थ हिन्दी में, क्या हिन्दुस्तान की किसी भाषा में, अद्यापि विद्यमान नहीं है—इस प्रकार का आक्षेप करके अँगरेज़ी द्वारा शिक्षा देने की प्रचलित रीति का कितने ही लोग समर्थन करते हैं। किन्तु इस उक्ति का अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट है, क्योंकि जब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा नहीं दी जाती तब तक भाषा के साहित्य का प्रफुल्लित होना असम्भव है और जब तक यथेष्ट साहित्य न मिल सके तब तक देश की भाषा द्वारा शिक्षा देना असम्भव है। इस अन्योन्याश्रय दोषापत्ति का उद्धार तभी हो सकता है जब अपेक्षित साहित्य यथाशक्ति उत्पन्न करके तद्द्वारा शिक्षा का आरम्भ किया जाय। आरम्भ में ज़रूर पुस्तकें छोटी छोटी ही होंगी। लेकिन इन पर अध्यापकों के उक्त-अनुक्त-दुरुक्त आदि विवेचन रूप एवं इष्टपूर्तिरूप वार्तिक, तात्पर्य्यविवरण रूप वृत्ति, भाष्य-टीका, खंडनादि ग्रन्थों के होने से यह साहित्य बढ़ता जायगा और बीच में अहरहः प्रकटित अँगरेज़ी पुस्तकों का उपयोग सर्वथा नहीं छूटेगा। प्रत्युत अच्छी तरह से वह भी साथ-साथ रहकर काम ही करेगा। इस रीति से अपनी भाषा की समृद्धि भी नवीनता और अधिकता प्राप्त करती जायगी।

इस इष्ट दिशा में काशी-विश्वविद्यालय की ओर से जो कार्य करने का आरम्भ किया जाता है वह दानवीर श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला के दिये हुए ५०,००० रुपये का प्रथम फल है। आशा की जाती है कि इस प्रकार और धन भी मिला करेगा और उससे अधिक कार्य भी होगा। इति शिवम्।

अहमदाबाद
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा
वि० सं० १९८७

आनंदशङ्कर बापूभाई ध्रुव
प्रो-वाइस चांसलर, काशी-विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, श्री काशी-विश्वविद्यालय हिन्दी-
ग्रन्थमाला-समिति

लेखक की भूमिका

आधुनिक विज्ञान-युग के पहले 'इतिहास' साहित्य का ही अङ्ग माना जाता था। साहित्य की ही शाखा-प्रशाखाओं में 'इतिहास' की भी गिनती थी। परन्तु आज-कल इतिहास ने साहित्य से नाता तोड़कर वैज्ञानिक स्वरूप धारण कर लिया है। आधुनिक विद्वान् 'वैज्ञानिक आलोचना-शैली से शोधे हुए पूर्व-काल की घटनाओं के क्रमबद्ध ज्ञान' को इतिहास कहते हैं। इतिहास-विज्ञान ने इस युग में बड़ी उन्नति की है। हमारे इतिहास-सम्बन्धी विचार और कल्पनाएँ पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रौढ़, प्रामाणिक और यथार्थ हैं। पहले इतिहासकार इतिहास के मूल ग्रन्थों की समालोचना करना ज़रूरी न समझते थे। उन्हें पुरातत्त्व का कुछ भी ज्ञान न था। वे इतिहास केवल इस प्रयोजन से लिखा करते थे कि उससे लोगों को शिक्षा मिले और उनके जीवन के लिए उसका ज्ञान उपयोगी सिद्ध हो। इतिहास की बातों का पूरा-पूरा अनुसन्धान कर उनका यथातथ्य वर्णन करना उनका उद्देश्य न था। इतिहास की परम्परागत और प्रचलित बातों को ही रोचक और शिक्षाप्रद रूप में लिखकर वे अपने-आपको कृतकृत्य मान बैठते थे। उस युग के इतिहासकार साहित्य के बड़े पण्डित थे। उन्हें इतिहास में आलङ्कारिक वर्णन करने का जितना शौक़ था उतना उसमें तथ्यानुसन्धान और आलोचना करने का न था। इतिहास के पठन-पाठन की रीतियों में जो फेरफार हुए हैं उन पर विचार करने से मालूम होता है कि प्रत्येक युग में विद्वानों ने अपने समय के विचारों और रीतियों के अनुसार इतिहास की व्याख्या की है। कवि, दार्शनिक, सामाजिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तवादियों ने इतिहास का ख़ूब ही उपयोग किया है; किन्तु उनमें किसी ने इतिहास का यथार्थ तत्त्व पूरा-पूरा नहीं समझा। उन्होंने इतिहास के आधार पर तरह-

तरह के अनुमान और सिद्धान्त स्थापित किये और अपने अपने मत के समर्थन के लिए इतिहास की बातों का दृष्टान्त-रूप से बड़ा उपयोग किया। किन्तु इतिहास क्या वस्तु है, उसका क्या लक्षण और प्रयोजन है, उसके जानने की क्या मीमांसा-शैली है, उसमें शोध करने की कहाँ तक आवश्यकता है—आदि प्रश्नों पर उन्होंने गम्भीर विचार नहीं किया। यूनान के इतिहासज्ञ हिरोडोटस (Herodotus) का कथन है कि इतिहासकार एक प्रकार का महाकवि है जिसका उद्देश्य इतिहास के वीर पुरुषों की गुण-गाथाएँ लिखकर लोक का मनोरञ्जन करना मात्र है। दूसरे यूनानी इतिहासज्ञ थ्यूसीडाइडीज़ (Theucidides) ने इतिहास को लोकोपयोगी शिक्षा का साधन बतलाया है। उसने लिखा है कि जो घटनाएँ पहले घट चुकी हैं उनका यथातथ्य ज्ञान हमारे लिए बड़ा शिक्षाप्रद है, क्योंकि वैसी ही घटनाएँ मानव-जाति के जीवन में बार-बार हुआ करती हैं। प्राचीन काल के इतिहासकार महापुरुषों को 'मानव-इतिहास की प्रगति का मूल कारण' मानते थे और इसलिए उनके जीवन की घटनाओं के वर्णन पर विशेष ध्यान दिया करते थे। उनके विचारानुसार इतिहास 'मानव-चरित्र का बृहत् कोष' है; उससे लोक-शिक्षा के लिए उत्तम आदर्श और दृष्टान्त मिलते हैं। मनुष्य के कारनामों के जानने का और उनसे शिक्षा ग्रहण करने का उत्तम साधन इतिहास ही है। इँगलैंड के प्रसिद्ध लेखक मेकॉले और कारलाइल भी इसी सिद्धान्त के अनुयायी थे। वे ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं के सजीव चित्रण में बड़े ही सिद्धहस्त थे। उनके लिखे इतिहास के पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है कि वे मानों हमें एक चित्रशाला में ले जाकर अपनी कला-चातुरी से खींचे हुए चित्रों का परिचय दे रहे हैं जिनके देखते ही उनकी चारुता और चमत्कार पर हमें मुग्ध हो जाना पड़ता है। वे अतीत काल का भव्य दृश्य अपनी प्रभावशालिनी प्रतिभा के रङ्ग में रँगकर हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। वे इतिहास के वर्णन में आलङ्कारिक भाषा का प्रचुर प्रयोग करते हैं। परन्तु आधुनिक इतिहास की वर्णन-शैली स्वच्छ, सीधी और सरल हुआ करती है। इतिहासकार को अपनी कल्पना-शक्ति का पूर्ण नियन्त्रण करना पड़ता है।

इतिहास में स्वच्छन्द विचार करने का अवकाश नहीं होता। बिना शब्दाडम्बर के घटनाओं का यथातथ्य वर्णन करना और प्रमाणपुरःसर बात कहना आज-कल के इतिहास लिखने की परिपाटी है। अतएव, कवि और चित्रकार-सरीखे इतिहासकार यथार्थ इतिहास के अनुसन्धान करने में सर्वथा अशक्त थे। इतिहासकारों की श्रेणी में बकल (Buckle) तथा वॉल्टेयर (Voltaire) दार्शनिक विद्वान् थे। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों के समर्थन के लिए इतिहास का आश्रय लिया और उसके उन्हीं तत्त्वों और घटनाओं को ग्रहण किया जिनसे उनके माने हुए सिद्धान्तों की पुष्टि होती थी। परन्तु उनकी भी इस प्रकार की विचार-शैली दूषित थी। इतिहास में घटनाओं के आधार पर ही कोई अनुमान वा सिद्धान्त स्थापित किया जाना चाहिए, न कि अपने स्वीकृत सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए इतिहास की शरण लेनी चाहिए। अपनी मनमानी कल्पना और तर्कना एक चीज़ है और इतिहास के अनुसन्धान और प्रमाणों द्वारा निश्चित किया हुआ सिद्धान्त दूसरी चीज़ है। इतिहास एक स्वतन्त्र विज्ञान है। उसे दार्शनिक और साहित्यिक सिद्धान्तों से जुदा रखकर उसका अभ्यास करना ही आज-कल की वैज्ञानिक रीति है। उसमें यथार्थ घटनाओं के ढूँढ़ निकालने की बड़ी आवश्यकता है। जिन साधनों से उसका ज्ञान प्राप्त होता है, उनकी आदि से अन्त तक आलोचना करने और उन्हें प्रामाणिक सिद्ध करने में तीव्र तर्क-बुद्धि अपेक्षित हुआ करती है। उसकी खोज और शोध करने के वैज्ञानिक तरीके हैं जिन पर पहले इतिहासकार ज़रा भी ध्यान न देते थे। किन्तु उन्नीसवीं सदी में विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ इतिहास में बड़ा भारी कायापलट हुआ। इतिहास ने उसके शोध और आलोचना करने की शैली बदली। उसके कलेवर की पूर्त्ति के और अनेक नये साधन ढूँढ़ निकाले गये। उसके पढ़ने-लिखने का प्रयोजन कुछ का कुछ हो गया। विज्ञान के व्यापक प्रभाव से मानव-विचार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में विद्वानों को यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करने की प्रबल उत्कण्ठा होने लगी। वे प्रत्येक विषय के अन्वेषण तथा विश्लेषण में लग गये। नये ढङ्ग—नई चाल—से सत्य की खोज शुरू हुई। इतिहास के

क्षेत्र में भी वास्तविक घटनाओं का अनुसन्धान किया जानेलगा। जिन प्रमाणों के आधार पर इतिहास लिखे गये थे उनकी आरम्भ से ही आलोचना की गई। कुछ विद्वान् परम्परागत इतिहास के तथ्यातथ्य के निर्णय करने में लग गये; कुछ नये-नये ऐतिहासिक साधनों का अन्वेषण करने लगे। जहाँ उन्हें जो-जो प्राचीन चिह्न वा भग्नावशेष मिले वहाँ उनका संग्रह कर उन्होंने इतिहास में उनका उपयोग करना आरम्भ कर दिया। साहित्य से अपना पिण्ड छुड़ाकर इतिहास अब विज्ञान के विषयों में आकर शामिल हो गया। सत्य एवं विशुद्ध ज्ञान की खोज में तन्मय होकर इतिहासकार वैज्ञानिक अतीत काल का यथार्थ चित्र अङ्कित करने में लग गये। उन्होंने इतिहास को विषयान्तरों से बिल्कुल जुदा कर लिया। सत्य और यथातथ्यता को उन्होंने अपनी ऐतिहासिक गवेषणा का एकमात्र आदर्श बना लिया। इतिहास में पुराने समय से ऐतिहासिक पुरुषों और घटनाओं के विषय में जो भावनाएँ प्रचलित थीं वे उन्हें बिना बड़ी समालोचना के मानने को तैयार न हुए। बड़ी सावधानता से उन्होंने इतिहास के अनुमान-प्रमाणों की परीक्षा आरम्भ की। वे पुराने लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की प्रामाणिकता पर सन्देह करने लगे और उनके विचारों को पक्षपातग्रस्त समझकर उनका अनादर भी करने लगे। जिन बातों पर परम्परा से लोगों की श्रद्धा जम रही थी, जिनका वे सदा से आदर करते चले आते थे, उनका उन्होंने खण्डन कर दिया। इतिहास की प्रमाण-शून्य बातों और विचारों की उन्होंने जड़ ही काट दी। उनका एकमात्र ध्येय था 'सत्य की खोज'। अतएव पुराने इतिहासकारों की समालोचना करने में उन्हें बहुत-सी बातों का खण्डन करना ही पड़ा। परन्तु पहले के इतिहासकारों का निरन्तर खण्डन करते ही रहना उनका अभीष्ट न था। वे इतिहास के मण्डन-कार्य में भी तुरन्त ही प्रवृत्त हुए। नवीन इतिहासकारों ने पुराने लेखकों की बातों का पिष्टपेषण करना छोड़ दिया और इतिहास के मूल ग्रन्थों और अन्य साधनों के आलोचन तथा अनुशीलन में वे तत्पर हो गये। इतिहास के समस्त विषय की आदि से छानबीन कर उसका फिर से निर्माण करना उन्होंने परम आवश्यक समझा। इस प्रकार इतिहास के

मौलिक आधारों की खोज शुरू हुई। इतिहास की खोज करनेवालों ने भिन्न-भिन्न जातियों के प्राचीन ग्रन्थ-भण्डारों से अपने विषय की सामग्री जुटाना शुरू कर दिया। इतिहास के पुनर्निर्माण के निमित्त उन्हें बहुत-सी अन्य विद्याओं की सहायता लेनी पड़ी। शब्द-विज्ञान, प्राचीन लिपितत्त्व, मानव-विज्ञान, पुरातत्त्व, मुद्रातत्त्व आदि विज्ञान भी इतिहास के उद्धार करने में उपयोगी सिद्ध होने लगे। इन समस्त विषयों से ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करने के लिए विद्वानों ने परस्पर हाथ बँटा लिया और अपने-अपने विषयों में विशेषज्ञ होकर उन्होंने इतिहास की बहुत सी ज्ञातव्य बातें उनसे शोधकर निकालीं। खोज करने की नई शैलियाँ और नये मार्ग उन्होंने दिखलाये और इतिहास-विज्ञान की अधिकार-सीमाएँ बहुत विस्तृत कर दीं। वैज्ञानिक आविष्कारों के इस युग में इतिहास का भी कलेवर नई खोज की हुई बातों से भरा जाने लगा। इतिहास की खोज में वैज्ञानिक पद्धति और तरीके किस प्रकार काम में लाये गये, इस बात के समझने के लिए हम यहाँ उदाहरण-रूप प्राचीन इतिहास के साधनों पर कुछ विचार करना चाहते हैं। प्राचीन साहित्य के ग्रन्थों से इतिहासकार को इतिहास की बातें श्रम से खोज कर उद्धृत करनी पड़ती हैं। जितना अधिक से अधिक प्राचीन इतिहास-क्षेत्र में वह उतरता है उतनी ही थोड़ी साहित्यिक सामग्री उसे उपलब्ध होती है। उसे प्राचीन इतिहास के बहुत ही कम लिखित ग्रन्थ मिलते हैं। इसलिए वह सिक्कों, शिलालेखों और पुराने भग्नावशेषों की खोज करने में लग जाता है; क्योंकि ये चीजें इतिहास पर बहुत प्रकाश डालती हैं। प्राचीन सिक्कों, शिला और ताम्रपत्र पर खुदे लेखों और पुराने समय के तरह-तरह के स्मृति-चिह्नों को खोज-खोजकर आज-कल के विद्वानों ने बहुत-कुछ इतिहास का पता लगाया है। प्राचीन भारत के इतिहास के पुनरुद्धार में पुरातत्त्व-विज्ञान बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। यदि प्राचीन सिक्के और उत्कीर्ण लेख हमें प्राप्त न होते तो हमारे इतिहास के बहुत से स्थल सदा ही शून्य रहते। महाप्रतापी मौर्य्य और गुप्त नरेशों का हाल कौन जानता था? महात्मा बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ दिन पहले पाश्चात्य

विद्वान् सन्देह प्रकट कर चुके थे। पाली-ग्रन्थों में, बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी आख्यानों में, कथा और कल्पना की अत्यधिक मात्रा थी। इस कारण वे उन पर विश्वास न कर सके। किन्तु हम पुरातत्त्व-विज्ञान के अत्यन्त ऋणी हैं जिसके कारण हमें ऐसे अत्यन्त प्राचीन स्मृति-चिह्न मिले हैं जो बुद्धदेव के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं पर प्रकाश डालते हैं। जिन प्रतापी राजाओं का नाम-निशान भी हमारी ग्रन्थ-राशि में नहीं है, उनका इतिहास उनके समय के लिखे या खुदे पत्थर वा ताम्रपत्र पर अङ्कित प्रशस्तियों और चरितों से प्रकट हुआ है। शिलालेखों और दानपत्रों से इतिहास-ज्ञान आविष्कृत करना पुरातत्त्वज्ञों के श्लाघ्य परिश्रम का फल है। प्राचीन लिपियों में खुदे हुए उन लेखों के प्रत्येक अक्षर को खोजकर पढ़ना उन विद्वानों की असाधारण प्रतिभा, परिश्रम और अध्यवसाय का उदाहरण है। भारत की प्राचीन लिपियों के पढ़नेवाले विद्वानों में अग्रगण्य जेम्स प्रिंसेप महोदय थे। उन्होंने बड़े प्रयत्न से ब्राह्मी और खरोष्ठी नामक प्राचीन भारतीय लिपियों की पूरी-पूरी वर्णमालाएँ तैयार की थीं। कुछ इंडो-ग्रीक राजाओं से उन्हें ऐसे सिक्के मिले थे जिनके एक ओर तो भारतीय लिपि के अक्षर थे और दूसरी ओर वही बात ग्रीक भाषा और ग्रीक लिपि में लिखी थी। बस इतने से ही उन्होंने धीरे-धीरे ब्राह्मी और खरोष्ठी के सारे वर्ण निकाल लिये; क्योंकि वे ग्रीक लिपि से पहले ही से परिचित थे। प्राचीन लिपियों की शोध के साथ-साथ पुराने शिलालेख, ताम्रलेख तथा मुद्रालेख सरल रीति से पढ़े जाने लगे। उनसे भारत के प्राचीन इतिहास की अपूर्व बातें विदित हुईं जिनका पता संस्कृत के विशाल साहित्य में कहीं भी ढूँढ़े नहीं मिलता। डाक्टर फ्लीट ने लिखा है कि शिलालेख और ताम्रलेखों के देखते हुए हमें ज्ञात होता है कि प्राचीन हिन्दुओं में इतिहास लिखने की क्षमता और योग्यता थी। पौराणिक और काव्यशैलियों से इन लेखों की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इनकी परम्परा और शैली दस्तावेज़ी है। पूरा नाम-धाम, वंशवृत्त, स्थान, मिति, संवत् देते हुए ये लेख अपना प्रयोजन विदित करते हैं। हमारे प्राचीन इतिहास के निर्माण के लिए सबसे अधिक उपयोगी तो शिलालेख और

ताम्रलेख ही हैं जो उस समय के इतिहास, देशस्थिति, लोगों के आचार-व्यवहार, धर्म-सम्बन्धी विचार आदि विषयों पर बहुत-कुछ प्रकाश डालते हैं। प्राचीन सिक्के इतिहास के ज्ञान के लिए कुछ कम महत्त्व के नहीं हैं। प्राचीन मुद्रातत्त्व लुप्त इतिहास के उद्धार करने का एक आवश्यक साधन है। भारत में यवन, शक, पह्लव आदि विदेशी राजाओं की सत्ता पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बहुत काल तक रही, इसका पता उनके चलाये हुए सिक्कों पर खुदे लेखों से ही लगा है। काबुल और पञ्जाब पर राज्य करनेवाले यूनानी राजाओं के सिक्कों पर एक तरफ़ राजा का चेहरा, उसका नाम और खिताब रहता है और दूसरी ओर किसी आराध्य देवी-देवता का चित्र। इन राजाओं की नामावली सिक्कों से ही मिली है। इन सिक्कों पर संवत् न रहने से उक्त यवन राजाओं का ठीक-ठीक काल निश्चित करना कठिन है, तो भी हमारी इतिहास-शृंखला की खोई हुई कड़ियों के एकत्र करने में ये सिक्के बहुत बड़े सहायक हैं। संस्कृत विरुदों से अङ्कित गुप्त-कालीन सोने के सिक्कों का सौन्दर्य्य और वैचित्र्य देखने योग्य है। उन पर कहीं राजा-रानी की मूर्त्ति अङ्कित है, कहीं अश्वमेध का घोड़ा। किसी मुद्रा पर शिकार खेलता हुआ राजा है, किसी पर वीणा बजाता हुआ। ऐसी मुद्राओं के आकार-प्रकार और उनके सोने की शुद्धता आदि देखकर मुद्राशास्त्रज्ञ अनुमान करते हैं कि गुप्त-काल में भारतवर्ष बहुत धन-धान्य-सम्पन्न था। इसी प्रकार, प्राचीन नगरों के खँडहरों में इमारतों, मन्दिरों और विहारों के भग्नावशेष, सुन्दर मूर्त्तियाँ और शिल्प के नमूने पुरातत्त्वज्ञों ने खोज-खोजकर एकत्र किये हैं जो इस देश की शानदार सभ्यता और कला-कौशल का हमें प्रत्यक्ष परिचय देते हैं। शिल्प, वास्तु और चित्रण-कलाओं में भारत ने समय-समय पर जो आश्चर्यजनक उन्नति की थी उसका सिलसिलेवार इतिहास पुरातत्त्वानुसन्धान से ही उपलब्ध हुआ है। शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के आदि पुरातत्त्व-सम्बन्धी साधनों के अतिरिक्त हमें अधिकांश इतिहास का ज्ञान प्राचीन लिखित ग्रन्थों से मिलता है। परन्तु उन ग्रन्थों के अभ्यास में भी हमें बहुत-कुछ शोध और समालोचन करने की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे हम उन लिखित ग्रन्थों से इतिहास की

सामग्री सङ्कलित करते हैं वैसे-वैसे हमें विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। प्रारम्भ में ही पुराने ग्रन्थों के विषय में—वे कब लिखे गये, उनके रचयिता कौन थे, वे कहाँ तक प्रामाणिक हैं इत्यादि प्रश्नों पर—हमें ख़ूब बहस करनी पड़ती है। यदि किसी ग्रन्थ का काल निश्चित न हो तो वह इतिहास के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। अतएव इतिहास के लिए प्राचीन ग्रन्थों के रचना-काल का अनुसन्धान करना बहुत आवश्यक है। किसी पुराने ग्रन्थ के काल-निर्णय के लिए बहिरङ्ग प्रमाण न मिलने पर हमें उस ग्रन्थ की अन्तरङ्ग परीक्षा द्वारा उसका रचना-काल निश्चित करना पड़ता है। जिस भाषा-शैली में वह लिखा गया है, जिन विचारों का उसमें समावेश है, जिस ज्ञात समय के इतिहास वा देश-स्थिति पर वह प्रकाश डालता है, उन सब बातों पर विचार करने से उसके रचना-काल का बहुत-कुछ अनुमान किया जा सकता है। जिन ग्रन्थों का समय बिलकुल अज्ञात है उनके रचना-काल का निर्णय करना अत्यन्त श्रम का कार्य है। उनकी शैली और विषय की सूक्ष्म परीक्षा और विश्लेषण कर, उस देश के भिन्न-भिन्न युगों के साहित्य से उनकी तुलना कर, हमें यह सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण और युक्तियाँ एकत्र करनी पड़ती हैं कि वे ग्रन्थ अमुक देश की साहित्यिक विकास-शृङ्खला में, अमुक समय के आस-पास, रचे गये होंगे। उन ग्रन्थों के उल्लेख कहाँ-कहाँ किन प्राचीन लेखकों ने किये हैं, इसका भी अनुसन्धान करना उनके काल-निर्णय के लिए आवश्यक होता है। किसी ग्रन्थ के रचना-काल के निश्चित हो जाने पर हमें फिर उसकी प्रामाणिकता पर विचार करना पड़ता है। यह भली भाँति विदित है कि प्राचीन ग्रन्थों में समय-समय पर बड़े फेरफार हुए हैं, उनमें क्षेपक जोड़ दिये गये हैं और उनके मूल संस्करण में तरह-तरह के संशोधन और परिवर्त्तन कर दिये गये हैं। उनका इतिहास में उपयोग करने के पहले हमें यह देख लेना पड़ता है कि उनका मूल पाठ शुद्ध है वा नहीं। यदि सारे ग्रन्थ की भाषा-शैली एक सी है, यदि उसकी युक्ति-परम्परा में किसी प्रकार का असामञ्जस्य नहीं देख पड़ता, यदि उसके विचार-क्रम में विरोध नहीं मालूम होता, तो हम उस ग्रन्थ को प्रामाणिक मान लेते हैं

और उसे एक ही विद्वान् की विशुद्ध कृति समझते हैं। मूल ग्रन्थ ही इतिहास का उपयोगी साधन हो सकता है। उसके वर्तमान संस्करण से प्रक्षिप्त अंश जब तक निकाल नहीं दिये जाते तब तक वह इतिहास के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। प्राचीन ग्रन्थों के मूल अंश को खोजकर निकालना और उनकी रचना का समय और स्थल निश्चित करना इतिहास-ज्ञान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मूल ग्रन्थ प्राप्त कर लेने पर भी हमारे आलोचनात्मक शोध का अन्त नहीं होता। हमें उस ग्रन्थ की व्याख्या करने में भी आलोचना-शैली का अवलम्बन करना पड़ता है। समय-समय पर विद्वानों ने अपने विचारानुसार पुराने ग्रन्थों की मनमानी व्याख्याएँ की हैं। जिस देश-काल की परिस्थिति में जो ग्रन्थ लिखा गया है उसका तात्पर्य-निर्णय उस समय की ही भाषा, आचार और विचार के अनुसार करना उचित है। उन ग्रन्थों के बड़े-बड़े भाष्यकार और टीकाकार भी हमारी दृष्टि में श्रद्धास्पद न होते यदि वे ऐतिहासिक विचार-शैली से उनकी व्याख्या न करते। शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं। मनुष्य के विचारों में विकास होता रहता है। हमारे जीवन की परिस्थितियाँ परिवर्त्तनशील हैं। अतएव, साहित्य की व्याख्या में नूतन और पुरातन विचारों का संमिश्रण करने से हमें भिन्न-भिन्न काल का यथातथ्य ज्ञान नहीं हो सकता। प्राचीन मूल ग्रन्थ का अर्थ करते समय हमें उसमें अपने नवीन विचारों और संस्कारों के सन्निविष्ट करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति बिलकुल छोड़ देनी चाहिए। हमें यथार्थ इतिहास का पता ही नहीं लग सकता यदि हम प्राचीन लेखकों से उन बातों के कहला लेने का यत्न करें जो वे कदापि कहना नहीं चाहते थे। भिन्न-भिन्न युगों में बहुत से शब्दों के अर्थ बदल जाया करते हैं। काल-क्रमानुसार नये-नये विचारों का उनमें समावेश होता रहता है। उनका तात्पर्य गम्भीर होता चला जाता है। अतएव प्राचीन ग्रन्थ की व्याख्या करने में शब्दों के ठीक-ठीक अर्थ का पता लगाना अत्यन्त आवश्यक है। इतिहास-विज्ञान के लिए शब्दों की यथार्थ व्याख्या करना बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य है। शब्द का अशुद्ध अर्थ इतिहास में भारी भूल का कारण बन सकता है। मूल ग्रन्थ के प्रति-

पादित विषय में भी अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं। अतएव, जिन घटनाओं का अमुक लेखक ने वर्णन किया है, क्या वह उनका समकालीन था—क्या उसने उन्हें स्वयं देखा था—क्या उसने उनका यथोचित वर्णन किया है इत्यादि प्रश्नों की हमें तर्क-वितर्क-पूर्वक मीमांसा करनी पड़ती है। लेखक के विवरणों में हम उसकी सचाई को कसौटी पर कसकर देखते हैं। उसके चरित्र को, उसके पूर्व वृत्त और मनोवृत्तियों को हमें भली भाँति परखना पड़ता है। इतिहास के अनेक पृष्ठों पर पुराने लेखकों के नैतिक और मानसिक दोष स्पष्ट झलकते हैं। लार्ड ऐक्टन का कथन है कि इतिहासकार को गवाह की भाँति मानना चाहिए और जब तक उसकी सचाई का सबूत न मिल जाय तब तक उसका विश्वास न करना चाहिए। हमें उसकी बातों पर बराबर शङ्का करते रहना चाहिए। जब उसके कथन सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध हों तभी हम उसे इतिहास में आप्त वाक्य कह सकते हैं। उसकी प्रामाणिकता के विषय में हमें कई प्रश्न करने पड़ते हैं। उसने कहाँ से और कैसे बातें मालूम कीं? क्या उसने घटनाओं का बिना घटाये-बढ़ाये ठीक-ठीक निरूपण किया है? क्या उसमें बातों और मनुष्यों के ठीक निरीक्षण करने की शक्ति थी? इन प्रश्नों के सन्तोषजनक उत्तर से ही उसके कथन श्रद्धास्पद कहे जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। आलोचनशील इतिहास-प्रेमी का परम कर्त्तव्य है कि वह इतिहास के साधनों को पक्के प्रमाणों की कसौटी पर कसकर उन्हें अपनाये। इस प्रकार प्राचीन ग्रन्थों के आलोचनात्मक विवेचन से हमें बहुत सी जुदी-जुदी घटनाओं का पता चलता है। उन असम्बद्ध घटनाओं का पता चलने के बाद हमें उन्हें कार्य-कारण के सूत्र में संग्रथित करने की आवश्यकता होती है। उन घटनाओं को शृङ्खलाबद्ध विज्ञान के रूप में परिणत करने के लिए उनका आपस का सम्बन्ध और उनके नियामक सिद्धान्तों का अन्वेषण करना पड़ता है। इतिहास की घटनाओं को जब तक कार्य-कारण के महानियम में ओत-प्रोत नहीं कर लेते तब तक उनकी प्रगति तथा प्रयोजन हमें समझ नहीं पड़ता। घटना-क्रम के निरूपण के लिए हमें एक सिद्धान्त निश्चित करना पड़ता है। घटनाओं का विकास-क्रम समझना चाहिए

क्योंकि उनमें पूर्व-सम्बन्ध रहता है। अतएव इतिहास की बातों में कार्य-कारण का ढूँढ़ निकालना प्रगल्भ बुद्धि का काम है। इतिहास की घटनाओं को शोधकर हमें उन्हें एकत्र कर समष्टि-रूप में उनका निरूपण करना पड़ता है। यदि कोई इतिहासवेत्ता यह कहे कि मैं घर खोद सकता हूँ; किन्तु बना नहीं सकता—'अशक्तोऽहं गृहारम्भे शक्तोऽहं गृहभञ्जने' तो मानना पड़ेगा कि वह अपना पूर्ण कर्तव्य नहीं समझता। इतिहास के तत्त्वों को जुदा-जुदा करने के पश्चात् उनकी परस्पर सङ्गति मिलाकर हमें इतिहास का निर्माण करना चाहिए। उसकी घटनाओं को शृङ्खलाबद्ध करना आवश्यक है। अन्यथा इतिहास घटनाओं का जगड्‌वाल हो जाता है। उसमें हमें अविच्छिन्न विकास-क्रम नहीं देख पड़ता। उसका ज्ञान हमारी स्मरण-शक्ति के लिए भार-रूप हो जाता है। उसके अभ्यास से हमारी बुद्धि में प्रकाश नहीं होता। तभी प्रत्येक घटना का अर्थ विशद होता है, जब हम अन्य घटनाओं के साथ उसका सम्बन्ध देख पाते हैं और उन सारी घटनाओं को एक व्यापक नियम में ओतप्रोत कर लेते हैं। प्रत्येक युग की घटना-समष्टि को ध्यान में रखने से हम उस युग के विकास-क्रम और प्रगति को समझ पाते हैं।

लार्ड ऐक्टन के मतानुसार इतिहास की बातों के पढ़ने और रटने की अपेक्षा ऐतिहासिक शैली से विचार करने की शक्ति प्राप्त करना उत्तम पक्ष है। इस विचार-शक्ति के द्वारा इतिहास की परिवर्त्तन-परम्परा तथा उसके बड़े-बड़े आन्दोलनों का रहस्य सरलता से समझ में आ जाता है। ऐतिहासिक रीति से विचार करते समय हमें केवल सत्य के ही पक्ष में रहना चाहिए। अपने पुराने संस्कार और भावनाओं के अनुसार इतिहास की व्याख्या करना मानों सत्य का गला घोंटना है। इतिहास के तत्त्वानुसन्धान में हमारी दृष्टि राग-द्वेष-शून्य होनी चाहिए। किसी पक्ष वा मत के समर्थन में इतिहास का उपयोग करना अशुद्ध पद्धति है। हमारे धार्मिक वा जातीय पक्षपात हमें सत्य का साक्षात्कार नहीं होने देते। इतिहास के जिज्ञासुओं में सत्य का अनुराग, देश और धर्म की भक्ति से भी अधिक, दृढ़ और गम्भीर होना चाहिए। उनमें तत्त्वजिज्ञासा की निष्काम और निर्विकार मनोवृत्ति होनी चाहिए।

धर्मान्ध, कट्टर, हठी और दुराग्रही मनुष्य ऐतिहासिक सत्य का कदापि अनुसन्धान नहीं कर सकता। 'सत्यमेव जयते नानृतम्—सच की ही जीत होती है, झूठ की नहीं'—उपनिषद् के इस महावाक्य पर इतिहास-प्रेमी का सदा ध्यान रहना चाहिए। 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्—सत्य से कभी प्रमाद न करना चाहिए'—जिसने अपना यह ध्येय बना लिया है वही सच्चा इतिहासवेत्ता कहलाने का अधिकारी है।

हम पहले कह चुके हैं कि इतिहास का आलोचन वैज्ञानिक रीति से होना चाहिए और उसकी खोज में सत्य और यथार्थता पर हमारा पूर्ण लक्ष्य रहना चाहिए। किन्तु जब हम आधुनिक वैज्ञानिक इतिहासकारों के गुण-दोषों की परीक्षा करने लगते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि यद्यपि वे ऐतिहासिक साधनों की गवेषणा और समालोचना करने में बड़े प्रवीण और प्रामाणिक हैं तथापि उनमें दार्शनिक दृष्टि की, प्रतिभा की ज्योति की तथा ऊँचे और गम्भीर विचारों की कमी देखने में आती है। वे अपने ग्रन्थों में इतिहास की घटनाओं का शुष्क और नीरस वर्णन करते हैं किन्तु वे उसके आन्तरिक मर्म और तात्पर्य को नहीं समझा पाते। उनमें विचार और कल्पना-शक्ति की कमी होती है। वे इतिहास को बीती बातों का अस्थि-कङ्काल बना डालते हैं। वे उसके जीते-जागते स्वरूप को, उसके धारावाहिक जीवन को, समझ नहीं सकते। वे कोरे विशेषज्ञ हुआ करते हैं, जो इतिहास के किसी एक ही विषय की आलोचना और चर्चा में अपना समस्त बुद्धि-बल लगा देते हैं। वे बाल की खाल खींचने में बड़े पटु होते हैं। इस कारण वे इतिहास के तात्पर्य को व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देख पाते और न वे बड़े ऐतिहासिक आन्दोलनों की शक्ति और रहस्य ही समझ पाते हैं। इतना तो स्वीकार करने के लिए हम तैयार हैं कि इतिहास के क्षेत्र में हमें वैज्ञानिक नियमों और रीतियों के द्वारा खोज करनी चाहिए; किन्तु इतिहास के तत्त्वों की खोज और संग्रह करने के पश्चात् हमें उनका सङ्कलन और निरूपण उन कला-चतुर विद्वानों की भाँति करना चाहिए जो उसके सजीव और विशद रूप का वर्णन कर सकते हैं। ऐसे लेखक इतिहास का सजीव चित्र खींचकर हमारे

सामने उपस्थित कर देते हैं। इतिहास का जितना सम्बन्ध विज्ञान से है उतना ही कला से भी। इतिहास बीती हुई बातों का अजायबघर नहीं है। उसका हमारे वर्त्तमान जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतएव अपने जीवन की वर्त्तमान और अतीत दशा की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिए हमें इतिहास का, साहित्य और कला की भाँति, अध्ययन करना चाहिए। कला-चतुर इतिहासकार अपनी कल्पना-शक्ति की ज्योति फैलाकर अतीत काल के दृश्य को सजीव बना देता है। वह अतीत युग को उसके जीते-जागते रूप में प्रकट कर देता है। वह बीते समय की सजीव मूर्त्ति तथा उसके रूप और प्रवृत्ति को प्रत्यक्ष दरसा देता है। इसी लिए वाइकाउंट हालडेन (Viscount Haldane) ने बहुत ही ठीक कहा है कि इतिहासकार को फोटोग्राफर नहीं, किन्तु चित्रकार के सदृश होना चाहिए। चित्रकार वस्तु के तात्कालिक रूप को अङ्कित नहीं करता; यह तो फोटो उतारनेवाले का काम है। वस्तु के समष्टि-रूप को, उसके पूरे-पूरे तात्पर्य को, व्यक्त करना उत्तम कला का लक्षण है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का विवरण मात्र दे देना तो साधारण सी बात है। इसमें किसी हुनर की ज़रूरत नहीं। वस्तु के आन्तरिक अर्थ को खोलकर दिखा देना चित्रकार की कारीगरी है। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओं की प्रगति को, उनके उत्तरोत्तर विकास-क्रम को तथा उनके समस्त तात्पर्य को सुव्यक्त कर देना ही उत्तम इतिहासकार की करामात है। इतिहास की ठठरियों को—गड़े मुर्दों को—खोद-खोदकर निकालने से उसे सन्तोष नहीं होता, किन्तु वह उसकी अन्तःशक्ति और जीवन-स्रोत को खोलकर दिखा देना अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

इतिहास की वैज्ञानिक आलोचना से उसमें बहुत सी यथार्थ बातों का समावेश हुआ है और हो रहा है। इतिहास का कलेवर, शोधकर निकाली हुई वास्तविक घटनाओं से, भरा जा रहा है। हमारा इतिहास-विषयक ज्ञान जितना यथार्थ, पूर्ण और प्रगाढ़ है उतना पहले के लोगों का न था। कला की दृष्टि से इतिहास का अनुशीलन करने से हमें उसका तात्पर्य अत्यन्त सजीव और विशद रूप से समझने का सौभाग्य मिला है। इसमें

तो सन्देह नहीं कि इतिहास का परिशीलन हमारे मानसिक विकास का बहुत बड़ा साधन है। वस्तुतः इस युग के मानसिक जीवन पर ऐतिहासिक विचार-शैली का गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी भी विषय की चर्चा क्यों न हो, उसका निरूपण तद्विषयक इतिहास की सहायता के बिना हो ही नहीं सकता। अर्थशास्त्र, राजनीति, व्यवहार, समाज-विज्ञान इत्यादि सभी विषय आज-कल इतिहास के रूप में परिणत हो गये हैं। आज-कल ऐतिहासिक दृष्टि से ही सभी विद्याओं का विवेचन और आलोचन किया जाता है। जैसे-जैसे अमुक शास्त्र वा विज्ञान की शाखा पल्लवित और उन्नत हुई है, उसके आद्योपान्त विकास-क्रम को पूर्ण रूप से समझ लेने पर ही उस विषय का ठीक-ठीक परिज्ञान होता है। प्रत्येक शास्त्र का श्रीगणेश उसके इतिहास से ही किया जाता है। मनुष्य ने अमुक विज्ञान-क्षेत्र में आज तक कितना ज्ञान सम्पादित किया है, उसका पूरा-पूरा विवरण प्रत्येक वैज्ञानिक ग्रन्थ के आरम्भ में दिया जाता है। अमुक विज्ञान का उपक्रम कब और कैसे हुआ, उसके विकास-क्रम में कौन से नये-नये आविष्कार हुए और उसकी वर्त्तमान समस्याएँ—जिन्हें हल करना आवश्यक है—क्या हैं, इत्यादि इतिहासात्मक प्रश्नों का विवेचन करने की परिपाटी प्रत्येक विषय के ग्रन्थों में चल पड़ी है। यूनानी विद्वान् अरस्तू का कथन बहुत सारगर्भ है कि जो मनुष्य किसी विषय के पूर्वापर विकास-क्रम पर विचार करता है—चाहे वह राष्ट्र हो अथवा विषयान्तर, वही उस विषय का पूर्ण और विशद ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वास्तव में ज्ञान की कोई भी शाखा, बिना उसका इतिहास जाने, ठीक-ठीक समझ में नहीं आ सकती। दृष्टान्त के लिए धर्म-विज्ञान ही को लीजिए। उसके सीखने का सबसे अच्छा साधन उसके इतिहास का अध्ययन ही है। मनुष्य के धार्मिक विचारों में किन-किन कारणों के हेरफेर हुए, उनके संशोधन करने में समय-समय पर होनेवाले आचार्यों और सन्त-साधुओं ने किन-किन सिद्धान्तों का प्रचार किया, उनका सर्व-साधारण पर कितना और कहाँ तक प्रभाव पड़ा, उनके धर्मोपदेश का कितना अंश मौलिक और कितना प्राक्तन था, इत्यादि प्रश्नों पर विचार करने से किसी भी देश के धर्म का यथातथ्य रूप हमें भली

भाँति अवगत हो जाता है। इतिहासकार किसी भी जाति के धर्म-ग्रन्थों को अपौरुषेय वा ईश्वरकृत नहीं मान सकता, क्योंकि वे मनुष्य की उन बोलियों में लिखे हुए हैं जिनका धीरे-धीरे इतिहास में विकास हुआ है। उनका, उनके देश-काल की परिस्थिति से, घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, उन पर देश-काल का पूर्ण प्रतिबिम्ब झलकता है। आधुनिक दर्शन-शास्त्र की भी आलोचना ऐतिहासिक विचार-शैली द्वारा की जाती है। अब इसमें भी विद्वानों को स्वच्छन्द विचार करने का अवकाश न रहा। तत्त्वान्वेषण करते हुए मनुष्य के मस्तिष्क से जो-जो विचार क्रमशः निकल चुके हैं उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते हुए हमें वर्त्तमान दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा में प्रवृत्त होना चाहिए। आज-कल के दर्शनों में नूतन और पुरातन सिद्धान्तों की तुलनात्मक आलोचना से जो नये विचार सूझते हैं वे ही विद्वानों को सर्वथा उपादेय मालूम होते हैं। पुराने दार्शनिकों के मनोराज्य—उनकी मनगढ़न्त बातें और निरी निराधार कल्पनाएँ उन्हें दुर्गम और दुरूह प्रतीत होती हैं। सारांश यह कि कोई भी विषय क्यों न हो, उसके पूरे-पूरे इतिहास से परिचित होना उस विषय की कठिनाइयों के समझने और सुलझाने का साधन है। महाकवि शेक्सपीयर ने लिखा है कि मनुष्य मननशील प्राणी है और वह पूर्वापर विचार करने की सूक्ष्म शक्ति से सम्पन्न है। किन्तु, यदि उसमें ऐतिहासिक बुद्धि (Historical sense) न हो, यदि उसमें पहली बीती बातों पर विचार करने की क्षमता न हो, तो वह कैसे आगे की बातों को सोच सकता है और कैसे जीवन की कठिन समस्याओं को हल कर सकता है। जैसा स्मरण-शक्ति का हमारी विचार-शक्ति से सम्बन्ध है, वैसा ही इतिहास का हमारी विद्या और विज्ञान से है। मानव-जाति ने अपने इतिहास-काल में जिस ज्ञान-निधि का संग्रह किया है उसी के आधार पर मानव-विज्ञान की उन्नति हुई और हो सकती है। यदि मनुष्य की धारणा-शक्ति नष्ट हो जाय, जिसमें उसके पूर्वोपार्जित अनुभव निहित रहते हैं, तो उसके ज्ञान-नेत्र ही मुँद जाते हैं—उसकी विचार-शक्ति ही जाती रहती है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य इतिहास के ज्ञान को भूल जाता है तो वह भिन्न-भिन्न

रूप के ऐतिहासिक अनुभवों के ज्ञान से वञ्चित रहता है और अपने जीवन की जटिल समस्याओं को ठीक-ठीक समझने में असमर्थ होता है।

वास्तव में इतिहास मानव-जाति का ज्ञान-कोष है। हमारी विद्याओं में इसका सबसे ऊँचा स्थान है। यह समस्त विद्याओं और शास्त्रों का दीपक है, सब कर्मों का उपाय है, और सब धर्मों का आधार है—

'प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्म्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता॥'—कौटिल्य-अर्थशास्त्र।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय
श्रावण संवत् १९९०

गङ्गाप्रसाद मेहता

विषय-सूची

विषय			पृष्ठ

नवाँ परिच्छेद

दसवाँ परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

बारहवाँ परिच्छेद

तेरहवाँ परिच्छेद

चौदहवाँ परिच्छेद

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

सोलहवाँ परिच्छेद

सत्रहवाँ परिच्छेद

अठारहवाँ परिच्छेद

उन्नीसवाँ परिच्छेद

प्राचीन भारत

पहला परिच्छेद

देश की प्राकृतिक स्थिति

भारत के इतिहास पर उसकी प्राकृतिक स्थिति का प्रभाव— किसी देश के इतिहास को पूर्ण रीति से समझने के लिए उस देश की प्राकृतिक स्थिति का जानना परम आवश्यक है। भौगोलिक परिस्थिति का भारतवर्ष के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतवर्ष एक बहुत विशाल देश है, जो विस्तार में रूस को छोड़कर शेष यूरोप के महाद्वीप के बराबर है। इसके उत्तर, उत्तर-पूर्व और उत्तर-पश्चिम में गगन-चुम्बी हिमालय की पर्वत-श्रेणियाँ, सन्तरी के समान, खड़ी हैं। और-और दिशाओं में यह देश समुद्र से आवेष्टित है। हिमालय से कन्याकुमारी तक और बलोचिस्तान से ब्रह्मा तक फैला हुआ यह सारा महाद्वीप एक ही देश है और इसलिए एक ही नाम से पुकारा जाता है। प्राकृतिक सीमाओं से सुरक्षित होने के कारण यह समस्त देश दूसरे देशों से पृथक् रहा है। अतएव, भौगोलिक दृष्टि से, भारतवर्ष पृथ्वी-मण्डल का एक अखण्ड प्रदेश कहलाता है। उसके भिन्न-भिन्न प्रदेश एक ही अङ्ग के अवयव हैं। जो देश ३४०० मील के लगभग समुद्र-तट से घिरा हुआ है, जिसके उत्तर में १६०० मील लम्बी दुर्भेद्य पर्वत-मालाएँ स्थित हैं और जिसमें लगभग तीस करोड़ की आबादी है उसका इतिहास अवश्य बहुत लम्बा और जटिल होना चाहिए।

चार प्राकृतिक खण्ड—उन्नीसवीं सदी के रेल-तार के वैज्ञानिक आविष्कारों के पूर्व-युग का भारतवर्ष चार प्राकृतिक खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। पहला विभाग '**हिमालय-प्रदेश**' है, जिसमें काश्मीर, नेपाल, भूटान आदि पहाड़ी प्रान्त हैं। दूसरा विभाग उत्तर की विस्तीर्ण समतल भूमि अथवा '**आर्यावर्त**' कहलाता है।* यह प्रदेश हिमालय से विन्ध्याचल तक और गंगासागर से सिन्धु तक फैला हुआ है। तीसरा विभाग '**दक्षिणापथ**' कहलाता है। यह नर्मदा के दक्षिण में और कृष्णा तथा तुङ्गभद्रा के उत्तर में फैला हुआ है। चौथा विभाग दक्षिण का '**द्रविड़ देश**' है। यह देश घाटों के नीचे समुद्र-तट तक फैला हुआ है।

आर्यावर्त—भारत के उपर्युक्त प्राकृतिक विभागों में आर्यावर्त ही बड़े-बड़े साम्राज्यों का केन्द्र रहा है। जगत् को चमत्कृत करनेवाली महान् घटनाएँ इसी देश में घटी थीं। सिन्धु और गङ्गा-यमुना की गोद में आर्य-संस्कृति का विकास हुआ था। अति प्राचीन समय से इन विस्तीर्ण, समतल और सस्य-श्यामल प्रदेशों में असंख्य जनता ने आकर निवास किया था। भारत में पश्चिमोत्तर से आक्रमण करनेवाले जितने विदेशी लोग समय-समय पर आये थे उन्होंने इसी प्रदेश में अपने राज्य स्थापित किये। दक्षिण देश प्रायः विदेशियों के आक्रमण से चिर काल तक मुक्त था। विन्ध्याचल के कारण उत्तर के लोगों का दक्षिण से कम सम्पर्क रहता था। दक्षिण का विदेशों से संसर्ग केवल समुद्र के व्यापार के कारण ही होता था। दक्षिण हमेशा से एक भिन्न प्रदेश रहा है और भारत के प्राचीन इतिहास में उसका गौण स्थान ही रहा है। इतिहास में, बहुत कम बार ऐसा हुआ है कि उत्तर भारत के शासकों ने, दक्षिण के राज्यों को अपने अधिकार में कर, उन पर अपना स्थायी आधिपत्य जमाया हो। पर उत्तर भारत की सभ्यता का दक्षिण भारत पर सर्वदा ही बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। दक्षिण भारत का आर्यावर्त से राजनीतिक पार्थक्य रहते हुए भी दोनों प्रदेशों में सामान्य संस्कृति का दौर-

---

* आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥—मनुस्मृति।

दौरा रहा है। दोनों विभागों में सदैव धार्मिक आचार-विचारों का परस्पर आदान-प्रदान होता रहा है। दक्षिण के आचार्य शङ्कर, रामानुज आदि महात्माओं का प्रभाव कन्याकुमारी से हिमालय तक के सारे देश पर पड़ा था। जुदे-जुदे प्रदेशों में जाति, भाषा, रीति-रिवाज और राजनीति की भिन्नता होने पर भी हिन्दू-भारत की आन्तरिक एकता का इससे बढ़कर प्रबल प्रमाण और क्या हो सकता है ?

प्राचीन काल में, जब कि समुद्र पर मानव-शक्ति का अधिकार नहीं था, दक्षिण के समुद्र-तट को लाँघकर कोई भारत पर आक्रमण नहीं कर सकता था; पर हिमालय की पश्चिमोत्तर घाटियों के द्वारा विदेशियों ने समय-समय पर भारत पर आक्रमण किये थे। हिमालय के पूर्वोत्तर कोण से भी भारत में आने के संकीर्ण मार्ग थे, जिनके द्वारा तिब्बत से मङ्गोल जातियाँ भारत में आईं। भारत के समुद्र-तट के प्राचीन बन्दरगाहों द्वारा दूर-दूर के देशों से भारत का बराबर व्यापार होता था और हिमालय की घाटियों-द्वारा इस देश का विदेशों से घनिष्ठ सम्बन्ध था। विदेशों से सम्पर्क रहने पर भी भारत की सभ्यता अपने ही निराले ढङ्ग पर, मानो परम एकान्त में, विकसित हुई थी। इस देश की संस्कृति का भव्य भवन उसके ही मौलिक विचारों की भित्ति पर खड़ा हुआ था। इसकी सभ्यता में अनेक ऐसे विशेष और व्यापक लक्षण थे और हैं जो दूसरे देशों की सभ्यता में दृष्टिगत नहीं होते। अतएव, मानव-जाति के सामाजिक, धार्मिक और मानसिक विकास के इतिहास में भारतवर्ष का इतिहास भी बड़े महत्त्व का है।*

भारतवर्ष की मौलिक एकता

मनुष्य-जातियों का अजायब-घर—कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ज़ाति, धर्म, भाषा और आचार-विचार की विभिन्नताओं के कारण भारतवर्ष

---

* स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आव् इंडिया, प्रस्तावना, पृ० ५।

के एक अविकल इतिहास का लिखना असम्भव है। इन लोगों का आक्षेप है कि इस बृहत्काय और जनाकीर्ण देश के इतिहास में न तो कोई विकास-क्रम देखने में आता है, न इसकी युग-परम्परा में कोई शृङ्खला पाई जाती है और न किसी सामान्य संस्कृति के सूत्र में यह सारा देश कभी संग्रथित हुआ मालूम पड़ता है। भारत अनेक देशों का समूह है। दो हज़ार मील लम्बे-चौड़े पृथ्वी के इतने बड़े टुकड़े को सहसा एक देश मानने के लिए बुद्धि तैयार नहीं होती। सतह भी इसकी सम नहीं है। कहीं गगनभेदी पर्वत हैं, कहीं समुद्र-तट, कहीं ऊँची-नीची भूमि। यही दशा जल-वायु की भी है। कहीं शीत अधिक है, कहीं गर्मी। जल-वृष्टि की भी कहीं तो अधिकता है, कहीं वह कुछ नहीं के बराबर है। रङ्ग-बिरङ्गे पशु-पक्षी भी असंख्य प्रकार के हैं। भाँति-भाँति के फल, वनस्पति और खनिज पदार्थ भी इस देश में उत्पन्न होते हैं। सबसे बढ़कर भिन्नता तो भारतवासी मनुष्यों में दिखाई देती है। संसार की जन-संख्या का पांचवाँ भाग भारत में पाया जाता है। निःसन्देह भारतवर्ष भिन्न-भिन्न बोलियों, भिन्न-भिन्न रस्म-रिवाजों और भिन्न-भिन्न जातियों का एक ख़ासा अजायब-घर है।* परन्तु यह कहना बड़ी भारी भूल है।

भिन्नता में एकता—इतिहास के आरम्भ-काल से ही भारत में एक विशेष संस्कृति का साम्राज्य रहा है। निःसन्देह इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में अनेक जातियाँ इस देश में आकर बसीं। किन्तु उन्होंने इसकी सभ्यता को तुरन्त अपना लिया। वे लोग उसके रङ्ग में रँग गये, एक ही समाज के अङ्ग हो गये और समान वातावरण से प्रभावित होकर यहाँ रहने लगे। भारत की वह प्राचीन सभ्यता आर्य-सभ्यता थी। भारत साधारणतः एक आर्य-देश है। आजकल के हिन्दू अपने आपको इस प्राक्तन सभ्यता का उत्तराधिकारी समझते हैं। उनके पूर्वजों ने मान रक्खा था कि भारतवर्ष एक

---

* भारतेषु स्त्रियः पुंसो नानावर्णाः प्रकीर्तिताः।
नाना देवार्चने युक्ता नाना कर्माणि कुर्वते ॥—कूर्मपुराण।

ही देश है। प्रथम तो 'भारतवर्ष'* नाम ही से इस अखिल देश की भौगोलिक और ऐतिहासिक एकता का बोध होता है। ऋषियों ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम के आधार पर भारतवर्ष रक्खा था। आर्य-सभ्यता जैसे-जैसे दक्षिण भारत में फैलती गई, वैसे ही वैसे आर्यावर्त में दक्षिण के प्रदेश भी शामिल हो गये। धीरे-धीरे गङ्गा, यमुना और हिमालय की भाँति, दक्षिण की नदियाँ और पर्वत भी पवित्र माने जाने लगे। † संस्कृत-साहित्य में अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं जिनसे प्रकट होता है कि प्राचीन भारतवासियों को अपने देश के पर्वतों, नदियों और वनों से अद्भुत प्रेम था। संसार में वे भारत को स्वर्ग-तुल्य समझते थे।‡ यद्यपि इस देश में २०० से भी अधिक बोलियाँ हैं, तथापि इसके धर्म और ज्ञान की निधि एक ही भाषा में है और वह भाषा **संस्कृत** है। वह '**देव-वाणी**' कहलाती है।§ संस्कृत भाषा का अमित प्रभाव भारत की वर्तमान भाषाओं पर देखने में आता है। हिन्दू धर्म, कला और विज्ञान की तो वह एकमात्र स्रोत है। प्रायः सभी हिन्दू गौओं की रक्षा और ब्राह्मणों तथा साधुओं का आदर करना अपना कर्तव्य समझते हैं। गौ, गङ्गा और गायत्री

---

* उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥—विष्णुपुराण ।

† गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ विष्णु-पुराण

‡ गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥
महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः ॥

§ संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।

सभी प्रान्तों के हिन्दुओं में पवित्र मानी गई हैं। वेद, उपनिषद्, रामायण और महाभारत की प्रामाणिकता पर बिरले ही हिन्दू आक्षेप करते हैं। शिव, विष्णु, दुर्गा, सरस्वती आदि देवताओं को हिन्दू लोग सर्वत्र पूजते हैं।

धार्मिक और सामाजिक एकता—वैदिक संस्कारों का अनुष्ठान प्रायः देश भर में प्रचलित है। वर्ण-व्यवस्था भी हिन्दुओं की एक विशेष संस्था है। हिन्दुओं के तीर्थ-स्थान भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक विद्यमान हैं। उत्तर में हिम-शिखर पर बदरीनाथ, दक्षिण में रामेश्वर, पूर्व में पुरी, पश्चिम में द्वारका आदि तीर्थस्थानों में सभी प्रान्तों के हिन्दू बड़ी श्रद्धा-भक्ति से जाते हैं। भारत के सीमान्त प्रदेशों में स्थित ये तीर्थ-स्थान इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि हिन्दू लोग इस निखिल देश को अपनी पुण्य-भूमि और अपने धर्म और सभ्यता का क्षेत्र मानते चले आते हैं। हिन्दुओं की सात पवित्र पुरियाँ *—अयोध्या, काशी, काञ्ची आदि—भारतवर्ष के एक संकीर्ण स्थल में नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बसी हुई हैं, जिनमें तीर्थाटन करना बड़ा पुण्य कर्म समझा जाता है। पुण्यसलिला गङ्गा की गोद में आर्य-सभ्यता का विकास होने के कारण हिन्दूमात्र का सदा से इस नदी पर अत्यधिक प्रेम रहा है। हिमगिरि की गुहाओं में समाधिस्थ होकर ऋषियों ने तप और तत्त्वानुसन्धान किया था, इसलिए हिमालय के गुण-गान भी सदा से हिन्दू करते चले आते हैं। वे बड़े चाव से रामायण और महाभारत की कथाओं को सुनते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, शङ्कर, रामानुज, सूर और तुलसी आदि महापुरुषों की कीर्ति-गाथाएँ कहकर वे हर्ष से गद्गद हो जाते हैं। सारांश यह कि हिन्दू सारे भारत को स्वदेश—अपनी स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि—मानते हैं जिसमें निवास करते हुए उन्होंने अनेक युग बिता दिये हैं। इसलिए उन्हें अपने देश, धर्म और सभ्यता का सच्चा अभिमान है।

---

* अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥

राजनीतिक एकता—प्राचीन काल में अनेक बार भारतवर्ष का बहुत बड़ा भाग राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध चुका था। वेदों और पुराणों में अनेक चक्रवर्ती सम्राटों के उल्लेख पाये जाते हैं। **एकराट्, सम्राट्, सार्वभौम, राजाधिराज** इत्यादि उपाधियाँ बड़े प्रतापशाली राजा धारण किया करते थे। सम्राट् की पदवी लेने के लिए वे अश्वमेध यज्ञ किया करते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि चक्रवर्ती का राज्य हिमालय से लेकर समुद्र तक फैला हुआ होता है।* भारत के ऐतिहासिक काल में चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त, विक्रमादित्य आदि सम्राटों की प्रभुता प्रायः सारे ही देश पर व्याप्त थी। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि बृटिश राज्य के होने से सहस्रों वर्ष पहले हमें अपने देश की एकता का पूर्ण अनुभव था। राजनीतिक एकता से कहीं बढ़कर भारतवर्ष में ऐसी आन्तरिक एकता विद्यमान है, जिसने जाति, भाषा, वेष, आचार-विचार के भेदोपभेद होते हुए भी समस्त हिन्दुओं को समान संस्कृति के सूत्र में आबद्ध कर रक्खा है।†

भारतीय संस्कृति पर प्रकृति का प्रभाव—जगत् के कृषि-प्रधान देशों में भारतवर्ष सबसे अधिक सम्पन्न है। इसकी नदियों से सिञ्चित लम्बे-चौड़े उपजाऊ मैदान इसकी अतुल सम्पत्ति के साधन सदा से बन रहे हैं। इसके भूगर्भ में भाँति-भाँति के खनिज पदार्थ भरे पड़े हैं। लकड़ी के बड़े-बड़े जङ्गल इस देश में मौजूद हैं। कोयला, लोहा, सोना, ताँबा और तरह-तरह के जवाहिरात इस भूमि में पर्याप्त परिमाण में पाये जाते हैं। प्राचीन काल में देश की बड़ी-बड़ी नदियों के द्वारा एक प्रान्त का दूसरे प्रान्त से और विशाल समुद्र-तट के बन्दरगाहों द्वारा विदेशों से भारत का व्यापार होता रहता था। इन्हीं सब कारणों से भारत धन-धान्य-पूर्ण था। इसके धन, वैभव और समृद्धि को देखकर अनेक आक्रमणकारी शत्रु समय-समय पर आते रहे। इस रत्नगर्भा वसुन्धरा के वैभव को विदेशी लोग अपनी अर्थ-

---

* "हिमवत्समुद्रान्तरं चक्रवर्तिक्षेत्रम्"

† स्मिथ—ऑक्सफ़र्ड हिस्टरी आव् इंडिया—प्रस्तावना, पृ० १०।

लोलुप आँखों से देख नहीं सकते थे। उनके अनेक आक्रमण ही भारत की अवनति और परतन्त्रता के मुख्य कारण हुए।

मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति—प्रकृति ने मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के पूरे-पूरे साधन देकर भारतवर्ष पर बड़ा उपकार किया है। आर्थिक दृष्टि से हम इस देश को परम स्वावलम्बी कह सकते हैं, क्योंकि अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए इसे दूसरे देशों का साहाय्य लेने की कुछ भी ज़रूरत नहीं। इमें जीवन को सुखमय बनानेवाले सभी पदार्थ सुलभ थे। इस कारण से हमारी सभ्यता सदैव अग्रगण्य रही। ऐहिक सुविधाएँ मिलने के कारण हमें मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का पूर्ण अवकाश मिला। अद्भुत और सौन्दर्यमयी प्राकृतिक परिस्थिति में रहने के कारण सबसे पहले भारत के ही लोग कला, कविता, धर्म और तत्त्वज्ञान में तल्लीन हुए।* सांसारिक विषयों से विरक्त होकर उन्होंने परमार्थ की ओर अधिक ध्यान दिया। भारत तत्त्वज्ञानियों का देश है, यह कथन युक्तियुक्त है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि परमार्थ में अत्यासक्ति होने से यहाँ के निवासियों में ऐहिक उन्नति करने की क्षमता कुछ न्यून थी। वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के यथाक्रम सम्पादन में सदा तत्पर रहे थे। किन्तु वे केवल 'अर्थ' के ही दास बनकर न रहे। यह सच है कि प्रकृति से उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए घोर युद्ध नहीं करना पड़ा। इस कारण उन लोगों में भौतिक विज्ञान की अधिक उन्नति नहीं हुई, जैसी हम पाश्चात्य देशों में पाते हैं।

भारतीय संस्कृति की मौलिकता—ऊँचे-ऊँचे पर्वतों और जल-राशियों से घिरा हुआ यह देश और देशों के सम्पर्क से बहुत कुछ पृथक् रहा। इस

* अयि भुवनमनमोहिनी !
प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम साम-रव तव तपवने।
प्रथम प्रचारित तव वन-भवने
ज्ञान, धर्म कत काव्य-काहिनी ॥' रवीन्द्र

कारण इसकी संस्कृति पर दूसरे देशों का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। जो लोग बाहर से आये भी वे यहाँ की जनता में हिल-मिल गये। भारत की एकान्तता के कारण इसकी संस्कृति का स्वरूप दूसरों के सम्पर्क से विकृत नहीं हुआ, वरन् वह अपनी आन्तरिक शक्ति से अपने आप विकसित होता रहा। यही कारण है कि अपनी प्राचीन संस्कृति के अभिमान में भारतीय आज पुरानी लकीर के फ़क़ीर बने हुए हैं तथा धर्म और मर्यादा के पक्षपाती हैं। एकान्तता के कारण यहाँ पर सामाजिक संस्थाएँ और रूढ़ियाँ इतनी दृढ़ हो गई हैं कि उनके बन्धनों को ढीला करना दुष्कर हो रहा है। प्राचीन भारत के एकान्त रहने का यह मतलब न समझ लेना चाहिए कि यहाँ के लोग कूप-मण्डूकवत् अपना जीवन बिताते थे और दूसरे देशों से कोई सम्पर्क न रखते थे। यदि ऐसी ही बात होती तो आर्य-संस्कृति इस समस्त देश में न फैलती; बौद्ध विद्वान् और धर्मोपदेशक एशिया, यूरोप आदि महाद्वीपों में न जाते; लङ्का, ब्रह्मा, स्याम, अनाम, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, मङ्गोलिया और चीन में भारत के धर्म और संस्कृति का प्रचार न होता तथा कम्बोडिया, चम्पा, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली में हिन्दू उपनिवेशों की स्थापना न होती। यदि भारतवासी नितान्त एकान्त-सेवी ही हुए होते तो प्राचीन काल में वे जगद्गुरु की आदरणीय पदवी कैसे पा लेते ?*

राजनीतिक एकता की कमी—प्राचीन और मध्य काल में, देश की विशालता और विस्तार के कारण, भारतवर्ष में राजनीतिक एकता का भाव दृढ़ रूप से जमने नहीं पाया। समय-समय पर इस देश के राजनीतिक जीवन में छोटे-छोटे खण्ड-राज्य पाये जाते हैं। निःसन्देह अनेक बार इसके इतिहास में छोटे-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए, किन्तु वे चिरस्थायी न रह सके। प्रधान केन्द्रस्थ शक्ति के शिथिल होते ही इस बृहत्काय देश में अनेक छोटे-छोटे राज्य बन जाते थे। राजनीतिक एकता या सङ्गठन का समय-समय पर शिथिल

---

* "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥—मनुस्मृति।

हो जाना ही भारत के पराजय का मुख्य कारण है। सिकन्दर के आक्रमण के बाद भारत का पश्चिमोत्तर द्वार विदेशी जातियों के लिए सदा के लिए खुल गया। मौर्य-साम्राज्य के जीर्ण-शीर्ण होने पर यवन, शक, पह्लव, कुशन, हूण, गुर्जर आदि जातियों ने भारत पर आक्रमण करके अपनी-अपनी शक्ति की स्थापना की।

दूसरा परिच्छेद

वेद-युग के पूर्व का भारत

मानव-जाति का इतिहास-काल आज से लगभग पाँच-छः हज़ार वर्ष पूर्व से आरम्भ होता है। आधुनिक ऐतिहासिकों का मत है कि मनुष्य का अस्तित्व तो इस पृथ्वी पर हज़ारों वर्षों से है, किन्तु उसकी उन्नति की लम्बी-चौड़ी कथा का अधिकांश हमें सदैव अज्ञात रहेगा। यह पुरातत्त्व-विदों का अनुमान है कि मिस्र, असीरिया, बेबीलोन, चीन तथा भारतवर्ष का इतिहास प्राचीनता में अधिक से अधिक ई० पू० चार-पाँच हज़ार वर्ष का माना जा सकता है। इस अवधि के पहले की घटनाएँ न तो हमें स्पष्ट देख पड़ती हैं और न हम उनका ठीक-ठीक काल ही निश्चित कर सकते हैं।

भारत का इतिहास-काल आर्य-जाति के ऋग्वेद से आरम्भ होता है। आर्य-जाति के इस देश में पदार्पण करने के पहले भी यहाँ ऐसे लोग रहते थे जो किसी हद तक सभ्य थे। आसाम से लेकर बलोचिस्तान तक और सिन्ध तथा मध्य भारत से लेकर ठेठ दक्षिण तक पत्थर, लोहे और ताँबे के सैकड़ों शस्त्र और औज़ार मिले हैं। जगह-जगह पर बहुत पुराने मिट्टी के बर्तन, मनके, चूड़ियाँ, शंख और कन्दराओं में खिँचे हुए रङ्गीन चित्र तक प्राप्त हुए हैं। ये सब भारत के मूल-निवासियों की सभ्यता के सूचक चिह्न हैं। परन्तु सभ्यता के इस स्तर तक पहुँचने में मनुष्य ने बहुत समय लगाया था। कैसी मन्दगति से और कितने काल में मनुष्य ने उन्नति की सोपान-पंक्तियों पर चढ़ना शुरू किया था, यह बतलाना बहुत कठिन है।

पाषाण-युग—मानव-सभ्यता का सबसे पहला काल **पाषाण-युग** कहलाता है। इस युग के आदमी निरे जङ्गली थे। वे झोपड़ों और कन्दराओं में रहते और पशुओं को मारकर पेट भर लेते थे। कदाचित् वे अग्नि का

उपयोग करना न जानते थे। वे पत्थर के हथियार बनाकर काम में लाते थे। वे मिट्टी के बर्तन बनाना भी नहीं जानते थे। पाषाण-युग के मनुष्यों के औज़ार भारत के पूर्व-तट के ज़िलों में मिले हैं।

नवीन पाषाण-युग—मानव-सभ्यता का दूसरा काल **नवीन पाषाण-युग** कहलाता है। इस युग के मनुष्य धीरे-धीरे मिट्टी के बर्तन बनाने लगे। वे खेती करना और पशुओं का पालना भी सीख गये। अपने मुर्दों को वे क़ब्रों में गाड़ने लगे थे। संयुक्त-प्रान्त के मिर्ज़ापुर ज़िले में पत्थर की शिलाओं से ढके हुए शव ज़मीन में गड़े हुए मिले हैं।

लोह-युग और ताम्र-युग—पाषाण-युग के पश्चात् उस युग का आरम्भ होता है जिसमें मनुष्य धातु का उपयोग करने लगे। दक्षिण भारत में कालक्रम से धीरे-धीरे पत्थर के औज़ारों की जगह लोहे के अस्त्र-शस्त्र बनाये जाने लगे। मद्रास के तिनेवली ज़िले में एक क़ब्रस्तान मिला है। उसके भीतर धातु की बनी पशु-मूर्तियाँ, लोहे के शस्त्र, मनुष्यों की ठठरियाँ, उनके पहनने के लिए रक्खे गये वस्त्र तथा खाद्य पदार्थ तक मिले हैं। इनसे यह सूचित होता है कि आर्यों की सभ्यता की छाप पड़ने के सैकड़ों वर्ष पहले भी द्रविड़-देश में रहनेवाले मनुष्य बहुत कुछ सभ्य थे। वे कपड़े पहनते थे, लोहे के शस्त्र बनाते थे और सोने का व्यवहार जानते थे। वे कदाचित् द्रविड़ जाति के लोग थे जिन्हें पराजित कर आर्यों ने अपना प्रभुत्व भारत पर स्थापित किया था। पाषाण-युग के मनुष्यों के वंशज **कोल**, **भील** और **सन्थाल** लोग हैं जो इतिहास-काल के पहले भारत में दूर-दूर तक फैले हुए थे। कोलों की भाषा, उनके शरीर की गठन और उनके आचार-विचार उन लोगों से मिलते-जुलते हैं जो पूर्व के मलाया, इंडो-चायना आदि द्वीपों में पाये जाते हैं। इससे सूचित होता है कि किसी दूरतम काल में भारतीय कोलों के पूर्वज पूर्व दिशा से ही भारत में आये थे। कोल-जाति के लोग छोटा नागपुर और मध्य-भारत में पाये जाते हैं।

द्रविड़-जाति और उसका मूल निवास-स्थान—द्रविड़-देश के निवासी एक भिन्न ही जाति के मनुष्य हैं। उनकी भाषा, उनकी शकल-

सूरत और उनके आचार-विचार न तो आर्यों से मेल खाते हैं और न कोलों से। द्रविड़ लोग भारत में कब और कहाँ से आये, इसका निर्णय करना कठिन है। बलोचिस्तान के कुछ भाग में **ब्राहुई** नाम की एक भाषा बोली जाती है, जो द्रविड़ जाति की भाषाओं से मिलती-जुलती है। इससे अनुमान होता है कि द्रविड़ जाति के लोग बलोचिस्तान की तरफ़ से भारत में आये होंगे। पहले वे पञ्जाब और सिन्ध में बसे। फिर धीरे-धीरे और-और प्रान्तों में होते हुए दक्षिण भारत तक जा पहुँचे। मांटगोमरी ज़िले में **हरप्पा** और सिन्ध में **महेंजो-दारो** की खुदाई में बहुत पुरानी-पुरानी चीज़ें मिली हैं। ठप्पे, मिट्टी के बर्तन, पत्थर के हथियार, सिक्के, ज़ेवर आदि के अतिरिक्त महेंजो-दारो में वैसी ही क़ब्रें मिलीं जैसी तिनेवली ज़िले में मिली हैं। ठप्पों की लिपि में कुछ वर्ण तो चित्र-लिपि के जैसे मालूम होते हैं। यह कोई सिन्ध और पञ्जाब में रहनेवाली आर्येतर जाति थी, जो अपने मुर्दों को मिट्टी के सन्दूक़ों में रखकर, खाने-पीने के सामान के साथ, गाड़ देती थी।* कुछ पुरातत्त्वज्ञों का मत है कि द्रविड़ लोग प्राचीन बेबीलोन, सुमेर-राज्य, क्रीट और साइप्रेस आदि में रहनेवाली सभ्य जाति के वंशज हैं। आर्य लोगों के आक्रमणों से अपने प्राण बचाकर उन्होंने एशिया-माइनर, पञ्जाब, सिन्ध आदि देशों को छोड़कर अन्त में दक्षिण भारत की शरण ली।

मंगोल-जाति—कोल और द्रविड़ जातियों के अतिरिक्त तिब्बत-चीन की जातियाँ हिमालय के उत्तर-पूर्व की घाटियों से आकर भूटान, नेपाल, हिमालय

---

* छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि असुर लोग मृत शरीर का भोजन, वस्त्र और अलङ्कार से संस्कार करते हैं; न वे दान देते हैं, न श्राद्ध करते हैं और न यज्ञ करते हैं। इसलिए वे असुर कहलाते हैं। 'असुर' असीरिया का बोधक मालूम होता है। यदि द्रविड़ लोग असीरिया के लोगों के सजातीय थे, जैसा कुछ विद्वान् मानते हैं, तो उनमें प्रचलित वस्त्रालङ्कार-सहित मुर्दे गाड़ने की प्रथा को आर्य लोग घृणा की दृष्टि से देखते थे।

"असुराणां ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति संस्कुर्वन्ति।"

—छान्दोग्य, ८. ८.

की तराई और ब्रह्मा में बसी थीं। आर्यों की सभ्यता का विकास बहुत कुछ हो जाने पर इनका उनसे संसर्ग हुआ था।

आर्य-जाति का आदिम स्थान—भारत का क्रमबद्ध इतिहास आर्य-जाति के आगमन से शुरू होता है। वे इंडो-आर्यन या भारतीय आर्य कहलाते हैं। उनका मूल निवास-स्थान कहाँ था, इस विषय पर विद्वानों में बड़े मत-भेद हैं। कोई उन्हें मध्य-एशिया के मूल निवासी बतलाते हैं, कोई यूरोप के आस्ट्रिया-हङ्गरी में उनकी जन्मभूमि बतलाते हैं। कोई उन्हें उत्तरी-ध्रुव के समीप ले जाते हैं तो कोई उन्हें हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेशों से भारत में अवतरित हुआ मानते हैं। आर्यों के मूल-स्थान के विषय में जो-जो कल्पनाएँ अब तक की गई हैं वे आर्यों के सबसे प्राचीन वेद-मन्त्रों के साहित्य से बिलकुल प्रमाणित नहीं होतीं। उनसे तो सिर्फ़ यही पता चलता है कि प्राचीन आर्य पहले-पहल अफ़ग़ानिस्तान और पञ्जाब में बसे थे और फिर वहाँ से वे हिमालय और विन्ध्याचल के बीच के प्रदेशों में फैल गये। परन्तु भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि वेद की भाषा का प्राचीन ईरानी, ग्रीक, लैटिन और यूरोप की अन्य भाषाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव, किसी दूरतम काल में ये भाषाएँ एक ही स्रोत से निकली होंगी। किसी समय वह मूल-भाषा एक ही कुटुम्ब में बोली जानेवाली भाषा रही होगी, जिससे कालान्तर में यूरोप, ईरान और भारत की प्राचीन भाषाएँ विकसित हुईं। भाषा-विज्ञान की परिभाषा में संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाएँ—**'इंडो-यूरोपियन भाषा-परिवार'**—की कहलाती हैं। उनमें अत्यन्त सादृश्य होने के कारण यह मान लिया गया है कि जिनकी वे भाषाएँ हैं वे उन प्राचीन आर्यों के वंशज होंगे, जो किसी समय कहीं एकत्र रहते थे और फिर जिनके झुण्ड के झुण्ड इधर-उधर यूरोप और एशिया में जा बसे। किन्तु यह मत सर्वथा असङ्गत है कि एक ही मूल-भाषा से निकली हुई बोलियों के बोलनेवाले एक ही जाति के हों। समान भाषा का होना एकजातित्व का साधक प्रमाण नहीं माना जा सकता। संस्कृत, ज़ेण्ड, ग्रीक, लैटिन, जर्मन, इँग्लिश आदि आर्य-भाषाओं के बोलने-वाले सजातीय बन्धुवर्ग हैं, यह बात बड़ी सन्देहास्पद है। उदाहरण के लिए

भारत की जनता ही को लीजिए। इसमें शक, हूण, यहूची आदि मध्य-एशिया की जातियाँ आकर मिली हैं, किन्तु अब ये सब हिन्दी बोलती हैं। उनकी मूल भाषाएँ बिलकुल लुप्त हो गईं, क्योंकि इन विदेशियों ने आर्य-भाषा को अपना लिया था। ऐसे दृष्टान्त संसार में अन्यत्र भी मिलते हैं। जिन जातियों का अन्य जाति पर प्राधान्य हो जाता है उनकी भाषा विजित जाति की भाषा को नष्ट कर उसका स्थान ले लेती है। यदि प्राचीन यूरोप-वासियों और भारत के आर्यों की मूल भाषा को एक मान लेने पर भी उनका सजातीय होना सिद्ध नहीं होता तो यह कल्पना भी निरर्थक मालूम होती है कि वे यूरोप या मध्य-एशिया से चलकर भारत में आये। उनके सजातीय होने पर तो यह मानना ठीक था कि वे किसी मध्यवर्ती देश में कभी रहते थे और फिर वहाँ से पृथक् होकर वे भारत और यूरोप की ओर चल पड़े। वास्तव में, आर्य-जाति के मूल-स्थान के विषय में विद्वानों ने बहुत सी मनगढ़न्त बातें लिख डाली हैं, जिनसे उनकी प्रतिभा पर तो प्रकाश पड़ता है, पर हमारा प्रश्न हल नहीं होता।

भारतीय प्रजा के अङ्ग

भारतीय प्रजा के जाति-भेद—भारत की वर्तमान जनता में अनेक जातियों के रक्त का सम्मिश्रण पाया जाता है। ये जातियाँ परस्पर ऐसी हिल-मिल गई हैं कि अब प्रत्येक जाति का पृथक् निरूपण करना कठिन हो गया है। साधारणतः, दो प्रकार के मनुष्य भारत में पाये जाते हैं। जो लोग लम्बे, गोरे, सुडौल नाकवाले और रूपवान होते हैं वे आर्यों के वंशज हैं। वे पञ्जाब, काश्मीर और राजपूताना में अधिकता से पाये जाते हैं। दूसरे प्रकार के लोग डील-डौल में छोटे, काले, चपटी नाकवाले और कुरूप हैं। वे कोल, भील और अन्य जङ्गली जातियों की सन्तान हैं। भारतीय जनता **सात जाति-वर्गों** में विभाजित की गई है—

(१) **द्रविड़-जाति** के लोग दक्षिण भारत में पाये जाते हैं।

(२) **आर्य** लोगों के वंशज काश्मीर, पञ्जाब आदि में मिलते हैं।

(३) **तुर्क-ईरानी** लोग सिन्धु के पार बलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर-सीमाप्रान्त में बसे हुए हैं।

(४) **शक-द्रविड़** जाति के लोग सिन्ध और पश्चिमी भारत में पाये जाते हैं।

(५) **आर्य-द्रविड़** जाति के लोग संयुक्त-प्रान्त और बिहार के निवासी हैं।

(६) **मंगोल-जाति** का अंश बर्मा, आसाम, नेपाल, भूटान और हिमालय की तराई में अधिक है।

(७) **मंगोल-द्रविड़** जाति का रक्त बङ्गाल और उड़ीसा की आबादी में अधिक है।

पूर्वोक्त जातियों के अतिरिक्त कोल, भील, सन्थाल आदि भारत के असभ्य मूलनिवासियों की सन्तान हैं। प्राचीन भारत की भिन्न-भिन्न जातियों की भिन्न-भिन्न बोलियाँ चार बड़े भाषा-परिवारों में विभाजित की गई हैं।

भारतीय भाषाओं के परिवार

(१) **मुण्डा भाषा-परिवार** की बोलियाँ मुख्यतः सन्थाल पर्गना, छोटा नागपुर, उड़ीसा, मद्रास और मध्य प्रदेश के ज़िलों में असभ्य जातियों द्वारा बोली जाती हैं। मुण्डा बोलियाँ धीरे-धीरे आर्य-भाषाओं के आक्रमण के सामने नष्ट हो रही हैं, क्योंकि इनमें किसी प्रकार का साहित्य नहीं है।

(२) **तिब्बत-चीनी भाषा-परिवार**—इस परिवार की मुख्य भाषाएँ तिब्बती और बर्मी भाषाएँ हैं। हिमालय और आसाम की अनार्य भाषाओं का समावेश भी इसी परिवार में किया जाता है।

(३) **द्रविड़ भाषा-परिवार**—इस परिवार की मुख्य भाषाएँ तामिल, तेलेगू, कनारी और मलयालम हैं। **ब्राहुई** भाषा को छोड़कर और सारी द्रविड़ भाषाएँ केवल दक्षिण भारत में ही पाई जाती हैं।

(४) **आर्य-भाषा-परिवार**—हिन्दी, पञ्जाबी, गुजराती, राजस्थानी, पहाड़ी, सिन्धी, लहन्दा, कोहिस्तानी, काश्मीरी, मराठी, बंगाली,

आसामी, बिहारी, उड़िया ये सब इस परिवार की आधुनिक बोलियाँ हैं। आर्य-भाषा का भारतवर्ष पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। अब तक जहाँ कहीं इस भाषा का असभ्य जातियों की बोलियों से सम्पर्क होता है वहीं इसका सिक्का उन पर जम जाता है।*

पूर्वोक्त भारतीय भाषाओं की भिन्नता से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि समय-समय पर जुदी-जुदी जातियाँ इस देश में आकर बसीं। इतिहास-काल में मङ्गोल, शक, यहूची और हूण आदि जातियाँ मध्य एशिया से समय-समय पर भारतवर्ष में प्रविष्ट हुईं। यहाँ बसने के पश्चात् इन्होंने आर्यों के रीति-रिवाज अपना लिये और ये आर्य-जाति का अङ्ग बन गईं। इनमें कोई भी जाति अपने साथ निज की महत्त्वपूर्ण सभ्यता लेकर नहीं आई, इसलिए इन्हें आर्य-सभ्यता का ऋणी होना पड़ा।

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी आव् इंडिया—पृष्ठ ४८ से ५१ तक

तीसरा परिच्छेद

प्राचीन भारत के इतिहास के साधन

भारतवर्ष के विशाल प्राचीन साहित्य में अनेक विषयों पर ग्रन्थ मिलते हैं पर उसमें इतिहास की क्रमबद्ध रूप से लिखित पुस्तकें उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्राचीन भारतीय इतिहास-विद्या से भले प्रकार परिचित थे। वे इतिहास को 'पाँचवाँ वेद' मानते थे और उसके ज्ञान को वेदों की व्याख्या और विस्तार करने के लिए परमोपयोगी समझते थे।* कौटिल्य ने अपने अर्थ-शास्त्र में राजा की दिनचर्या का वर्णन करते हुए उसमें प्रतिदिन इतिहास के श्रवण करने के कर्तव्य पर बहुत ज़ोर दिया है। यद्यपि भारत के प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ किन्हीं कारणों से लुप्त हो गये हैं तथापि विद्वानों की वर्तमान शोध से हमें बहुत कुछ प्राचीन इतिहास-सम्बन्धी सामग्री बराबर उपलब्ध हो रही है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के श्लाघ्य प्रयत्नों से बहुत से उत्कीर्ण लेख, सिक्के, मूर्तियाँ तथा अन्य प्राचीन भग्नावशेष हमें प्राप्त हो रहे हैं। भारत की प्राचीन साहित्य-राशि की सहायता से और पुराविदों के नवीन आविष्कारों के उपयोग से अनेक प्राचीन युगों का भारतीय इतिहास क्रमबद्ध रूप से अब निर्माण किया जा सकता है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री चार भागों में बांटी जा सकती है—(१) ब्राह्मण, जैन और बौद्ध धर्मों के ग्रन्थ; (२) पुरातत्त्व-विज्ञान; (३) विदेशी यात्रियों के विवरण; (४) प्रायः समसामयिक ऐतिहासिक ग्रन्थ, जो इस देश के साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

---

* 'इतिहासः पञ्चमो वेदः।'—छां० उप० ७।

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥'—महा०।

"पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रमितीतिहासः।" अर्थशास्त्र, १–५।

(१) ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य

इतिहास के साहित्यिक साधन—प्रथम श्रेणी की इतिहास-सामग्री में भारत का सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्र-ग्रन्थ, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से भारत के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जीवन के विकास का पता लगता है। संस्कृत के विद्वानों ने इस विशाल साहित्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शोधकर बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री इकट्ठी की है।

बुद्ध के समय के भारत की राजनीतिक और सामाजिक दशा का पता प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों और जातकों, अर्थात् बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं, में मिलता है। इन प्राचीन कथाओं में ई० पू० छठी और पाँचवीं शताब्दी के भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का विशद चित्र हमें देख पड़ता है। बौद्ध धर्म के **त्रिपिटक** नाम के पाली ग्रन्थों से और जैन धर्म के सूत्र-ग्रन्थों से, जिनका निर्माण-काल ई० पू० चौथी या पाँचवीं शताब्दी माना गया है, बहुत सी ऐतिहासिक बातों का पता लगता है। सिंहल के **'दीपवंश'** और **'महावंश'** में, जो ई० सन् की चौथी और पाँचवीं शताब्दी में रचे गये थे, बौद्ध-कालीन राजवंशों के और विशेषतः मौर्य-वंश के सम्बन्ध में बहुत सी परम्परागत कथाएँ उल्लिखित हैं।

पुराणों में भारत के प्राचीन राजवंशों की क्रमबद्ध सूचियाँ दी गई हैं। १८ पुराणों में वायु, मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड और भागवत—ये पांच प्राचीन राजाओं की श्रृंखलाबद्ध वंशावलियों के परिज्ञान के लिए परम उपयोगी हैं। इन पुराणों के उपयोग से प्राचीन भारत के इतिहास-निर्माण में बड़ी सहायता मिली है। श्रीयुत पार्जीटर महोदय के प्रयत्नों से पुराण भी 'इतिहास के स्रोत' बन गये हैं। उन्होंने भारत के प्राचीन राजवंशों के सम्बन्ध में बड़ी खोज के साथ दो ग्रन्थ लिखे हैं—एक **'कलियुग के राजवंश'** और दूसरा **'प्राचीन भारतीय वंशवृत्त'**। पुराणों की प्रामाणिकता पर कुछ विद्वान् आक्षेप करते हैं, पर उनमें अविकल रूप से वर्णित प्राचीन राजाओं की वंशावलियों की ठीक-ठीक

आलोचना करने से बहुत कुछ ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। वैदिक काल से लेकर ई० स० की तीसरी शताब्दी तक के राजवंशों के वर्णन पुराणों में लिखे गये हैं। ये वंशवृत्त प्राचीन समय से प्रचलित अनुश्रुतियों के आधार पर रचे गये थे। ऐतिहासिक शैली पर लिखा हुआ संस्कृत-साहित्य में कल्हण रचित **राज-तरङ्गिणी** नामक ग्रन्थ है जिसमें काश्मीर के इतिहास का वर्णन है। उसमें लिखी हुई क्रमागत कथाओं को बहुत सावधान होकर पढ़ना चाहिए। उसमें काश्मीर के राजाओं की वंशावली और लगभग ११४८ ई० तक का इतिहास है।

संस्कृत भाषा के काव्य, नाटक तथा अन्य ग्रन्थों से भी भिन्न-भिन्न कालों में भारतीयों के आचार-विचार का पता चलता है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान भी इतिहास-निर्माण में बहुत सहायक होता है। प्रत्येक जाति के साहित्य की परिवर्तनशील भाषा, भाव और शैलियों की तुलनात्मक दृष्टि से आलोचना करने पर इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में मनुष्यों के आचार-विचार में कैसे-कैसे हेर-फेर हुए, किन-किन पुरानी बातों का बहिष्कार और नवीन बातों का आविष्कार हुआ इत्यादि बातें हमें दृष्टिगोचर होती हैं।

(२) पुरातत्त्व-विज्ञान

(१) प्राचीन शिलालेख और ताम्रलेख—हमारे इतिहास के लिए सबसे अधिक उपयोगी पुरातत्त्व-विज्ञान है। प्राचीन काल के भवन, मन्दिर, स्तूप, गुफा आदि स्मारकों के भग्नावशेषों को देखने से पुराने राजवंशों की शक्ति और प्रताप का हमें बहुत कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। भिन्न-भिन्न काल के स्मारकचिह्न और शिल्प के नमूने भारत की कला, धर्म और विज्ञान की उन्नति का हमें प्रत्यक्ष परिचय देते हैं। उन स्मारकों के अतिरिक्त पुराविदों ने जो शिलालेख और ताम्रलेख खोजकर निकाले हैं* वे हमारे

---

* प्राचीन शिलालेखों की लिपियाँ बड़ी कठिनाई से आजकल के विद्वानों ने पढ़ी हैं। भारत की प्राचीन लिपियों के पढ़नेवाले विद्वानों में अग्रगण्य श्रीयुत जेम्स प्रिंसेप थे। उन्होंने अपने बड़े प्रयत्न से ब्राह्मी और खरोष्ठी नाम की भारत की प्राचीन लिपियों को

प्राचीन इतिहास के लिए परमोपयोगी हैं। समय-समय की देश-स्थिति, लोगों के आचार-व्यवहार, धर्म-सम्बन्धी विचार, राजाओं के वंश-क्रम आदि विषयों पर वे बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं। अशोक के शिलालेखों में उसके समय का बड़ा ही विशद ऐतिहासिक चित्र है। गुप्तवंश का इतिहास इन्हीं शिलालेखों के आधार पर लिखा गया है। हिन्दू इतिहास के पुनरुद्धार में ये शिलालेख और ताम्रलेख बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। समुद्रगुप्त, खारवेल, पुलकेशी आदि प्रतापी राजाओं के नाम का उल्लेख तक हमारी ग्रन्थ-राशि में नहीं है। उनका इतिहास उनके समय के लिखे पत्थर या ताम्रपत्र पर अङ्कित प्रशस्तियों और चरितों से प्रकट हुआ है। ताम्रपत्रों और मुद्राओं पर भी बहुत से उत्कीर्ण लेख पाये जाते हैं। भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों से समय-समय के अनेक शिलालेख और ताम्रलेख मिले हैं जिनकी सहायता से इस देश के लुप्तप्राय इतिहास का उद्धार किया गया है। डाक्टर फ़्लीट ने लिखा है कि शिलालेखों और ताम्रलेखों की शैली को देखते हुए हमें मालूम होता है कि प्राचीन हिन्दुओं में इतिहास लिखने की क्षमता और योग्यता थी। पौराणिक और काव्य-शैलियों से इन लेखों की प्रथा बिलकुल भिन्न है। इनकी परम्परा और शैली दस्तावेज़ी है। पूरा नाम, धाम, वंशवृत्त, स्थान, मिति, संवत् देते हुए ये अपना प्रयोजन विदित करते हैं।*

पूरी-पूरी वर्णमालाएँ तैयार की थीं। उन्हें कुछ इण्डो-ग्रीक राजाओं के ऐसे सिक्के मिले थे जिनके एक ओर तो भारतीय लिपि के अक्षर थे और दूसरी ओर वही बात ग्रीक लिपि में लिखी थी। बस, इतने से ही उन्होंने धीरे-धीरे ब्राह्मी और खरोष्ठी के सारे वर्ण निकाल लिये, क्योंकि उन्हें ग्रीक लिपि का ज्ञान था ही।

* ये उत्कीर्ण लेख प्रायः तीन प्रकार के हैं। कुछ तो महाप्रतापी राजाओं की प्रशस्ति के रूप में हैं जिनमें उनके कारनामे वर्णित हैं। कुछ दान-पत्रों के रूप में हैं और कुछ लेख लोगों ने मूर्ति, मन्दिर, विहार, कूप, तड़ाग आदि बनवाकर समर्पण करते हुए खुदवाये हैं।

(२) प्राचीन मुद्रा—प्राचीन इतिहास के उद्धार में सिक्के भी कम महत्त्व के नहीं हैं। जिस देश में लिखित इतिहास न हो और शिलालेखों तथा विदेशी यात्रियों के भ्रमण-वृत्तान्तों का भी अभाव हो उसके प्राचीन सिक्के इतिहास के निर्माण करने में बहुत ही आवश्यक और उपयोगी हैं। प्राचीन मुद्रातत्त्व (Numismatics) लुप्त इतिहास के पुनरुद्धार करने के लिए एक आवश्यक साधन है। प्राचीन भारत के यवन, पार्थिव और शक राजाओं का इतिहास तो केवल सिक्कों के ही आधार पर प्रस्तुत किया गया है।*

(३) विदेशियों के यात्रा-विवरण

यवन, चीनी और मुसलमान लेखक—विदेशी यात्रियों ने भी, अपनी यात्रा के विवरणों में, भारत की सभ्यता, देश-स्थिति और आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत कुछ बातें लिखी हैं। यूनानी लेखक **हिरोडोटस, टिशियस, स्ट्रैबो, प्लिनी** आदि के लेख बड़े महत्त्व के हैं। सिकन्दर के साथ कई इतिहास-लेखक आये थे। उन्होंने तत्कालीन भारत का वर्णन लिखा है। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य-काल में पश्चिम एशिया के सम्राट् सैल्यूकस का भेजा हुआ राजदूत **मेगास्थनीज़** भारत में आया और उसने अपने समय का बहुत कुछ यहां का वृत्तान्त लिखा। कई चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण भी भारत की भिन्न-भिन्न शताब्दियों के इतिहास पर पूरा प्रकाश डालते हैं। इन चीनी यात्रियों में **फ़ाह्यान और ह्वेन्त्सांग** विशेष उल्लेख योग्य हैं। फ़ाहियान ने ईसवी सन् की पाँचवीं सदी के आरम्भ में चन्द्रगुप्त द्वितीय के और ह्वेन्त्साङ्ग ने ई० स० की सातवीं सदी में हर्षवर्धन के राज्य-काल के इतिहास लिखे थे। **अल-बेरुनी** की भारत-यात्रा की पुस्तक (तहक़ीक़-ए-हिन्द) भारतीय इतिहास के

* सिक्कों पर राजाओं के नाम, उनकी उपाधियाँ और उनकी मूर्तियाँ उत्कीर्ण रहती हैं। कुछ सिक्कों पर उनके राज्य-वर्ष भी अंकित रहते हैं। इन सब बातों से अनेक ऐतिहासिक परिणाम निकाले गये हैं, जो भारत के भिन्न-भिन्न युगों के लुप्तप्राय इतिहास पर यत्किंचित् प्रकाश डालते हैं।

ज्ञान के लिए परम उपयोगी है। अलबेरुनी गणित और ज्योतिष का बड़ा विद्वान् था और महमूद ग़ज़नवी के साथ भारत में आया था। संस्कृत-विद्या पढ़कर उसने भारत की विद्या, सभ्यता और धर्म के अध्ययन में अपना मस्तिष्क लगा दिया था। सच तो यह है कि यदि चीनी यात्री फ़ाहियान, ह्वेन्त्सांग, इत्सिंग तथा मुसलमान पर्यटक अलबेरुनी के यात्रा-विवरण न होते तो प्राचीन भारत के कुछ युगों का इतिहास बहुत ही अपूर्ण और नीरस होता।

(४) समसामयिक साहित्य

संस्कृत और प्राकृत में कुछ काव्य, नाटक और चरित आदि ग्रन्थ लिखे मिलते हैं, जिनसे कुछ-कुछ ऐतिहासिक वृत्तान्त एकत्र किये जा सकते हैं। ऐसी पुस्तकों में निम्न-लिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(१) **हर्षचरित**—यह प्रसिद्ध विद्वान् बाणभट्ट द्वारा रचित गद्य-काव्य है। वह सम्राट् हर्ष का आश्रित था, जिसके समय की घटनाओं का इस काव्य में उसने उल्लेख किया है।

(२) **विक्रमाङ्कदेव चरित**—काश्मीरी पण्डित बिल्हण ने, ई० स० की ११वीं शताब्दी के अन्त में, कल्याणी के चालुक्य विक्रमादित्य के समय का सविस्तर वृत्तान्त इस पुस्तक में लिखा है। वह विक्रमाङ्कदेव का राज-पण्डित था।

(३) **रामचरित**—इस काव्य में बङ्गाल के पाल-वंशी राजा राम पाल का वृत्तान्त है। ऐसे ही कुछ और चरित-काव्य मिलते हैं जिनमे भिन्न-भिन्न राजाओं के राज्य-काल की घटनाओं और उनके कार्य्यों का पता चलता है।

पूर्वोक्त ऐतिहासिक साधनों की खोज से प्राचीन भारत का अब एक बृहत् इतिहास लिखा जा सकता है।

चौथा परिच्छेद

वेद-युग की सभ्यता का इतिहास

वेदों का महत्त्व—कहते हैं कि भारत में अरुणोदय के पूर्व अन्धकार और प्रकाश के बीच की सन्धि-वेला अत्यन्त क्षणिक हुआ करती है। अन्धकार के रहते ही प्राची दिशा में प्रकाश अकस्मात् फैल जाता है और सूर्य की रक्त किरणें तुरन्त आकाश को भेदकर प्रकट हो जाती हैं। ठीक ऐसा ही दृश्य भारत की सभ्यता में अग्रसर आर्य जाति के इतिहास में देख पड़ता है। कितनी मन्द गति और कितने प्रयास से वह आर्य-जाति अन्धकार से प्रकाश में, अशिष्टता से सभ्यता की दशा में, पहुँच पाई—इसका वृत्तान्त उसने हमारे लिए नहीं छोड़ा। सबसे पहली बात, जो उसके विषय में हमें ज्ञात है, है ऋग्वेद और ऋग्वेद से प्रमाणित होनेवाली सभ्यता।* वह प्राक्तन सभ्यता उस दूरतम काल में भी बड़ी ही सजीव, प्रौढ़ और होनहार प्रतीत होती है।

वेद आर्य-जाति के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। हिन्दू उन्हें अपने धर्म का मूल मानते हैं—'**वेदोऽखिलो धर्ममूलम्**'। वास्तव में हिन्दू जाति की समग्र संस्कृति, समाज और धर्म के फलने-फूलनेवाले अङ्कुर वेदों में विद्यमान हैं। जगत् के साहित्य में वेद सबसे अधिक प्राचीन हैं और मानव-इतिहास की दृष्टि से परम आदरणीय हैं। उनमें भारत की सभ्यता और प्रतिभा के विकास का पूरा-पूरा—सिलसिलेवार और साफ़—हाल मिलता है, जो दूसरी किसी पुरानी जाति के इतिहास में खोजने पर भी नहीं मिलता। वेद आर्य-जाति के विचारों और भावों के स्वाभाविक तथा सच्चे उद्गार हैं। उन्हें आर्य लोगों ने बड़े परिश्रम से कण्ठस्थ करके काल के ग्रास से बचाया है। वेद-मन्त्रों के कण्ठस्थ करने की परिपाटी प्राचीन समय से अब तक प्रचलित है।

---

* Barnett: Antiquities of India : Introduction.

यदि वेदों की मुद्रित और हस्तलिखित सारी प्रतियाँ नष्ट कर दी जायँ तो उनके प्रत्येक अक्षर का पुनरुद्धार अविकल रूप में, ठीक-ठीक स्वर के साथ, जीवित विद्वानों की वाणी से किया जा सकता है। मनुष्य की स्मरण-शक्ति के प्रयोग का इससे अधिक आश्चर्यजनक दृष्टान्त क्या हो सकता है !

वैदिक साहित्य—वैदिक साहित्य के विकास में अनेक युग लगे थे। प्राचीन आर्यों ने कई शताब्दियों तक अपने ग्रन्थ वैदिक सूक्तों के रूप में बनाये। फिर धीरे-धीरे उन्होंने इस शैली को छोड़कर, कई आगे की शताब्दियों में, सविस्तर गद्य में ब्राह्मण ग्रन्थों को रचा। फिर इस शैली को भी बदलकर इसके आगे की कई शताब्दियों में उन्होंने अत्यन्त संक्षिप्त सूत्रों की शैली-द्वारा अपने साहित्य की रक्षा और श्रीवृद्धि की। अपने इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों में उन्होंने भिन्न-भिन्न साहित्यिक शैलियों का अवलम्बन किया था। उन विभिन्न शैलियों पर विचार करने से आर्य लोगों की प्राचीन साहित्य-राशि का कालक्रमानुसार विभाग किया जा सकता है। प्रत्येक समय का साहित्य आर्य-जाति के तत्कालीन आचार-विचार, देश-स्थिति, समाज, राजनीति और धर्म का विशद चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देता है। यदि हम प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का कालक्रमानुसार अध्ययन करें तो हमें आर्य-संस्कृति के भारतवर्ष में क्रम से विस्तृत होने का पूरा-पूरा पता चलता है। ऋग्वेद के सूक्त सप्तसिन्धु के प्रदेश अर्थात् पञ्जाब में रचे गये थे। ऋग्वेद के परवर्ती युग में आर्य-संस्कृति का केन्द्र गङ्गा-यमुना का विस्तीर्ण प्रदेश हो गया था। कुरु, पाञ्चाल, कोसल, काशी, विदेह नाम के प्रतापशाली आर्य-राज्य वहाँ इस युग में स्थापित हुए थे। इसलिए भारत के इस प्रदेश का नाम '**आर्यावर्त**' पड़ा। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों से आर्यावर्त के इतिहास का पता चलता है। सूत्र-शैली के साहित्य का अन्वेषण करने से ज्ञात होता है कि भारत के पूर्व और दक्षिण प्रान्तों में भी आर्य-संस्कृति का आगामी युगों में धीरे-धीरे पदार्पण हो रहा था। सूक्तों से वेद-युग के आर्यों की सरलता, वीरता, स्तुतिमयी देवोपासना और तत्त्व-जिज्ञासा प्रकट होती हैं। उनके उपरान्त ब्राह्मण-युग में यज्ञ-यागादि का आडम्बर-युक्त कर्मकाण्ड प्रचलित हो गया। तत्पश्चात् उपनिषद् और सूत्रों के साहित्य

में बुद्धि-युग की विद्या और शास्त्र की चर्चा फिर से प्रारम्भ हो जाती है। यह वेद के ज्ञानकाण्ड का युग है। अतएव हिन्दू धर्म में वेद त्रिकाण्ड अर्थात् उपासना, कर्म और ज्ञान के काण्डों से संवलित माना गया है।*

वेद—'वेद' शब्द का अर्थ ज्ञान है।† हिन्दुओं का विश्वास है कि यह ज्ञान ऋषियों के हृदय में उद्बुद्ध हुआ था और वेद कभी रचे नहीं गये, क्योंकि वे नित्य और अपौरुषेय हैं।‡ ऋषि वेद-मन्त्रों के द्रष्टा कहलाते हैं। हिन्दू समस्त वैदिक साहित्य को '**श्रुति**' कहते हैं, क्योंकि उनकी ऐसी धारणा है कि पूर्व के ऋषियों ने सत्य का श्रवण और दर्शन किया था। वेद-युग के पश्चात् नये ऋषियों ने प्राचीन ज्ञान का स्मरण कर नये ग्रन्थ रचे। ये ग्रन्थ '**स्मृति**' (अर्थात् स्मरण किया हुआ ज्ञान) कहलाते हैं। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। प्रत्येक वेद के तीन भाग हैं। (१) **संहिता** वेद के मन्त्रों के संग्रह का नाम है। (२) **ब्राह्मण**—इनमें वेद-मन्त्रों की गद्य में व्याख्या की गई है और यज्ञों का विवरण है। ब्राह्मणों के अन्तर्गत '**आरण्यक**' भी हैं। इन गूढ़ विद्या के ग्रन्थों का मनन कदाचित् वन में एकान्त

---

* 'काण्डत्रयात्मको वेदः।'

† 'नहि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसि'।

ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः—साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः॥—निरुक्त १-२०।

संस्कृत शब्द 'वेद' विद् धातु से बना है। उसी धातु से लैटिन भाषा का Videre(= to see) और अँगरेजी के Wit, Wisdom, Idea शब्द निकले हैं। इसलिए वेद शब्द के लिए यथार्थ अँगरेजी का शब्द Vision(=दर्शन) या Idea (=ध्यान और ध्येय) है। इसी कारण जिन महापुरुषों को यह महान् दर्शन या ज्ञान हुआ, उन्हें हम ऋषि अर्थात् द्रष्टा कहते हैं। अतएव ज्ञान के उन संगृहीत ग्रन्थों को वेद कहते हैं जिन पर भारतीय धर्म और तत्त्वदर्शन के मुख्य मुख्य सम्प्रदाय अवलम्बित हैं। वस्तुतः भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास के सभी तत्त्व वेद में बीजरूप से विद्यमान हैं।

‡ वेदास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥—भागवत।

रहकर किया जाता था। (३) उपनिषद्—इनमें ऋषियों ने ब्रह्म-विद्या के गम्भीर उपदेश दिये हैं। वेदों के ज्ञान-काण्ड का पर्यवसान इन्हीं ग्रन्थों में है, अतएव इन्हें 'वेदान्त' भी कहते हैं।

वेदाङ्ग-सूत्र—जब वेद का साहित्य अधिक विस्तृत हो गया तब उसके कण्ठस्थ करने का सुगम मार्ग निकाला गया। थोड़े से थोड़े शब्दों में बहुत सा अर्थ व्यक्त करने का यत्न किया गया। ऐसी संक्षिप्त पदावली को सूत्र कहते हैं। वेदाङ्ग के सभी विषयों पर सूत्र ग्रन्थ रचे गये। सूत्र-कार एक सूत्र में आधी मात्रा के लाघव को एक पुत्र-जन्म के सदृश आनन्दप्रद मानते थे। वेदों का अर्थ समझने के लिए कई अन्य विषयों के अध्ययन की आवश्यकता थी। वे विषय छः थे जिन्हें '**वेदाङ्ग**' कहते हैं। षडङ्ग के परिशीलन बिना वेदाध्ययन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। ये छः अङ्ग निम्नलिखित हैं—

(१) **शिक्षा**—मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करना, (२) **छन्द**, (३) **व्याकरण**, (४) **निरुक्त** अर्थात् शब्द-व्युत्पत्ति, (५) **कल्प** अर्थात् यज्ञादि कर्म करने की विधियाँ, (६) **ज्योतिष**। **कल्प-सूत्रों** के तीन विभाग हुए—(१) **श्रौत-सूत्र**—इनमें बड़े-बड़े यज्ञों के सम्पादन की विधियों का वर्णन है। (२) **गृह्य-सूत्र**—इनमें घर में किये जानेवाले धार्मिक कृत्यों और संस्कारों का विवेचन है। (३) **धर्म-सूत्र**—इनमें दिनचर्या और सामाजिक व्यवहार के नियमों का विवरण है। इन धर्मसूत्रों के आधार पर मनु, याज्ञवल्क्य आदि ऋषि-प्रणीत धर्मशास्त्र के ग्रन्थ आगे चलकर बने थे।

ऋग्वेद संहिता—ऋग्वेद में सब १०२८ सूक्त हैं। ये दस मण्डलों में विभक्त हैं। इन सूक्तों में कुछ प्राचीन और कुछ नवीन हैं। दशम मण्डल के सूक्त दूसरे मण्डलों के सूक्तों की अपेक्षा नवीन प्रतीत होते हैं। इन सूक्तों का संग्रह संहिता में ऐतिहासिक पद्धति से नहीं किया गया। अतएव ये सूक्त वैदिक भारत के इतिहास की जुदी-जुदी अवस्थाओं का निर्देश करते हैं, यह इनके अनुशीलन से स्पष्टतया प्रमाणित नहीं होता। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि ऋग्वेद के साहित्य के विकास में कई शताब्दियाँ लगी होंगी। वेद की भाषा बोलचाल की नहीं, वरन् साहित्यिक है। अनेक छन्दों में उसके मन्त्र

रचे गये हैं। कहीं-कहीं ऋषियों की कविता का चमत्कार हमें अचम्भे में डाल देता है। पवित्र होने के कारण इन मन्त्रों में अद्यावधि लेश-भर भी फेर-फार नहीं हुआ। अतएव, आर्य्य-सभ्यता के इतिहास के लिए ऋग्वेद अत्यन्त विश्वसनीय ग्रन्थ है। कभी छोटे बच्चों की सी सरलता से, कभी कल्पना की सुचारुता या नवीनता से, कभी वर्णन की प्रौढ़ता और कभी प्रतिभा की ऊँची उड़ान से ऋग्वेद के क्रान्तिदर्शी कवि अपने उद्गारों से बहुत से स्थलों पर हमें आकृष्ट करते हैं। **यजुर्वेद-संहिता** का कुछ भाग गद्य में और कुछ पद्य में है। यज्ञ के समय पढ़े जानेवाले मन्त्रों का इसमें संग्रह है। इसमें यज्ञ के मन्त्रों के साथ उनके व्याख्यान और तत्सम्बन्धी यज्ञ-कर्म का वर्णन किया गया है। **सामवेद** में प्रायः ऋग्वेद की ही ऋचाएँ पाई जाती हैं, जो विशेष प्रकार के ताल-स्वरों में गाई जाती थीं। **अथर्ववेद** में बहुत से भूतों और पिशाचों का उल्लेख है जिनसे बचने के लिए बहुत से मन्त्र-तन्त्र इसमें पाये जाते हैं। किन्तु ऐसे मन्त्रों के साथ इसमें दार्शनिक विचारों का भी संनिवेश है। ऐसा मालूम होता है कि अथर्ववेद में आर्यजाति के बहुत ही प्राचीन और नवीन विचारों का संग्रह किया गया था।

हम पहले बतला चुके हैं कि वैदिक साहित्य बहुत विशाल है। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना में अनेक युग व्यतीत हुए थे। उन युगों में कई रचना-शैलियाँ भी बदलीं। वेद की अनेक शाखाएँ भी लुप्त हो गईं। किन्तु वैदिक साहित्य का जो कुछ अंश बच रहा है वह भी परिमाण में पाश्चात्य सभ्यता के संस्थापक यूनानियों के समग्र साहित्य के बराबर है। इतनी विशाल विद्या की निधि की सहस्रों वर्षों से आर्य-जाति ने रक्षा की—इसके लिए जगत् उसका बहुत ऋणी है।

आर्यों के युद्ध—ऋग्वेद में आर्य लोगों के अनार्य जातियों से युद्ध करने के बहुत से प्रमाण मिलते हैं। वे अनार्य जातियाँ **'दास'** या **'दस्यु'** कहलाती थीं। वे न तो यज्ञ करती थीं और न आर्य्य लोगों के देवताओं की पूजा करती थीं। उनकी नाक चपटी—**'अनासः'**—और उनकी भाषा कोलाहल-पूर्ण—**'मृध्रवाचः'**—थी। वे कदाचित् द्रविड़ जाति

के लोग थे, जो इस समय पञ्जाब, सिन्ध और बलोचिस्तान तक फैले हुए थे। उनके पास बहुत से पशु और क़िले थे। वे लोग अपनी भूमि का ज़रा सा टुकड़ा देने के पहले आर्यों से दृढ़ता के साथ लड़ते थे। द्रविड़ तथा अन्य असभ्य जातियाँ बिलकुल निर्मूल नहीं कर दी गईं। कुछ तो आर्य-सभ्यता के बढ़ते हुए प्रवाह के सामने भागकर उन पहाड़ियों और दुर्गम प्रदेशों में जा बसीं जहाँ उनकी सन्तान अब तक हैं। कुछ जातियों ने विजयी आर्यों का प्रभुत्व स्वीकार कर धीरे-धीरे उनकी सभ्यता और भाषा को ग्रहण कर लिया। वे 'दास' और 'दासी' कहलाने लगे। ऋग्वेद से पता चलता है कि आर्य लोग स्वयं भी आपस में लड़ते-भिड़ते थे। **सुदास** नाम के आर्य राजा ने रावी नदी पर दस राजाओं की सम्मिलित सेनाओं को पराजित किया था।* आर्य, जो सिन्धु से सरस्वती के किनारे तक धीरे-धीरे आकर बसे थे, कट्टर और रणप्रिय लोग थे। उन्होंने निरन्तर युद्ध करके भूमि पर अपनी स्थिति और अपनी स्वाधीनता क़ायम रक्खी थी।

आर्य-जाति का विस्तार—आर्य लोग भारत में कहाँ से और कैसे आये, इसका ऋग्वेद से कुछ पता नहीं चलता। ऋग्वेद में जिस देश का वर्णन है वह तो अफ़ग़ानिस्तान से गङ्गा-यमुना तक का प्रदेश है। उसमें **कुभा** (काबुल), **सुवास्तु** (स्वात), क्रमु (कुर्रम) और **गोमती** (गोमल) नदियों के नाम मिलने से अनुमान होता है कि आर्य पहले पहल अफ़ग़ानिस्तान में बसे हुए थे। सिन्धु नदी पर ही उनकी अधिक बस्ती थी। पञ्जाब की पाँचों नदियों और गङ्गा-यमुना का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है। एक ऋचा में **गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्रि** (सतलज), **विपाश** (बिआस), **परुष्णी** (रावी), **असिक्नी** (चिनाब), **वितस्ता** (झेलम) आदि नदियों की स्तुति की

---

* दशराजानः समिता अयज्यवः।
सुदासमिन्द्रा वरुणा न युयुधुः ॥—ऋ० ७-८८।
'हे इन्द्र और वरुण! वे यज्ञ न करनेवाले दस राजा मिलकर भी सुदास को हराने में समर्थ नहीं हुए।'

गई है।* इन नदियों से सींचा हुआ प्रदेश आर्य-सभ्यता का जन्म-स्थान था। यहीं वेद-मन्त्र रचे गये थे। यहीं भारत के ज्ञान, धर्म, काव्य और कथाओं का विकास हुआ था। यदि आर्य इस देश में मध्य एशिया से आये, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, तो इसमें भी सन्देह नहीं कि ऋग्वेद के निर्माण-काल में आर्य-जाति ने हिन्दूकुश से गङ्गा-यमुना तक का विशाल देश अपने अधीन कर लिया और उसमें अपनी संस्कृति फैला दी। ऋग्वेद के ऋषि हिमालय से भली भाँति परिचित थे, किन्तु उन्होंने विन्ध्य पर्वत और नर्मदा नदी का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इससे अनुमान होता है कि आर्य लोग अभी दक्षिण की ओर अग्रसर नहीं हुए। वे पूर्व में बिहार और बङ्गाल के देशों से भी भले प्रकार परिचित न थे, क्योंकि मन्त्रों में न तो चीते का, जो बङ्गाल के जङ्गलों में पाया जाता है, उल्लेख है और न वहाँ ख़ास तौर से पैदा होनेवाले चावल का।

सिन्धु नदी से गङ्गा तक के प्रान्तों में बसे हुए आर्य लोग पशु-चारण करनेवाली जातियों की भाँति जङ्गम न थे, बल्कि एक सुसङ्गठित समाज में रहते हुए कृषि आदि व्यवसाय करते थे। उन पर राजाओं का शासन था जिनके नामों का ऋग्वेद में उल्लेख है। राजा क़िलों (पुरों) में रहते थे, और समारोह से दरबार करते थे। मन्त्री, गुप्तचर, दूत और दरबार के सदस्य उनकी आज्ञा में तत्पर रहते थे। सभा और समिति में सार्वजनिक विषयों पर लोग मिलकर विचार और निर्णय करते थे। आर्यों का पारिवारिक जीवन सङ्गठित राष्ट्र का दृढ़ आधार था। उनके अनेक परस्पर-सम्बन्धी परिवार बड़े-बड़े सगोत्र **कुल** कहलाते थे। ऐसे अनेक कुलों के समुदाय की **जातियाँ** (जन) बनी हुई थीं। ऋग्वेद में ऐसे भिन्न-भिन्न जन-समुदायों का वर्णन मिलता है। **भरत, मत्स्य, यदु, पुरु, द्रुह्यु, अनु, कुरु** आदि जातियों में ऋग्वेद के आर्य लोग विभक्त थे।

वैदिक शासन-पद्धति—वैदिक काल में आर्य-जाति कई जन-समूहों में विभक्त थी जिन पर राजा का शासन था। राजा का अधिकार प्रायः परम्प-

---

* इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि-स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥—ऋग्वेद, नदी-सूक्त।

रागत हुआ करता था। दिवोदास, सुदास, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु आदि राजा एक ही वंश में हुए थे। प्रजा की रक्षा करना, शत्रुओं से लड़ना तथा शान्ति के समय यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान करना राजाओं के मुख्य कर्तव्य थे। विजित लोगों से और अपनी प्रजा से वे कर, शुल्क और भेंट (बलि) लेते थे। राजा के अनुचर-वर्ग में **सेनानी, ग्रामणी** और **पुरोहित** मुख्य थे। सेनानी बड़ी सेना का और ग्रामणी छोटे रिसाले का अफ़सर होता था। पुरोहित का राज-शासन पर प्रभाव राजा के धर्म-गुरु होने के कारण अधिक था। राजाओं से दान-दक्षिणा भी पुरोहितों को खूब मिला करती थी। राजा स्वेच्छाचारी न थे। अपने राज्य में वे अनियन्त्रित सत्ता न भोगते थे। वैदिक साहित्य में **'सभा'** और **'समिति'** का उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है। इन संस्थाओं के द्वारा प्रजा अपना मत प्रकट करती थी। राजा समिति में स्वयं उपस्थित होकर लोकमतानुसार सार्वजनिक कार्य करते थे। उनके राज-भवन लकड़ी के होते थे। सभा में प्रजा राजघराने से राजा चुना करती थी और पुरोहित मन्त्रों से उसका राज्याभिषेक करता था। मन्त्रों में कई श्रेणी के राजाओं का उल्लेख है। **'राजा'** से बड़ा **'स्वराट्'** अर्थात् स्वाधीन और उससे अधिक शक्तिशाली **'सम्राट्'** कहलाता था।

मन्त्रों में अनेक धनवान् और दानशील पुरुषों का वर्णन आता है। वे 'मोतियों से सजे हुए घोड़ों' के रथों में बैठकर चला करते थे तथा चमकते हुए आभूषण पहनते और धन का खूब व्यय करते थे। प्रजा में दरिद्र भी थे जिन्हें ऊँचे ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था। दुर्भिक्ष कभी-कभी पड़ते थे।

आर्य-कुटुम्ब की व्यवस्था—आर्यों के कौटुम्बिक जीवन में विवाह के नियम पवित्र माने गये थे। इससे उनके कुटुम्ब स्वच्छ और सुखमय थे। पति-पत्नी के सम्बन्ध की पवित्रता और मधुरता का भाव उनके हृदय में घर कर बैठा था। स्त्रियाँ ही घर की स्वामिनी थीं और धार्मिक कृत्यों में अपने पति के साथ भाग लेती थीं। उस समय पर्दे की प्रथा न थी। वैदिक समाज में स्त्रियों का प्रतिष्ठित स्थान था। यज्ञ और धर्म के कामों में वे सम्मिलित होती थीं और बड़ी-बड़ी सभाओं में जाती थीं। उनमें विदुषी स्त्रियों ने वेद-मन्त्र रचे थे। ऋग्वेद के

ऋषियों की नामावली में विश्ववारा, अपाला, घोषा आदि सूक्त रचनेवाली स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं। देवताओं को साक्षी कर विवाह में वर और कन्या दोनों जीवन भर के साथी बनने के लिए परस्पर प्रतिज्ञाएँ करते थे। विवाह के पश्चात् आपस में सम्बन्ध-विच्छेद करने की प्रथा आर्य लोगों में न थी। ऋग्वेद में एक स्त्री के एक से अधिक पतियों के होने का कहीं भी उल्लेख नहीं। राजा लोग कभी-कभी एक से अधिक विवाह कर लेते थे, किन्तु समाज का साधारण नियम सबके लिए एकपत्नीव्रत होने का ही था। स्त्रियों के आचार-विचार उच्च कोटि के थे। वर और कन्या दोनों अपनी इच्छा से विवाह कर सकते थे। उस समय विधवा-विवाह की प्रथा नहीं थी। पति-पत्नी के सिवा आर्य-परिवार में माता-पिता, भाई-बहिन और स्वामी-सेवक के पारस्परिक सम्बन्ध मधुर और प्रेम-पूर्ण थे। आर्य-परिवारों के ऊँचे आदर्शों का हिन्दू-समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्हीं आदर्शों का सुचारु चित्रण पश्चात्-कालीन रामायण और महाभारत में किया गया था।

आर्य-जाति के उद्योग-धन्धे—आर्यों का मुख्य व्यवसाय कृषि और गो-पालन था। वे गेहूँ और जौ की खेती करते थे और कृषि की सभी साधारण प्रक्रियाओं से परिचित थे। वे नालियाँ (कुल्याएँ) खोदकर खेतों की सिंचाई करते थे। वे बागों में फल के वृक्ष भी लगाते थे। वे शिकार के भी बड़े प्रेमी थे। शेर और हरिणों के पकड़ने में वे दक्ष थे। वे दस्तकारी के कामों में निपुण थे। बढ़ई (तक्षन्) रथ और गाड़ियाँ बनाना जानते थे। वे लकड़ी पर नक्काशी भी कर सकते थे। लुहार (कार्मार) लोहा, ताँबा और पीतल के बर्तन अच्छी तरह गढ़ सकते थे। चाँदी-सोने के आभूषण, लोहे की तलवार, ढाल, कुल्हाड़ी, तीर आदि भी उस समय बनाये जाते थे। कर्मकार तरह-तरह के छुरे, अस्त्र-शस्त्र और सूइयाँ बनाते थे। सुवर्ण-कार कई तरह के आभूषण बना सकते थे। उस समय चमड़े की चीज़ें भी बनाई जाती थीं। चर्म का साफ़ करना, चटाइयाँ बुनना, सीना-पिरोना, ऊन और रुई का कपड़ा बुनना आदि व्यवसाय भी ऋग्वेद-काल में प्रचलित थे।*

* पुरातत्त्वज्ञ ए० एच० सेस (A. H. Sayce) ने ई० स० १८८७ के अपने

उनकी पोशाक केवल दो-तीन कपड़ों की होती थी। वे ऊनी कपड़ों का भी उपयोग करते थे। सुनहरे काम के या रङ्ग-बिरङ्गे कपड़े पहनकर वे अपनी विलास-प्रियता दिखाते थे और तैल लगाकर कंघी से केश-रचना किया करते थे। वे हजामत बनाना जानते थे, लेकिन डाढ़ी रखना पसन्द करते थे। घी, दूध, मठा, फल, शाक, रोटी आदि वे अधिकतर खाते थे। यज्ञ और अतिथि-सत्कार के समय वे कदाचित् पशुहिंसा करते थे, किन्तु गौ को वे पवित्र और 'अघ्न्या'—हत्या के अयोग्य—मानते थे। ऋषि लोग सुरा-पान का निषेध करते थे, किन्तु सोमरस बड़े प्रेम से यज्ञों में पीते थे। आज कल की चाय और कॉफ़ी के समान सोमरस भी उत्तेजक रहा होगा। 'सोम-पान करें, अमर बनें, ज्योति में पहुँचें, देवों को जानें'—इस प्रकार की वैदिक प्रार्थना से प्रकट होता है कि सोम मादक नहीं बल्कि कोई उत्तेजक वस्तु थी। ऋग्वेद के समय में नदियों में नावों का भी उपयोग होता था। विदेशों से जहाज़ों द्वारा भारत का व्यापार उस समय भी होता था। मन्त्रों में सौ डाँड़ों की नावों पर समुद्र की यात्रा करनेवाले व्यापारियों का उल्लेख मिलता है। वाणिज्य में उस समय विनिमय की प्रथा थी। गौ से वस्तुओं का मूल्य आँका जाता था। वैदिक समाज के कई तरह के उद्योग-धन्धों में काफ़ी श्रम-विभाग हो चुका था। अतएव, तरह-तरह की वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए विनिमय का साधन आवश्यक था। वह साधन पहले गौ थी, और पीछे से गौ के बदले सोने, चाँदी आदि धातुओं का उपयोग होने लगा। वेद-युग में 'निष्क' नामक एक सोने के सिक्के का व्यवहार शुरू हो गया था।

आर्य लोग सुन्दर घर (शाला) बनाकर रहते थे जिसमें बाँस, फूस और लकड़ी का अधिक उपयोग किया जाता था।

हिबर्ट व्याख्यानों (Hibbert Lectures) में कहा था कि बैबिलन देश की अतिप्राचीन कपड़ों की सूची में 'सिन्धु' शब्द का मलमल के अर्थ में प्रयोग किया गया है और ठीक सिन्धु शब्द से मिलता-जुलता शब्द उसी अर्थ में ग्रीक और यहूदी लोगों में प्रचलित है। सेस का कथन है कि सिन्धु शब्द कपड़े के अर्थ में चल्डियावा प्रयुक्त करते थे, क्योंकि यह कपड़ा सिन्धु नदी के प्रदेश से उन्हें उपलब्ध होता था।

वैद्यक का पेशा भी उस समय होता था। मन्त्र और जड़ी-बूटी की ओषधियों से भिषक् (वैद्य) रोगों की चिकित्सा करते थे। उन्हें रोगों और शरीर के अङ्गों का अच्छा ज्ञान था। शल्य-चिकित्सा (Surgery) में भी वे दक्ष थे।

ऋग्वेद के काल में आर्य लोग युद्ध-कला में उन्नति कर चुके थे। उनकी सेना में गज, रथ, तुरग और पदाति चारों अङ्ग मौजूद थे। दुन्दुभी बजा-कर वे युद्ध करते थे। वे कवच से शरीर ढक लेते थे। उस समय कई तरह के अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग होता था।

आर्यों का संगीत-प्रेम और उनके आमोद-प्रमोद—आर्य लोग रथों में बैठकर बड़े शौक़ से घुड़दौड़ किया करते थे। यह उनके मनो-विनोद का बड़ा साधन था। कुछ लोगों को जूआ खेलने का व्यसन था। ऋग्वेद में एक द्यूतकार के विलाप करने का वर्णन है, जो कदाचित् जुए में अपना सर्वस्व खो बैठा था। 'अक्षों से मत खेल, कृषि-कार्य कर, थोड़े धन को बहुत मानकर सुख से निर्वाह कर' इत्यादि उपदेश भी उसी सूक्त में विलाप करनेवाले जुआरी को किया गया है। आर्य लोग नृत्य और सङ्गीत के भी बड़े प्रेमी थे। वैदिक साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रकार की वीणाओं के नाम मिलते हैं। झाँझ को 'आघाट' कहते थे जिसका प्रयोग नृत्य के समय होता था। मृदङ्ग आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य 'आडम्बर', 'दुन्दुभि' आदि नामों से प्रसिद्ध थे। वंशी के नाम 'तूणव' और 'नाड़ी' मिलते हैं। तार के वाद्यों का प्रचार उसी जाति में होना सम्भव है जिसने सङ्गीत में पूर्ण उन्नति कर ली हो।

ऋग्वेद-कालीन आर्य-धर्म—मानव-जाति के इतिहास की अबोध दशा के आचार-विचार ऋग्वेद में नहीं मिलते। वेद का धर्म प्रौढ़ विचार और सद्भावों से परिपूर्ण है। वेद के मन्त्रों में आर्य-जाति की उन्मेष-शालिनी प्रतिभा का स्वच्छ प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। ऋषियों के धार्मिक विचार उनकी गम्भीर तत्त्व-जिज्ञासा और भक्ति-भाव से उत्पन्न हुए थे। प्रकृति की पूजा करते-करते ऋषि प्रकृति के नियन्ता, एक अनादि, अनन्त परमात्मा की उपासना करने लगे। सूर्य, चन्द्र, वायु, मेघ, अरुणोदय,

अग्नि आदि इस सृष्टि के अद्भुत और सुन्दर पदार्थों में परमेश्वर का वास है, यह भावना ऋषियों के मन में दृढ़ हो गई थी।※ वे प्रकृति के इन भिन्न-भिन्न दृश्यों को सगुण और चेतना-युक्त मानते थे और उनकी स्तुति करते थे। धीरे-धीरे प्रकृति के इन भिन्न रूपों से प्रतीयमान भावों में एक ही अखण्ड और चेतन सत्ता का अनुभव ऋषियों को होने लगा था। आकाश में जैसे तारे चमकते हैं वैसे ही प्रकृति के ये सब रूप परमात्मा के तेज से चमकते हैं। इस भावना से प्रेरित होकर वे प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों को और उनमें वास करनेवाले प्रभु के रूप को 'देव'—द्योतन-शील—दीप्तिमय—कहकर पुकारते थे।

ऋग्वेद के मुख्य देवता—(१) इन्द्र वृष्टि के देवता हैं। वे अपने वज्र के द्वारा पर्वतों को चीरकर दैत्यों से बाँधी हुई गायों को छुड़ाते हैं, दैत्यों को मारते हैं और आर्य लोगों को युद्ध में विजय देते हैं। इन्द्र और दैत्यों का युद्ध आकाश में होनेवाले बादलों की घनघोर घटा और उसकी गर्जना का द्योतक है। वज्र बिजली का और पर्वत बादलों की घटा का सूचक है। बिजली से बादलों को चीरकर इन्द्र वृष्टि करते हैं, मानों दैत्यों द्वारा पर्वतों में बाँधी हुई गायों को छुड़ाते हैं। वैदिक देवताओं में इन्द्र सबसे प्रबल हैं। वे युद्ध में प्रसन्न होनेवाले, अनावृष्टि से लड़नेवाले, विजयी आर्य जाति के नेता हैं।

(२) वरुण और मित्र—सारे विश्व में व्यापक मनुष्य के पाप-पुण्य के सदैव साक्षी देवता वरुण हैं। ऋग्वेद के वरुण-सम्बन्धी सूक्तों में बड़े ऊँचे और पवित्र विचार मिलते हैं। वरुण सर्वज्ञ और सर्वसाक्षी हैं। उनसे कोई बात छिपी नहीं। वे, दया करके, मनुष्यों का पापों से उद्धार करते हैं। रात्रि में जब सब तरफ़ अन्धकार छाया रहता है तब भी वरुण देव जागते रहते हैं। वे मनुष्यों के सत्य और अनृत को देखते हैं।† वे विश्व को नियमबद्ध

※ 'माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।'—यास्क।

—अर्थात् परमात्मा के एक होते हुए भी बहुत प्रकार से उनकी स्तुति की जाती है। एक ही आत्मा के अन्य देवता भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं।

† 'सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्' ऋग्० ७. ४९. ३।

रखते हैं। वे प्रकृति के अटल नियमों की रक्षा करनेवाले हैं। ऋषियों का दृढ़ विश्वास था कि यह सारा विश्व एक सत्य की ही सीधी रेखा पर चलता है। उस सत्य की रेखा अर्थात् ऋत पर विश्व को चलानेवाले वरुण देव हैं।

(३) **सूर्य, सविता**—इस जगत् के सब पदार्थों के उत्पन्न करनेवाले और चलानेवाले देवता हैं। लाखों हिन्दू आज भी सविता के सूक्त का प्रातःकाल प्रेम से पाठ करते हैं। इसे 'गायत्री-मन्त्र' कहते हैं।*

(४) **विष्णु**—समस्त विश्व में व्यापक विष्णु कहलाते हैं। वे तीन डगों में आकाश को पार कर डालते हैं।† उनका धाम मधुरता, सुख और तेज से भरपूर है।

(५) **रुद्र**—यह देवता क्रोध और प्रचण्डता की मूर्ति हैं। इनका भयानक रूप आँधी और प्रज्वलित अग्नि में दिखाई देता है।

(६) **अग्नि**—ऋग्वेद के देवताओं में अग्नि को बड़ा आदरणीय स्थान मिला था। अग्नि में हवन की हुई वस्तु देवताओं को मिलती है। इसलिए वह देवताओं का होता अर्थात् बुलानेवाला कहा जाता है।

(७) **यम**—हमें नियम में रखनेवाले हमारे परलोक के देवता हैं।

(८) **उषस्**—यह प्रभात समय की देवी हैं। प्रभात-वेला की सुन्दर छटा का वर्णन जैसा ऋग्वेद के सूक्तों में किया गया है वैसा किसी भी प्राचीन जाति के गीति-काव्य में नहीं पाया जाता।

सरस्वती—इस नाम की नदी के तट पर पवित्र सूक्त रचे गये थे। इसलिए, सूक्तों की अधिष्ठात्री देवी मानकर ऋषि सरस्वती की पूजा करते थे।

अदिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, पुरुष—'**अदिति**' का अर्थ अखण्ड, अपरिमित और अनन्त है। यह पहला नाम है, जिसे मनुष्य ने अनन्त को, अर्थात् अखण्ड आकाश को, और उस अनन्त विस्तार को—जो पृथ्वी, मेघ और आकाश से भी परे है—प्रकट करने के लिए गढ़ा था। अदिति विषयक

---

* "तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।"

हम उस दिव्य सविता के मनोहर प्रकाश का ध्यान करते हैं जो हमें पवित्र कर्मों में प्रवृत्त करता है। ३. ६२. १०।

† 'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्'।

कल्पनाओं से प्रकट होता है कि आर्य-जाति के धार्म्मिक विचार इस समय तक बहुत उन्नत हो चुके थे। परमेश्वर-रूपी तेज के अण्डे से मानो यह सारा विश्व पर फड़फड़ाकर निकला है, इस भावना से ऋषि उसी परमेश्वर का 'हिरण्यगर्भ' के नाम से संबोधन करते थे। इस जगत् का रचनेवाला वही है।* इसी कारण उसे विश्वकर्मा कहते हैं। वही इस जगत् में आत्मरूप से व्याप्त है। इसलिए उसे 'पुरुष' कहते हैं। 'वही एक सत् है, जिसे विद्वान् बहुत प्रकार से कहते हैं।'†

यह विश्व कहाँ से आया, किसने रचा, किस रीति से रचा इत्यादि जगत् और ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नों पर ऋग्वेद के ऋषियों ने बड़ा गम्भीर विचार किया था। उनके उन विचारों पर मनन करने से जान पड़ता है कि वे किस प्रकार से प्रकृति के देवताओं की कल्पना से आगे बढ़कर और विचार के उच्च शिखर पर चढ़कर अनेक देवों में विराजमान एक परमात्मा को समझ पाये थे। ‡ ऋषि लोग एक ईश्वर की अनेक देवता-रूपी शक्तियों की स्तुति करते, अग्नि में उनके निमित्त आहुति देते और उनसे धन, धान्य, पशु और कुटुम्ब के सुख की याचना करते थे। ऋग्वेद के सूक्तों में उत्कृष्ट और उदार सदाचार की शिक्षा पाई जाती है। वेदों में किसी दुष्ट या निर्दयी देवी-देवता का वर्णन नहीं है। जो-जो उत्तम विचार और कल्पनाएँ ऋषियों ने देवताओं के विषय में की थीं उनका उनके आचरण पर गहरा प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। उनका विश्वास था कि देवता मनुष्य को सदाचारी और सत्यवादी देखकर प्रसन्न होते हैं, वे मनुष्यों पर दया करते हैं और उन्हें दया करने का ही आदेश करते हैं। वेद के सूक्तों से आर्यों के सदाचार की श्रेष्ठता और उनके जातीय जीवन की पवित्रता प्रकट होती है।

---

* हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

† 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निमिन्द्रं मातरिश्वानमाहुः'।

‡ एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः।
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥

पाँचवाँ परिच्छेद

ब्राह्मण और उपनिषद्-युग

वेदों का रचना-काल—वेद कब रचे गये और उनमें जिस सभ्यता का वर्णन है उसका प्रादुर्भाव किस काल में हुआ, इन प्रश्नों के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक कल्पनाएँ की हैं। लोकमान्य तिलक और याकोबी (Iacoby) ने वेद का रचना-काल ईसा के जन्म के चार हज़ार पाँच सौ वर्ष पूर्व माना है। मैक्स-मूलर ने वेद-मन्त्रों, तथा वैदिक साहित्य और सभ्यता के विकास-क्रम पर विचार करते हुए यह निश्चय किया है कि ई० पू० छठी शताब्दी में बौद्ध और जैन धर्मों के प्रारंभ होने के कई शतक पहले ही विशाल वैदिक साहित्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग—**मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग-सूत्र**—पल्लवित हो चुके थे। उसके मतानुसार सूत्र-साहित्य का काल ई० पू० ६००—२०० तक था, ब्राह्मण ग्रन्थों का ई० पू० ८००—६०० और ऋग्वेद के मन्त्रों का ई० पू० २०००–१००० तक था। किन्तु वैदिक साहित्य के विकास का पूर्वोक्त काल-क्रम केवल कल्पना-मूलक है। ऋग्वेद से लेकर बौद्ध-धर्म के आरम्भ तक आर्य-जाति के आचार-विचारों में, भाषा में, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में जो-जो परिवर्तन हुए उनके सम्पन्न होने में सिर्फ़ पाँच या छः सदियाँ लगीं, इस प्रकार एक युग से दूसरे युग के बीच की काल-गणना हमें अत्यन्त न्यून प्रतीत होती है। वैदिक साहित्य में सबसे पहले ऋग्वेद के मन्त्र हैं जिनके विकास में ही अनेक शताब्दियाँ लगी होंगी। उसके परवर्ती काल में वेद की दूसरी संहिताएँ बनीं। उनके पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। फिर उपनिषद, वेदाङ्ग और सूत्रों का बृहत् साहित्य क्रमशः बना। इस समस्त साहित्यिक विकास-क्रम में पाँच सदियों से कहीं अधिक समय लगा होगा। महर्षि पाणिनि के समय की भाषा से सूत्रों की भाषा प्राचीन है और सूत्रों से ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा

प्राचीन है। इन दोनों से प्राचीन वेदों के छन्द हैं, जो सब एक ही समय नहीं बने थे। वेदों की संहिताओं में 'प्राचीन, मध्य-कालीन और नवीन मन्त्रों' का निवेश किया गया था। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार महाभारत-युद्ध के समय महर्षि व्यास ने वेदों की संहिताएँ रची थीं जिसके बहुत पहले छन्दों की रचना हो चुकी थी। पुराणों के अनुसार महाभारत-युद्ध महापद्मनन्द (ई० पू० चौथी शताब्दी) के अभिषेक से १०५० वर्ष पूर्व हुआ था।* तद्-नुसार वेदों का छन्द-काल महाभारत युद्ध, अर्थात् लगभग ई० पू० १४००, से बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद (१०, ६०, ४) में इक्ष्वाकु राजा का उल्लेख है। पुराणों के राजवंशों के अनुसार इक्ष्वाकु के समय से महाभारत-युद्ध तक इक्ष्वाकु-वंश के लगभग १०० राजाओं की परम्परा का वर्णन है। यदि एक राजा का २० वर्ष का भी राज्य-काल मान लिया जाय तो इक्ष्वाकु महाभारत से करीब दो हज़ार वर्ष पहले के सिद्ध होते हैं। इक्ष्वाकु के समय तक वैदिक सभ्यता क्रम से कुभा और सिन्धु नदी से आगे बढ़कर गङ्गा-यमुना के पूर्व प्रदेशों में फैल चुकी थी। इतने बृहत् प्रदेश पर आर्य-जाति का अधिकार कई सदियों में स्थापित हो सका होगा। पूर्वोक्त युक्तियों से इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक सभ्यता का आरम्भ-काल यद्यपि ठीक-ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता तथापि वह अत्यन्त प्राचीन है। वस्तुतः, वेद प्राचीनता के ऊँचे एकान्त शिखर पर अकेला विराजमान है।† आर्य-प्रजा का ही नहीं, बल्कि मनुष्य-जाति का सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद है।

वेद और ईरान के अवेस्टा की समानताएँ—वेद का काल निश्चित करने में पाश्चात्य विद्वानों ने दूसरी कल्पना यह उपस्थित की है कि ऋग्वेद

---

* महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः।
एवं वर्षसहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥—पार्जीटर, कलियुग के राजवंश, पृ० ५८।

† "No literature in any Indo-European or Aryan language is nearly as old as the hymns of the Rigveda, which stands quite by itself high up on an isolated peak of remote antiquity." V. A. Smith, Oxford History of India. P. 16.

की ऋचाओं और ई० पू० छठी शताब्दी के ईरान के पारसियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्टा' और डेरियस के शिलालेखों की भाषा में इतनी अधिक समानता है कि वेद के शब्द और ऋचाएँ ईरान की प्राचीन भाषा में कुछ थोड़े फेरफार से तद्वत् लिखी जा सकती हैं। ईरान की प्राचीन भाषा में वैदिक सप्त (= 'हप्त'), यज्ञ (= 'यस्न'), मित्र (= 'मिथ्र'), सोम (= 'हओम') बोले जाते थे। इससे अनुमान होता है कि वेद की भाषा और ईरान की 'अवेस्टा' की भाषा एक ही समान स्रोत से निकली थीं और एक समय ईरान और भारत के आर्य साथ-साथ रहते थे। कालक्रम से उनके एक दूसरे से पृथक् होने पर उनकी भाषाएँ बदलने लगीं।* वेद की भाषा अधिक शुद्ध रूप में रही, किन्तु ईरान की भाषा में ज़्यादा फेर-फार हुए। दोनों देशों की भाषाओं में अन्तर लगभग ५ सदियों के भीतर हुआ होगा। अतएव, वेद का रचना-काल ई० पू० १२०० के लगभग मानना युक्तिसङ्गत मालूम होता है। पाश्चात्य विद्वानों की यह कल्पना भी दृढ़ भित्ति पर स्थित नहीं है। मेसोपोटामिया के बोघज़कोई (Boghaz Koi) की खुदाई में कुछ शिलालेख मिले हैं जिनमें इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्यौ नाम के वैदिक देवताओं का उल्लेख है। ये शिलालेख ई० पू० १४०० के आस-पास के हैं। इन देवताओं के नाम वैसे ही रूप में हैं जैसे वे वेद-मन्त्रों में पाये जाते हैं। इन शिलालेखों से प्रकट होता है कि ई० पू० १४०० के क़रीब मिटानी (Mitani) नाम की अनार्य जाति वेद के इन देवताओं को पूजने लगी थी और आर्य जाति का प्रभाव एशिया माइनर के उत्तर प्रदेशों से ईरान तक फैला हुआ था। इन्द्र, वरुण, नासत्यौ आदि वैदिक देवताओं की कल्पनाएँ भारतवर्ष में हुई थीं, क्योंकि इन्दो-जर्मन भाषाओं में इनका कहीं पता नहीं चलता। अतएव, ये देवता भारत से ही किसी आर्य-जाति के राजा की विजय-यात्रा के साथ ई० पू० १४०० के लगभग मेसोपोटामिया पहुँचे होंगे। इनसे सम्बन्ध रखनेवाले वेद-मन्त्र भी इस घटना से बहुत पहले बने होंगे।

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी—जिल्द १, पृष्ठ ३१९—२०।

यजुर्वेद और सामवेद—चारों वेदों में यजुर्वेद और सामवेद ऋग्वेद पर आश्रित हैं। ऋग्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करनेवाला **'होता'** कहलाता था। सामवेद में ऋग्वेद की ही ऋचाएँ हैं, जिनको गानेवाला **'उद्गाता'** कहलाता था। यजुर्वेद में यज्ञ के मन्त्रों का संग्रह किया गया है, जिनका प्रयोग यज्ञ के समय 'अध्वर्यु' नाम का पुरोहित किया करता था। यजुर्वेद से आर्यजाति के धार्मिक और सामाजिक वातावरण के परिवर्तित होने का पता चलता है। यजुर्वेद के समय तक आर्य-सभ्यता भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से उसके मध्य भाग की ओर फैल गई थी। इस काल में गङ्गा-यमुना का प्रदेश आर्य-सभ्यता का केन्द्र हो गया था। यह कुरु-**पाञ्चाल देश** कहलाता था। इसमें वेद के **'कर्मकाण्ड'** की वृद्धि हुई। ऋग्वेद का धर्म उपासना-प्रधान था, किन्तु यजुर्वेद का यज्ञ-प्रधान था। इस समय समाज के चार वर्ग भी जाति-रूप में परिणत हो गये थे और वर्ण-सङ्कर जातियाँ भी बढ़ने लगी थीं। यज्ञ-यागादिक की प्रधानता के कारण समाज में ब्राह्मण-जाति का प्रभाव बहुत बढ़ गया था।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में यज्ञों का प्रकरण नहीं है। इसकी रचना ऋग्वेद के परवर्ती काल में हुई थी। अथर्ववेद में कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों के अतिरिक्त प्रायः रोगों और अनिष्टों के दूर करने के लिए अनेक प्रकार के मन्त्र-तन्त्रों का संग्रह किया गया है। अथर्ववेद के समय में आर्य और अनार्य जातियों के धार्मिक विश्वासों का सम्मिश्रण हुआ हो ऐसा जान पड़ता है, क्योंकि इस वेद के धार्मिक आचार-विचार ऋग्वेद के आचार-विचारों के सदृश नहीं हैं और वे मानव-जाति की अबोध-दशा के मूढ़ विश्वासों का परिचय देते हैं। किन्तु, जगह-जगह पर इसके सूक्तों में आर्य-जाति के उच्च विचारों का भी परिचय मिलता है।

ब्राह्मण-युग में आर्य-सभ्यता का विस्तार—ब्राह्मण-ग्रन्थ कुरु-पाञ्चाल देश में रचे गये थे। इसे 'ब्रह्मर्षि-देश' भी कहते थे। कुरु-पाञ्चाल देश के आर्य परिष्कृत भाषा बोलते थे और विधि-पूर्वक यज्ञ

करते थे।* उपनिषदों में वहाँ के ब्राह्मणों के पाण्डित्य की प्रशंसा की गई है। 'शतपथ ब्राह्मण' से ज्ञात होता है कि आर्य उत्तर भारत के विस्तृत प्रदेशों से परिचित हो चुके थे और उनमें आर्य-जाति की सत्ता जम चुकी थी। कुरुओं के राजा **जनमेजय** और विदेह (तिरहुत) के राजा **जनक** का उसमें उल्लेख मिलता है। आर्यों की संस्कृति 'ब्रह्मर्षि-देश' से अर्थात् सरस्वती के तट से—जहाँ कुरु, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन नामक आर्य जनताएँ बसी थीं—'मध्यदेश' में फैलती हुई 'सदानीरा' गण्डक नदी के पार विदेह तक पहुँच चुकी थी। कुरु-पाञ्चाल के पूर्व काशी, कोसल और विदेह के राज्य थे। उपनिषदों से ज्ञात होता है कि विदेह के राजा जनक और काशी के राजा अजातशत्रु की सभा में बड़े-बड़े विद्वान् एकत्र होकर आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ करते थे। दार्शनिक विद्वान् याज्ञवल्क्य और श्वेतकेतु उक्त राजाओं के समकालीन थे। कोसल और विदेह के पूर्व के देश अङ्ग (मुँगेर-भागलपुर) और मगध (बिहार) इस काल में आर्य-सभ्यता की सीमा के बाहर थे। ऐतरेय ब्राह्मण में आन्ध्र, पुण्ड्र, पुलिन्द, शबर आदि दक्षिण भारत की अनार्य जातियों का उल्लेख मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण के समय में आर्य-संस्कृति पूर्व और दक्षिण भारत की ओर बड़े वेग से फैल रही थी। वैदिक काल में व्रात्य अर्थात् पतित एवं विधर्मियों को वैदिक धर्म में लेने के समय 'व्रात्य-स्तोम' नामक शुद्धि के यज्ञ किये जाते थे, जिनसे उन व्रात्यों की गणना आर्य-जाति में हो जाती थी। ये अनार्य लोग न तो कृषि करते थे और न वाणिज्य। उनके सामाजिक नियम भी अव्यवस्थित थे और वे संस्कृत की अपभ्रंश प्राकृत भाषा बोलते थे। व्रात्यस्तोम का वर्णन ताण्ड्य

---

* "दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्युत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे॥"—महाभारत।

अर्थात् सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर में जो कुरुक्षेत्र में बसते हैं वे स्वर्ग में रहते हैं।

ब्राह्मण में मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य लोग अन्य जातियों को अपने धर्म और समाज में बराबर मिलाते रहे थे।

ब्राह्मण-युग की राजनीतिक दशा—भारतीय साहित्य के सबसे प्राचीन गद्य की रचनाएँ कुछ तो यजुर्वेद में और अधिकतर ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। प्रत्येक वेद का पठन-पाठन अविच्छिन्न परम्परा से ब्राह्मणों की अनेक शाखाओं में होता रहा। प्रत्येक शाखा ने धीरे-धीरे गद्य के बड़े ग्रन्थ रच डाले, जिनका प्रयोजन यज्ञों के रहस्य बतलाने का था। '**ब्राह्मण**' वैदिक कर्मकाण्ड के बृहत् ग्रन्थ हैं। उनका उद्देश्य यज्ञ की विधि और अर्थ बतलाना है। उनमें पौराणिक आख्यानों की अधिकता है। उन ग्रन्थों से मालूम होता है कि उस समय आर्य-जाति में ब्राह्मणों की प्रधानता हो गई थी और आर्य-धर्म की प्रगति यज्ञों के जटिल विधि-विधानों से रुक गई थी। ब्राह्मण-ग्रन्थों से भारत की सामाजिक और राजनीतिक दशा का कुछ-कुछ पता चलता है। ऐतरेय ब्राह्मण में राजाओं के अभिषेक का विस्तृत वर्णन मिलता है। उस समय कई श्रेणी के राजा होते थे। उनके भिन्न-भिन्न विरुदों से प्रकट होता है कि इतने प्राचीन काल में भी भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं। 'साम्राज्य' के लिए अभिषेक पूर्व देश के राजा लोग किया करते थे।* **राजसूय यज्ञ** का अनुष्ठान '**राजा**' किया करता था और **वाजपेय यज्ञ** करने का अधिकार '**सम्राट्**' को होता था। सम्राट् का पद राजा से ऊँचा होता था। अन्य राजाओं से विशिष्ट राजा '**विराट्**' की उपाधि धारण करता था और उसका राष्ट्र '**वैराज्य**' कहलाता था। '**स्वाराज्य**' कदाचित् प्रजातन्त्र राष्ट्र को कहते थे।† समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी का राजा सार्वभौम या एकराट् कहलाता था।‡

---

* 'ये के च प्राच्यानां राजानः साम्राज्यायैव तेऽभिषिच्यन्ते'

† 'साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यं राज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात्'।—ऐत० ब्रा० ८,१५।

‡ 'सार्वभौमः सर्वायुष आन्तादापरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्'।—वही, ८,१५।

विजयी और प्रतापी राजाओं का 'ऐन्द्र महाभिषेक' किया जाता था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में पूर्वोक्त यज्ञों और भिन्न-भिन्न प्रकार के राज्याभिषेक-सम्बन्धी कर्म-कलाप का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। सार्वभौम राजा अश्वमेध यज्ञ करते थे। शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में अनेक राजाओं का उल्लेख है जिन्होंने ऐन्द्र महाभिषेक-पूर्वक अश्वमेध यज्ञ किये थे। उनमें भरत दौःषन्ति, सतानीक सात्राजित, पर, पुरुकुत्स आदि अश्वमेध करनेवाले राजाओं का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्राह्मण-युग में समय-समय पर प्रतापशाली साम्राज्य स्थापित हुए थे जिनके अधीन आर्यावर्त के छोटे-छोटे राज्य हो जाया करते थे।

शासन-प्रणाली—राज्याभिषेक के अवसर पर जो-जो राज्य के मुख्य पदाधिकारी या राजा के अनुयायिवर्ग होते थे उनकी पदवियों के उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इनमें पुरोहित, राजन्य, महिषी (पटरानी), सूत (चारण), सेनानी (सेनापति), ग्रामणी, (गाँव का मुखिया), क्षत्तृ (राजमहलों का रक्षक), संगृहीता (कोष और भाण्डागार का अध्यक्ष), भागदुघ् (कर वसूल करनेवाला) और अक्षावाप (हिसाब रखनेवाला) मुख्य थे। इन कर्मचारियों में कुछ तो राजा के निजी अनुयायी थे और कुछ राष्ट्र के अधिकारी थे। ब्राह्मण पुरोहित राजा का प्रधान मन्त्री और सलाहकार था।* सेनानी फ़ौज का अध्यक्ष और नायक था। ग्राम का शासन राजा ग्रामणी-द्वारा किया करता था। राज्य मे कर वसूल करने तथा कोष का संग्रह करने के लिए पदाधिकारी नियुक्त थे। ब्राह्मणों में 'स्थपति' नाम के अफ़सर का उल्लेख मिलता है, जो कदाचित् राज्य के किसी विभाग का शासक और

* ब्राह्मण (पुरोहित) को राज-शासन में सदा से बड़ा अधिकार प्राप्त था। कौटिल्य ने लिखा है कि ब्राह्मण और मन्त्रियों की सहायता से युक्त और शास्त्र का अनुसरण करनेवाला क्षत्रिय राजा अत्यन्त प्रतापी होता है—

'ब्राह्मणेनैधितं क्षत्रं मन्त्रिमन्त्राभिमन्त्रितम् ।
जयत्यजितमत्यन्तं शास्त्रानुगतशस्त्रितम् ॥'—अर्थशास्त्र १—९ ।

न्यायाधीश हो। राजा भूमि का स्वामी नहीं माना जाता था, क्योंकि भूमि पर स्वत्व प्रजा का समझा जाता था। राजा सिर्फ़ भूमि-कर दूसरे को दे सकता था। समिति या सभा का वर्णन भी इन ग्रन्थों में पाया जाता है। इन समितियों में राजनीति के सिवा धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर भी वाद-विवाद हुआ करते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि विद्वान् श्वेतकेतु शास्त्रार्थ करने के लिए पाञ्चालों की समिति में गया और राजा प्रवाहण जैविली द्वारा बहस में निरुत्तर किया गया। *

ब्राह्मण-युग का धर्म—वेद और उपनिषद् काल के मध्यवर्ती युग में आर्य-धर्म के अन्तर्गत यज्ञादि कर्मों की प्रधानता हो गई थी। बहुत से लोग वेद के मौखिक पाठ पर और उसके शब्द की महिमा पर ऐसे मुग्ध हो गये थे कि उसके अर्थ की महिमा को भूल गये और यह मानने लगे कि वेद-मन्त्र अर्थ-बोध के लिए नहीं, किन्तु यज्ञ में यथाविधि उच्चारण करने के लिए हैं। ये लोग याज्ञिक कहलाते थे और वेद-मन्त्रों को घोखकर यज्ञों में उनका उच्चारण करते थे। 'मन्त्र' शब्द के मूल अर्थ 'मनन' को भूलकर उन लोगों ने उसे जादू की शब्दावली बना डाला और वैसे ही यज्ञों में उसका उपयोग करने लगे। ऐसी आडम्बर-युक्त धर्म-क्रियाओं से साधारण जनता पर उन ब्राह्मण याज्ञिकों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, किन्तु यज्ञों के अधिक प्रचार से यह न समझ लेना चाहिए कि ब्राह्मणों की धर्म-तत्त्व-जिज्ञासा कर्म-काण्ड मात्र से परितृप्त हो गई थी। वास्तव में भारतवर्ष में 'कर्म-काण्ड' और 'ज्ञान-काण्ड' में सदा से विभेद माना गया है। साधारण लोगों के निमित्त और धार्मिक जीवन की प्रारंभिक अवस्थाओं के लिए कर्म-काण्ड ही उपयोगी है और कतिपय विचारशील विद्वानों के लिए ज्ञान-काण्ड उपादेय है, यह आर्य-धर्म का पुरातन सिद्धान्त है। ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ सूक्तों से ज्ञात होता है कि उस प्राचीन काल में भी ऋषियों ने दार्शनिक विषयों पर गम्भीर मनन किया था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी ऋषियों के विश्व-विषयक मनन के उद्गार पाये जाते हैं। ब्राह्मणों के अन्तिम भागों

---

* पाञ्चालानां समितिमेयाय पाञ्चालानां परिषदमाजगाम।—छां० उप० ५. ३।

में—अर्थात् आरण्यकों और उपनिषदों में—ऋषियों का विचार और उनका तत्त्व-चिन्तन अत्यन्त प्रगल्भ और प्रतिभा-पूर्ण प्रतीत होता है। वस्तुतः क्रान्तिदर्शी कवि, पुरोहित और तत्त्वदर्शी तीनों ही वेद-विद्या के विस्तार करनेवाले थे।

वर्ण-व्यवस्था—प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन की सबसे मुख्य संस्था **वर्ण व्यवस्था** है। हिन्दू-समाज वर्ण-व्यवस्था के आधार पर स्थित है। इसकी उत्पत्ति और वृद्धि वेद-काल से ही शुरू हो जाती है। ऋग्वेद में चार वर्ण—**ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र**—माने गये हैं।* पहले तीन वर्ग ब्राह्मण, राजन्य और वैश्य विजयशाली आर्य जाति के थे और चौथा वर्ग विजित 'दस्यु' जाति का था। इन दोनों वर्गों के लोगों में सिर्फ़ वर्ण (रङ्ग) का भेद था। अर्थात् आर्य लोग गौर वर्ण के और दस्यु काले वर्ण के थे। ऋग्वेद के अन्त समय तक हिन्दू-समाज के ये चारों वर्ग पृथक-पृथक् रूप में सङ्गठित हो गये थे। यद्यपि गौर वर्ण के आर्य लोगों में वर्ण या रङ्ग की भिन्नता नहीं थी तथापि जैसे-जैसे आर्य लोगों की सभ्यता बढ़ी वैसे ही उनके सामाजिक जीवन में अधिकाधिक श्रम-विभाग की आवश्यकता उपस्थित हुई। कालक्रम से धीरे-धीरे आर्य-जाति अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार तीन जुदे-जुदे वर्गों में बँट गई। शूद्रों का पृथक् वर्ण पहले ही बन गया था। पुरोहित का काम ब्राह्मणों ने ले लिया,

---

* 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतस्तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥'—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।

'ब्राह्मण उस पुरुष का मुख था, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजा बना दी गई, उसकी जंघा से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ।' इस मन्त्र में रूपक के द्वारा चारों वर्णों के मुख्य कर्तव्य बतलाये गये हैं। ब्राह्मण का धर्म वेद का अध्ययन और अध्यापन होना चाहिए, राजन्य को अपने देश और जाति की रक्षा भुजबल से करनी चाहिए; वैश्य को जाति की उदर-पूर्ति के साधन एकत्र करने चाहिएँ और शूद्रों को सेवा करनी चाहिए। ये चारों वर्ण एक ही अङ्ग के अवयव और एक दूसरे पर आश्रित हैं। इससे स्पष्ट है कि वेद-युग में चारों वर्ण स्थापित हो चुके थे और उनके कर्त्तव्य और परस्पर के सम्बन्ध निश्चित किये जा चुके थे।

युद्ध और शासन का काम क्षत्रियों ने अपनाया, व्यापार और कृषि वैश्य करने लगे और शूद्र उच्च वर्ग के लोगों की सेवा करने में लग गये। यजुर्वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय में ये वर्ण-भेद बहुत कड़े हो गये और एक जाति से दूसरी जाति में सम्मिलित होना कठिन हो गया। वेद-युग का अन्त होते-होते वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण विकास हो चुका था। जन्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने जाने लगे थे। वर्ण-व्यवस्था का **जाति** ही मुख्य अङ्ग मान लिया गया। असवर्ण विवाहों और जुदे-जुदे धन्धों के कारण धीरे-धीरे अनेक जातियाँ बन गईं। जातियों के भेद दिन पर दिन बढ़ने लगे। हर एक दल या संघ ने अपनी अलग-अलग जाति बना ली। विदेशी जाति के लोगों के भी गुण-कर्मानुसार अलग-अलग वर्ग बन गये। धीरे-धीरे विशेष प्रकार के रीति-रिवाज के माननेवालों ने, नये व्यवसाय के करनेवालों ने और नवीन सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपनी-अपनी नवीन जातियाँ स्थापित कर लीं। मांसाहारी और शाकाहारी होने से भी जातियों में भेद पड़ गये। दार्शनिक विचारों में मतभेद हो जाने के कारण भी भेद बढ़े। इन्हीं कारणों से जाति-भेदों के बढ़ते-बढ़ते आज सैकड़ों जातियाँ हो गई हैं।

आश्रम-धर्म—वैदिक आर्यों का सामाजिक जीवन चार वर्णों और चार आश्रमों की भित्ति पर प्रतिष्ठित हुआ था। जब तक इन संस्थाओं के ध्येय और नियमों पर ध्यान रखा गया तब तक आर्य-संस्कृति का विस्तार और उन्नति बराबर होती रही। 'वर्णाश्रम-धर्म' आर्य-संस्कृति की उन्नति का बहुत बड़ा कारण था। आर्य-धर्म के चार आश्रम **ब्रह्मचर्य**, **गृहस्थ**, **वानप्रस्थ** और **संन्यास** कहलाते थे। प्रत्येक आश्रम के जीवन के लिए कड़े नियमों के विधान रखे गये थे। पहले आश्रम में गुरु-कुल में रहकर ब्राह्मण को वेद और वैदिक कर्म सीखने चाहिएँ। दूसरे आश्रम में उसे विवाह कर गृहस्थ धर्मों का पालन करना चाहिए। तीसरे आश्रम में उसे घर से पृथक् होकर जङ्गल में जाकर मुनियों का जीवन बिताना चाहिए। चतुर्थ आश्रम में दुनिया से नाता तोड़कर उसे परमात्मा के ध्यान में निरत हो जाना चाहिए। ये सब 'आश्रम' कहलाते थे, क्योंकि इनके ध्येय और नियमों का पालन

करना अत्यन्त श्रम-साध्य था। सारा आर्य-जीवन क्रम से बढ़ते हुए त्याग और तपस्या की भूमिकाओं में होता हुआ, विषयों के बन्धनों से मुक्त होकर, परम धाम तक पहुँचने के योग्य बने, यह ऋषियों का आदर्श था। विद्वान् ड्यूसन का कथन है कि ऐसा उत्तम और भव्य भाव मनुष्य के सारे इतिहास में बहुत खोजने पर ही कदाचित् मिलेगा।*

उपनिषद्†—ब्राह्मण-काल में अनेक प्रकार के यज्ञ-यागादिक आर्य-धर्म के मुख्य अङ्ग हो गये थे। परन्तु ऐसे जटिल कर्म-काण्ड से विचारशील पुरुषों को असन्तोष होने लगा था। अतएव, वे कर्म-मार्ग से ज्ञान और भक्ति के मार्गों की ओर प्रवृत्त होने लगे। जीव, सृष्टि और ईश्वर के विषय में तत्त्व-जिज्ञासा ऋग्वेद के समय में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। आर्य-जाति के तत्त्व-चिन्तन का पूर्ण विकाश उपनिषद् ग्रन्थों में देख पड़ता है। मैक्समूलर ने लिखा है कि उपनिषद् मानव-मस्तिष्क की आश्चर्यजनक कृतियाँ हैं। परवर्ती-काल के भारत के जितने दर्शन-शास्त्र हैं उनके मूल-तत्त्व उपनिषदों में पाये जाते हैं। इन उपनिषदों में प्रतिपादित धर्म-पथ की उत्कृष्टता और दार्शनिकता इतनी उच्च कोटि की है कि यद्यपि इनको आविष्कृत हुए लगभग तीन हज़ार वर्ष हो गये, तथापि इन्हें पढ़कर आज भी विद्वान् लोग ऋषियों के गम्भीर विचारों पर, उनकी प्रतिभा की उड़ान पर, चकित हो जाते हैं।

---

* 'The whole life should be passed in a series of gradually intensifying ascetic stages, through which a man, more and more purified from all earthly attachments should become fitted for his "home" (अस्तम्), as the other world is designated as early as Rigv. (X. 14. 8). The entire history of mankind does not produce much that approaches in grandeur to this thought'. Deussen's Philosophy of the Upanishads.

† प्राचीन उपनिषदों में निम्न-लिखित उल्लेख योग्य हैं—

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर।

उपनिषद्-विद्या के प्रवर्तक—विद्वानों ने प्राचीन उपनिषदों का रचना-काल ई० पूर्व १२०० से ई० पू० ६०० पर्यन्त माना है। इस उपनिषद्-युग में वर्ण और आश्रम-धर्म आर्य-जाति में दृढ़ रूप से स्थापित हो चुके थे। उपनिषदों की दार्शनिक चर्चा और विचार में ब्राह्मण और क्षत्रिय विद्वानों ने बराबर भाग लिया था। उपनिषद्-विद्या के पोषक और प्रवर्तक केवल क्षत्रिय राजा ही थे, यह पाश्चात्य पण्डितों का कथन सर्वथा निर्मूल है। विदेह (मिथिला) के राजर्षि **जनक** ने महर्षि **याज्ञवल्क्य** के दार्शनिक संवाद पर मुग्ध होकर उन्हें एक सहस्र गौओं का, उनके सींगों में दस-दस मुद्राएँ बाँधकर, दान किया था। काशी के राजा **अजातशत्रु** से ब्राह्मण विद्वान् **गार्ग्य** ने उपनिषद्-विद्या सीखी थी। इस युग की आर्य स्त्रियाँ **मैत्रेयी** और **गार्गी** महर्षि याज्ञवल्क्य ऐसे तत्त्वदर्शियों से कठिन अध्यात्म-विद्या सम्बन्धी प्रश्न पूछा करती थीं। मैत्रेयी तो वित्त से पूर्ण पृथ्वी को भी न चाहती थी, क्योंकि उससे उसको 'अमरत्व' नहीं मिल सकता था। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियों को पुरुषों की भाँति उच्चतम विद्या के सीखने का अधिकार प्राप्त था। उपनिषदों में लिखा है कि आत्मा के जानने के लिए ब्राह्मण लोग पुत्र, वित्त और लोक-विषयक इच्छाओं से मुख मोड़कर भिक्षा से निर्वाह करते हैं और वे यज्ञ, दान और तपस्या द्वारा परमात्मा के जानने की इच्छा करते हैं।*

उपनिषदों का उपदेश और धर्म-पथ—केवल एक ही, अद्वितीय ब्रह्म है, यह उपनिषद् का पुनीत सिद्धान्त है।† वह सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी है।‡ वह सत्य, ज्ञान और अनन्त है।§ इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का वही एकमात्र कारण है।|| उसके भय से पवन चलता है और सूर्य उदित

* तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।

† 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'।

‡ 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा'।

§ 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'।

|| यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्मेति॥

होता है।* उस अविनाशी परमात्मा के प्रशासन में पृथ्वी और अन्तरिक्ष स्थित रहते हैं।† जो विश्व का अन्तर्यामी है वही हमारी अन्तरात्मा का साक्षी है। वह शुद्ध और निष्पाप है।‡ जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग और सूर्य से किरणें निकलती हैं वैसे ही परमात्मा से सारा चराचर विश्व प्रकट होता है। 'यह सारा विश्व ब्रह्मरूप है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'वह तू है', 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है' इत्यादि उपनिषदों के गम्भीर उद्‌गार 'महावाक्य' कहलाते हैं।§ उपनिषद् के ऋषियों की परमात्मा के विषय में परमोत्तम और पवित्रतम भावनाएँ थीं। उन्होंने जीवात्मा, पुनर्जन्म, कर्म-वाद, मोक्ष तथा मोक्ष के साधन आदि विषयों पर बड़े प्रौढ़ सिद्धान्त निश्चित किये थे। उपनिषद् के वाक्य उच्च विचार और सात्त्विक भावों से परिपूर्ण हैं। प्रसिद्ध जर्मन तत्ववेत्ता शोपेनहार ने (Schopenhauer) ठीक लिखा है कि "उपनिषद् के प्रत्येक पद से गम्भीर, नवीन और उच्च विचार उत्पन्न होते हैं और समस्त संसार में उपनिषद् के सदृश श्रेयस्करी और हृदय को उन्नत करनेवाली दूसरी विद्या नहीं है। उससे मेरे जीवन को शान्ति मिली है और मृत्यु के समय भी वह मुझे शान्ति देगी।"

उपनिषद्-युग की राजनीतिक स्थिति—ब्राह्मणों और उपनिषदों से उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। उनसे पता चलता है कि उस दूरतम युग में यहाँ दस बड़े राज्य थे—गान्धार, केकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पाञ्चाल, काशी, कोसल और विदेह।

(१) गान्धार—इसमें वर्त्तमान रावलपिण्डी और पेशावर ज़िले शामिल थे।|| यह प्रदेश सिन्धु नदी के दोनों ओर था। इसमें तक्षशिला और

* भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः।

† एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने द्यावापृथ्व्यौ विधृतौ तिष्ठतः।

‡ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। शुद्धमपापविद्धम्।

§ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'।

—उपनिषदों से उद्धृत।

|| 'ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्यते, एवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद'।—छां०, उपनि० ६, १४।

पुष्करावती नाम की दो प्रसिद्ध पुरियाँ थीं, जिनका उल्लेख रामायण में मिलता है। जातक-कथाओं से मालूम होता है कि तक्षशिला उस दूरतम काल में भारत का शिक्षा-केन्द्र था। उपनिषद् के तत्ववेत्ता उद्दालक और श्वेतकेतु तथा महर्षि पाणिनि ने उसी विद्यापीठ में शिक्षा प्राप्त की थी*।

(२) **केकय**—यह प्रदेश पञ्जाब में गान्धार से व्यास नदी तक था। उपनिषत्काल में इस प्रदेश पर **राजा अश्वपति** का राज्य था। उसकी बहिन का नाम कैकेयी था, जो राम के भाई भरत की माता थी। अश्वपति ने अनेक ब्राह्मणों को ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया था और दावे के साथ यह कहा था कि 'मेरे जनपद में न चोर है, न कायर है, न मद्यप है, न कोई होम न करनेवाला है, न कोई अविद्वान् है, न कोई स्त्री-पुरुष व्यभिचारी है।'†

(३) **मद्र**—स्यालकोट से रावी तक का देश मद्र कहलाता था। मद्र का राजा अश्वपति और उसकी पुत्री सती सावित्री का उल्लेख महाभारत में है।

(४) **उशीनर**—मध्यदेश के उत्तर विभाग में यह जनपद था, जो हरद्वार-कनखल के आस-पास होना चाहिए।‡ महाभारत और जातकों में राजा उशीनर और उसके पुत्र शिवि का वर्णन है।

(५) **मत्स्य**—अलवर, जयपुर और भरतपुर के भाग इसमें शामिल थे। वहाँ महाभारत के राजा विराट का राज्य था, जहाँ पाँचों पाण्डवों ने अज्ञात-वास किया था।

(६) **कुरु**—वर्त्तमान दिल्ली के आस-पास का यह प्रदेश था। उपनिषत्काल में कुरु-देश के ब्राह्मण पाण्डित्य में प्रसिद्ध थे।

(७) **पाञ्चाल**—गङ्गा के उस पार वर्त्तमान रुहेलखण्ड के ज़िले इस प्रदेश में शामिल थे। इसकी प्राचीन राजधानी काम्पिल्य थी। उपनिषदों

---

* उद्दालक जातक, संख्या ४८७ ; सेतकेतु जातक, सं० ३७७।

† न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्न चाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥—छां० उप० ५, ११।

‡ हेमचन्द्र चौधरी, प्राचीन भारत का इतिहास पृ० ३८।

में पाञ्चाल के राजा प्रवाहण जैवलि के दार्शनिक संवादों का वर्णन मिलता है।

(८) **काशी**—इस प्रदेश की राजधानी वाराणसी (बनारस) थी। वह वरुणा और असी नाम की नदियों के मध्य बसी थी। उपनिषत्काल में उसका राजा अजातशत्रु स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। वह मिथिला के राजा जनक का समकालीन था।

(९) **कोसल**—यह राज्य वर्त्तमान अवध में था। इस पर इक्ष्वाकु-वंश का राज्य था। पुराणों में इक्ष्वाकु से लेकर बुद्ध के समकालीन राजा प्रसेनजित तक का वंश-क्रम वर्णित है। इस वंश के अनेक राजाओं के नाम वैदिक साहित्य में भी पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पुराणों के 'वंशानुचरित' बहुत अंश में सत्य एवं प्रामाणिक हैं। इस राज्य की प्राचीन राजधानी **अयोध्या** सरयू-तट पर थी, किन्तु बुद्ध के समय के आसपास इसकी राजधानी **श्रावस्ती** हो गई थी।*

(१०) **विदेह**—कोशल के पूर्व **विदेह** (तिरहुत) राज्य था। शतपथ ब्राह्मण की एक कथा से प्रकट होता है कि इस प्रदेश में वैदिक संस्कृति देर से फैली थी। उसमें यह उल्लेख है कि वैदिक संस्कृति के केन्द्र सरस्वती के तट से सदानीरा नदी (गण्डक) को लाँघकर विदेघ-माठव विदेह-देश को पहुँचा था। विदेह के राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य और श्वेतकेतु ऐसे तत्त्ववेत्ता एकत्र होकर अध्यात्म-विषयों की चर्चा किया करते थे। राजा जनक उपनिषद्-युग के प्रसिद्ध तत्त्वदर्शी और विद्वानों के आश्रय-दाता थे।

वेदाङ्ग—उपनिषद् के युग तक सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के दो विभाग मान लिये गये थे। एक विभाग को 'परा विद्या' और दूसरे को 'अपरा विद्या' कहने लगे थे। उपनिषद् परा (उत्तम) विद्या समझी जाती थी और वैदिक मन्त्रों और ब्राह्मणों का अपरा विद्या में निवेश किया जाने लगा था। इस विशाल

---

* प्राचीन श्रावस्ती वर्त्तमान गोंडा और बहराइच जिलों की सीमा पर सहेथ महेथ ग्राम के स्थान पर थी।

वैदिक साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले और भी अनेक पाठ्य विषय थे।* वे वेद के छः अङ्गों के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें 'शिक्षा' वेद-मन्त्रों के उच्चारण करने की विधि बतलाती है। कल्प यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान की रीति बतलाता है। 'व्याकरण' और 'निरुक्त' वेद के शब्द और अर्थ की क्रम से व्याख्या करते हैं। 'छन्द' और 'ज्योतिष' वेदाध्ययन के आवश्यक अङ्ग हैं। वेदाङ्गों में आचार्य यास्क-रचित निरुक्त वेद के अर्थ और व्याकरण के समझने के लिए परमोपयोगी ग्रन्थ है, जो संस्कृत गद्य में रचा गया है। यास्क के परवर्ती काल में महर्षि पाणिनि ने व्याकरण-सूत्र रचे थे। उनका समय ई० पूर्व पाँचवीं सदी से पहले माना गया है। पाणिनीय व्याकरण के रचना-काल से संस्कृत भाषा के युग का प्रारम्भ मानना चाहिए, क्योंकि परवर्ती काल के समस्त संस्कृत साहित्य पर उस व्याकरण की अमिट छाप लगी है।

सूत्र-काल—संस्कृत भाषा के सबसे पहले युग में सूत्र-ग्रन्थ रचे गये थे। वैदिक साहित्य की जुदी-जुदी शाखाएँ कई शताब्दियों तक केवल कण्ठाग्र रखकर ब्राह्मणों द्वारा सुरक्षित रखी गईं। किन्तु ज्यों-ज्यों वेद-विद्या का आकार बढ़ता गया त्यों-त्यों उसे कण्ठाग्र करने में कठिनाई होने लगी। इसलिए शास्त्रों को संक्षिप्त से संक्षिप्त रूप में रचने की आवश्यकता हुई। इन्हीं परम संक्षिप्त लेखों को 'सूत्र' कहते हैं। इस सूत्र-शैली का सभी धार्मिक सम्प्रदायों ने धर्म एवं व्यवहार-सम्बन्धी प्रत्येक विषय में सामान्य रूप से उपयोग किया। इसलिए इस काल को सूत्र-काल कहते हैं, जो ई० पूर्व सातवीं सदी से ई० पू० दूसरी सदी तक माना गया है। इन सूत्र-ग्रन्थों से हिन्दू जाति के मानसिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन पर बहुत ही विशद प्रकाश पड़ता है। इनमें **श्रौत-सूत्र** वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं के भिन्न-भिन्न यज्ञों की विधियों का विवेचन करते हैं। **धर्म-सूत्रों** में सामाजिक और व्यवहार-सम्बन्धी नियमों का वर्णन है। हिन्दुओं के सबसे प्राचीन क़ानून

---

* उपनिषद् के युग के अध्येय विषयों में निम्न-लिखित भेद माने गये थे—'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि'।—बृहदा० उपनिषद् ४।

और रीति-रिवाजों का इनमें विवरण है। राजधर्म, न्याय, दायभाग के नियम, विवाह की रीति इत्यादि विषयों की चर्चा धर्म-सूत्रों में की गई है। गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, मनु आदि धर्मसूत्रों के प्रणेता थे। **गृह्य-सूत्रों** में गृहस्थों के धार्मिक कार्यों और उनकी दिनचर्या का वर्णन है। इनमें आर्य जाति के जन्म से मृत्यु-पर्यन्त के संस्कारों की विधियों और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। इन तीनों प्रकार के सूत्रों के मुख्य आधार वेद ही हैं। धर्मसूत्रों के बाद स्मृतियों का निर्माण हुआ। वर्तमान मनुस्मृति प्राचीन मानवधर्म-सूत्र के आधार पर बनी है।

उक्त सूत्र-शैली का प्रयोग दार्शनिक विद्वानों ने भी किया था। उपनिषदों के आधार पर वेदान्त या ब्रह्म सूत्रों का निर्माण हुआ था। सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा आदि दर्शन समय-समय पर सूत्र रूप में ग्रथित हुए थे। हिन्दुओं के प्रत्येक दर्शन के मूल सूत्र मिलते हैं, जिनके आधार पर जुदे-जुदे दार्शनिक सम्प्रदाय उनमें चल पड़े थे। वस्तुतः उनके दीर्घकालीन विचार ही विकसित होते-होते सूत्रों के रूप में परिणत हुए थे। उन दर्शन-सूत्रों पर आगे चलकर **वार्तिक** और **भाष्य** रचे गये। पूर्वोक्त संस्कृत-साहित्य के धारावाहिक इतिहास पर विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि प्राचीन आर्य-जाति का मस्तिष्क ज्ञानार्जन में सदा संलग्न रहा और उनकी विचार-शक्ति सर्वथा अकुण्ठित रही।

छठा परिच्छेद

महाभारत, रामायण और इतिहास-पुराण

महाभारत का मूल रूप—आधुनिक विद्वानों का मत है कि महाभारत ऐसा बृहत् वीर-काव्य, जो हमें आजकल उपलब्ध होता है, प्राचीन काल के किसी एक कवि की रचना नहीं है, वरन् वह समय-समय पर अनेक कवियों द्वारा परिवर्धित किया गया है। यदि वह वीर-काव्य किसी निश्चित समय के किसी एक विद्वान् द्वारा बनाया जाता तो प्राचीन भारत के इतिहास के लिए बड़े महत्त्व का ग्रन्थ होता, किन्तु जुदे-जुदे कालों में महाभारत की मूल-कथा को अनेक विद्वानों ने परिवर्धित कर उसे वर्तमान रूप में परिणत कर दिया है। पर इसमें सन्देह नहीं कि मूल महाभारत की रचना ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर हुई थी। इसमें भारत-युद्ध की घटनाओं का वर्णन था। इसका पहला नाम 'जय'* था। इसके मूल आख्यान में सम्भवतः बीस हज़ार श्लोक थे। हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार इसके रचयिता महर्षि द्वैपायन व्यास थे। कहीं-कहीं इस ग्रन्थ की भाषा बहुत आर्ष और प्राचीन है, जो ब्राह्मणों और उपनिषदों की भाषा से मिलती-जुलती है। मूल महाभारत के जुदे-जुदे समय पर होनेवाले संस्करणों में वीर-कथाएँ, सुन्दर उपाख्यान, धार्मिक और दार्शनिक विचार जोड़ दिये गये थे। अतएव, धीरे-धीरे वह ग्रन्थ इतने विशाल विस्तार को प्राप्त हो गया कि यदि हम उसे 'हिन्दू-धर्म का बृहत्कोष' अथवा 'धर्म-शास्त्र' कहें तो अनुचित न होगा†। संग्रह करनेवालों ने उसमें उपदेशपूर्ण विषयों की इतनी भरमार कर डाली कि महाभारत का मूल आख्यान उपदेशों से ढक गया।

---

* 'जयनामेतिहासोऽयं ततो जयमुदीरयेत्'।
'जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीपुणा'।।—महाभारत, आदिपर्व ६२।

† महत्त्वात् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते।

महाभारत का रचना-काल—हिन्दू अनुश्रुति के अनुसार मूल महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास भारत-युद्ध के समकालीन थे। उस युद्ध का समय ई० सन् पूर्व १४०० के लगभग माना जाता है। महाभारत में ई० सन् के आस-पास भारत पर आक्रमण करनेवाले यवन, पह्लव और शकों के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख पाये जाते हैं। ई० स० की पाँचवीं शताब्दी के शिलालेखों से सिद्ध होता है कि महाभारत का विस्तार उस समय भी इतना ही था जितना उसके वर्तमान संस्करण में है। उनमें उसका '**शतसाहस्री**'—एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ—के नाम से उल्लेख किया गया है। पाणिनि ने अपने व्याकरण-सूत्रों में युधिष्ठिर तथा वासुदेव इत्यादि महाभारतीय नामों का उल्लेख किया है। इन उल्लेखों से अनुमान किया गया है कि मूल महाभारत बहुत प्राचीन है और इसके परिवर्धित संस्करण ई० स० पूर्व की चौथी शताब्दी से ई० स० की दूसरी सदी पर्यन्त रचे गये होंगे।* प्राचीन भारत की संस्कृति कैसी थी, उसका सामाजिक और धार्मिक जीवन कैसा था इत्यादि इतिहास के प्रश्नों पर तो महाभारत से बहुत प्रकाश पड़ता है, किन्तु निश्चित समय के इतिहास के निर्माण करने में उसका बहुत कम उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि वह अनेक युगों का मौलिक नहीं वरन् सङ्कलित ग्रन्थ है, जिसके मूल में बहुत से अंश पीछे से जोड़ दिये गये हैं।

भारतीय कथा—महाभारत में कौरवों और पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है। कुरु लोगों की राजधानी हस्तिनापुर में थी। हस्तिनापुर के राजा शान्तनु के तीन पुत्र थे—भीष्म, चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य। भीष्म ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने का प्रण किया था। चित्राङ्गद किसी युद्ध में मारा गया, इसलिए शान्तनु की मृत्यु के पश्चात् विचित्रवीर्य राजा हुआ। उसके दो पुत्र थे—पहला धृतराष्ट्र जो जन्मान्ध था और दूसरा पाण्डु जो पिता के मरने पर गद्दी पर बैठा। पाण्डु के पाँच पुत्र थे—युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव। धृतराष्ट्र के सौ पुत्र थे जिनमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। पाण्डु की अकाल-मृत्यु के कारण धृतराष्ट्र

---

* होपकिन्स—ग्रेट एपिक आव् इंडिया, ३९१–३९३।

को राज्य-प्रबन्ध अपने हाथ में लेना पड़ा। धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन पाण्डवों से ईर्ष्या रखता था। गुरु द्रोणाचार्य से पाण्डवों ने शस्त्र-विद्या सीखी थी। उनके शस्त्र-कौशल और युधिष्ठिर की धर्मनिष्ठता से प्रसन्न होकर धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को अपना युवराज बनाना चाहा, परन्तु दुर्योधन यह सब न सह सका। कौरवों के षड्यन्त्रों से बचने के लिए पाण्डवों को हस्तिनापुर से बाहर निकलना पड़ा। इसी निर्वासन-काल में उन्होंने पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार सुना। अर्जुन ने स्वयंवर में एकत्र हुए वीर क्षत्रियों को धनुर्विद्या में हराकर द्रौपदी का पाणि-ग्रहण किया। पाण्डवों ने पाञ्चाल के राजा के साथ सन्धि कर धृतराष्ट्र को उन्हें आधा राज्य देने के लिए विवश किया। वहाँ पाण्डवों ने दिल्ली के पास इन्द्रप्रस्थ नामक नगर बसाया। पाण्डव बड़ी बुद्धिमत्ता से राज्य करने लगे और उनकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। अब युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया। उसमें सब राजाओं को निमन्त्रण दिया गया। दुर्योधन की द्वेषाग्नि भड़क उठी। उसने हँसी-हँसी में एक दिन युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिए निमन्त्रित किया। दुर्योधन के साथ जुआ खेलने में युधिष्ठिर अपना सर्वस्व खो बैठे। अन्त में धृतराष्ट्र ने यह निर्णय किया कि पाण्डव बारह वर्ष के लिए वन में जायँ और एक वर्ष तक गुप्तवास करें। तेरह वर्ष के बाद जब पाण्डव फिर घर लौटे तब उन्होंने राज्य-प्राप्ति के लिए कौरवों के पास सन्देश भेजा, किन्तु कुछ उत्तर न मिलने पर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। कुरुक्षेत्र में अठारह दिन तक घमासान युद्ध हुआ। भारत के सभी प्रसिद्ध राजा इस युद्ध में एक अथवा दूसरे दल में सम्मिलित हुए। पाण्डवों की विजय हुई। कौरवों के एक-एक करके सारे वीर धराशायी हुए। युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर चक्रवर्ती राजा हुए। कुछ दिन राज्य करने के बाद युधिष्ठिर अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्य देकर सकुटुम्ब हिमालय को चले गये।

भारत-युद्ध की ऐतिहासिकता—संस्कृत साहित्य में महाभारत को 'इतिहास-पुराण' और रामायण को 'आदिकाव्य' कहा जाता है। अथर्ववेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में इतिहास-पुराण विद्या के उल्लेख पाये जाते हैं। वेदा-

ध्ययन के लिए ये विषय उपयोगी माने गये थे*। इतिहास-पुराण के अत्यन्त प्राचीन होने के विषय में कुछ सन्देह नहीं किया जाता, किन्तु वे क्या थे और किस रूप में विद्यमान थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। जैसे वेदों को ऋषियों ने अपनी-अपनी शाखा में परम्परा से सुरक्षित रखा था वैसे ही इतिहास-पुराण को भी सूत नाम के कथा कहनेवाले चारणों ने अपना लिया था। उस सूत-सम्प्रदाय ने हमारे इतिहास-पुराण की रक्षा की थी। सम्भवत: रामायण और महाभारत का निर्माण उन प्राचीन गाथाओं के आधार पर हुआ हो जो वीरों की स्तुति में गाई जाती थीं। ये गाथाएँ 'नाराशंसी'—नर-वीरों की स्तुतियाँ—कहलाती थीं। अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में दस दिन तक वीरों के गुण-गान और उनके महान् कार्य्यों की स्तुतियाँ की जाती थीं। उन्हीं गाथाओं के बहुत कुछ अंश रामायण और महाभारत में पाये जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ये वीर-काव्य ऐतिहासिक पुरुषों के सम्बन्ध में रचे गये थे। दशरथ, राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्म, द्रोण, दुर्योधन आदि काल्पनिक नहीं, वास्तविक व्यक्ति थे। पुराणों में वर्णित भारत-युद्ध के पूर्व के तथा उत्तरकाल के राजवंशों की आलोचना करने से ये बातें सिद्ध होती हैं कि रामायण और महाभारत के चरित्र-नायकों का ऐतिहासिक अस्तित्व अवश्य था, राम का जन्म इक्ष्वाकु-वंश में हुआ था और प्राचीन काल में कुरु-पाण्डव-युद्ध की घटना हुई थी। इन ऐतिहासिक घटनाओं में बहुत सी कथाएँ और आख्यान परवर्ती युगों में मिला दिये गये थे, किन्तु उनका मूल आधार इतिहास ही था।

रामायण का रचना-काल—रामायण की रचना महाभारत के निर्माण से पूर्व हुई थी। महाभारत की मूल कथा के साहित्यिक रूप में सङ्कलित होने के पहले ही आदिकवि वाल्मीकि रामायण का निर्माण कर चुके थे। रामोपाख्यान, रामायण के श्लोक और भाव महाभारत में स्थल-स्थल पर

---

* इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।—महाभारत।

मिलते हैं, किन्तु रामायण में महाभारत के न तो श्लोक पाये जाते हैं और न आख्यान ही। महाभारत के चरित्रों का रामायण में कोई उल्लेख नहीं मिलता।

अध्यापक याकोबी (Prof. Jacobi) ने सिद्ध किया है कि वाल्मीकि-रचित मूल रामायण में केवल पाँच ही काण्ड थे—प्रथम और सप्तम काण्ड पीछे से उसमें जोड़ दिये गये हैं। मूल काव्य और प्रक्षिप्त भाग के रचे जाने के बीच में बहुत समय व्यतीत हुआ होगा। मूल काण्डों में चरित्रनायक राम मनुष्य के रूप में चित्रित किये गये हैं, किन्तु प्रक्षिप्त काण्डों में उन्हें विष्णु के अवतार-रूप से अंकित किया गया है। रामायण की भाषा वेद-युग के बाद की है, किन्तु वह पाणिनि के परवर्ती काल की नहीं है। राम-सम्बन्धी कथा कुछ हेर फेर के साथ पाली भाषा के 'दशरथ जातक' में पाई जाती है। पाटलि-पुत्र की स्थापना के पूर्व, बुद्ध के समय से पहले, विभवपूर्ण कोसल राज्य के अभ्युदय-काल में मूल रामायण का निर्माण हो चुका था।*

रामायणीय कथा—रामायण की कथा अयोध्या नगरी के वर्णन से प्रारम्भ होती है। मिथिला के राजा जनक की कुमारी सीता से राम का विवाह होता है। कोसलेश दशरथ राम को युवराज बनाना चाहते हैं, किन्तु राम की विमाता कैकेयी अपने पुत्र भरत को युवराज बनवाना चाहती है। अतएव, उसने राजा दशरथ को यह वर देने के लिए विवश किया कि राम १४ वर्ष तक वनवास करें। राम के विरह में शोकार्त राजा दशरथ ने प्राण त्याग दिये। सीता और लक्ष्मण के साथ राम वन को प्रस्थित हुए। जब भरत ने अपनी मा के षड्यन्त्र को सुना तब वह दुःखी होकर राम को अयोध्या को वापिस लाने के लिए चला, किन्तु राम ने नियत अवधि के पहले लौटना स्वीकार न किया। त्याग-मूर्ति भरत ने मुनि-व्रत धारण करके राम

---

* कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥—वाल्मीकीय रामायण।

के आदेशानुसार १४ वर्ष तक राज-काज किया। इस अवधि में राम दण्डकारण्य में राक्षसों से युद्ध करते रहे। फिर रावण सीता को कपट से हरण कर ले गया। सुग्रीव और हनुमान् की सहायता से राम ने लङ्का पर आक्रमण कर और रावण को परास्त कर सीतादेवी की रक्षा की। वहाँ से लौटने पर अयोध्या में राम का राज्याभिषेक हुआ।

वाल्मीकीय रामायण संस्कृत की अनुपम कृति है। आदिकवि की रचनाएँ अत्यन्त सजीव और हृदयंगम हैं। संस्कृत के अनेक कवियों और नाट्यकारों ने समय-समय पर रामायणीय कथाओं के आधार पर अपनी-अपनी रचनाएँ की हैं। संस्कृत के महाकवियों में शायद ही कोई होगा जिस पर वाल्मीकि का प्रभाव न पड़ा हो। भास, कालिदास, भवभूति, मुरारि, राजशेखर, क्षेमेन्द्र आदि संस्कृत कवियों और हिन्दी के महाकवि तुलसीदास की प्रतिभा-शक्ति को वाल्मीकि ही से अन्तःप्रेरणा मिली थी।* वाल्मीकि ने अपने चरित्रों का चित्रण बड़े कौशल से किया है। उन चरित्रों के द्वारा जिन पुनीत और स्पृहणीय आदर्शों की उस कवि ने सृष्टि की है वे हिन्दू जाति के सदैव के लिए आराध्य बन गये हैं। भारतीय साहित्य और संस्कृति की रामायण एक अजर और अमर कृति है। हिन्दू इसे कोरी ऐतिहासिक बातों के जानने के लिए नहीं पढ़ते, किन्तु वे इससे अपने धर्म के सनातन तथ्य सीखते हैं। हिन्दूमात्र इसकी कथाओं को बड़े चाव से सुनते और सुनाते हैं।

इतिहास-पुराण—रामायण और महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य में पुराण भी बहुत प्राचीन ग्रन्थ हैं। अथर्ववेद, छान्दोग्य उपनिषद् तथा

---

* यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावत् रामायण-कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥—रामायण।
अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥—रघुवंश।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः।
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्रज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥—उत्तररामचरित, ७।

पाली के बौद्ध ग्रन्थों में इस साहित्य के उल्लेख मिलते हैं। यह पाँचवाँ वेद कहलाता है—'इतिहासः पञ्चमो वेदः'। साधारण हिन्दू जनता के आज तक ये ही वेद माने जाते हैं। प्राचीन भारत के इतिहास और भूगोल पर पुराण बहुत प्रकाश डालते हैं। पुराणों में प्राचीन राजाओं के वंश-क्रम अविकल रूप से दिये गये हैं जिनका भारत के इतिहास-निर्माण में बहुत उपयोग किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों में मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत और भविष्य अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन वंशों का वर्णन—'**वंशानुचरित**'—इन पुराणों का एक मुख्य अङ्ग है।* इन वंश-वृत्तों का कीर्तन राजाओं के चारण-भाट यज्ञ, अभिषेक आदि महोत्सवों पर किया करते थे। अत्यन्त प्राचीन काल से राजाओं के वंश-वर्णन करने की प्रथा चली आती थी। इसलिए पुराणों में भारत का प्राचीन परम्परागत इतिवृत्त पाया जाता है। महाभारत से पहले और पीछे के राजवंशों का वृत्तान्त पुराणों में लिखा गया है। महाभारत युद्ध के पश्चात् महर्षि व्यास ने प्राचीन वंश-वृत्तों का संग्रह कर पुराण रचे थे। तत्पश्चात् पीछे के वृत्तान्त भी पुराणों में जुड़ते गये। इस प्रकार भारत के प्राचीन राजवंशों का वृत्तान्त पुराणों में बराबर संगृहीत होता रहा। जब पुराणों के अन्तिम संस्करण लिखे गये तब ये समस्त क्रमागत वंशवृत्त उनमें ले लिये गये। पुराणों में प्राचीन और नवीन अंश मिले हुए हैं, क्योंकि समय-समय पर ये सङ्कलित और परिवर्धित किये गये हैं। इनसे भारत का बहुत अंश में प्रामाणिक प्राचीन इतिहास उपलब्ध होता है।

आधुनिक विद्वान् पार्जीटर महोदय ने अत्यन्त श्रम से पुराणों की वंशावलियों का अध्ययन किया है।† महाभारत युद्ध के पश्चात् की वंशावलियों

---

* 'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैतत् पुराणं पञ्चलक्षणम्'॥

† देखिए श्रीयुत पार्जीटर-रचित—'एंशेण्ट इंडियन हिस्टोरिकल ट्राडिशन्स' तथा 'दि डाइनैस्टीज़ आव् दि कलि एज'।

में हमें पुरु, इक्ष्वाकु और मगध के राजाओं के नाम मिलते हैं। पुरु-वंश में भारत-युद्ध के पश्चात् २६ राजा हुए। इनकी राजधानी पहले हस्तिनापुर में थी, किन्तु राजा निचक्षु के समय से प्रयाग के समीप कौशाम्बी पुरुवंशियों की राजधानी हो गई थी। बुद्ध के समय में उदयन इस वंश का प्रतिनिधि था। इस वंश की इतिश्री उदयन की चौथी पीढ़ी में क्षेमक के राज्य-काल में हुई। सम्भवतः नन्द-वंश के काल में पुरुवंशियों का राज्य मगध-साम्राज्य में मिला लिया गया हो। इक्ष्वाकु-वंश का राज्य कोसल प्रदेश में था। भारत-युद्ध के पूर्व की वंशावली में दशरथ और राम का उल्लेख है। इसी वंश के दो अश्वमेध करनेवाले हिरण्यनाभ और पर नाम के विजयी राजाओं के वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलते हैं, जो भारत-युद्ध के पहले हुए थे। इक्ष्वाकु-वंश का अन्तिम राजा सुमित्र था, जो बुद्ध के समकालीन कोसल के राजा प्रसेनजित की चौथी पीढ़ी में हुआ था। पुरु और इक्ष्वाकु दोनों ही वंश एक साथ भारतीय इतिहास के क्षितिज से अस्त हो गये।

पुराणों में मगध के राजवंशों का सविस्तर वर्णन मिलता है। बृहद्रथ-वंश के राजा सहदेव की भारत-युद्ध में मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र सोमाधि गिरिव्रज का राजा हुआ। सहदेव के पश्चात् इस वंश के २१ राजाओं की सूची पुराणों में मिलती है। तदनन्तर प्रद्योत और शिशुनाग वंशों का वृत्तान्त पुराणों में दिया गया है। परन्तु प्रद्योतवंशी अवन्ती (मालवा) के राजा थे और वे शिशुनाग-वंशी राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु के समकालीन थे। बुद्ध के समय से पुराणों के वंश-वृत्तों की प्रामाणिकता बौद्ध और जैन ग्रन्थों से तथा शिलालेखों और सिक्कों से जहाँ-तहाँ सिद्ध होती है। यद्यपि पुराण प्राचीन भारत के इतिहास-निर्माण के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं तथापि उनका प्रयोग हमें बड़ी सावधानता के साथ करना चाहिए, क्योंकि उनमें अनेक पाठ-भेद और पारस्परिक विरोध पाये जाते हैं।

सातवाँ परिच्छेद

जैन और बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव

जैन और बौद्ध धर्म—महावीर और बुद्ध के समय से भारतवर्ष के इतिहास में नवीन युग का आरम्भ होता है। ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी में ये दोनों महात्मा जन्म लेते हैं। इनके पुनीत चरित्र और उपदेश का भारतीय धर्म और संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ये महापुरुष जैन और बौद्ध सम्प्रदायों को स्थापित कर प्राचीन आर्य-धर्म में नया जीवन डाल देते हैं। वास्तव में ये महात्मा पूर्व-धर्म को नष्ट करने के लिए नहीं वरन् परिपुष्ट और प्रवृद्ध करने के लिए हुए थे।

जगत् के इतिहास में ईसा के जन्म से पूर्व छठी शताब्दी चिर-स्मरणीय है। इस शताब्दी के आसपास एशिया के महाद्वीप में चार महापुरुषों का जन्म हुआ। महावीर और बुद्ध भारतवर्ष में, कनफूची चीन में और ज़ोरोआस्टर ईरान में हुए। उस समय लोगों के मन में प्रचलित धर्म के प्रति नई-नई शङ्काएँ उत्पन्न हो रही थीं। वह आध्यात्मिक अशान्ति का युग था। मानव-मस्तिष्क में उस समय नये-नये विचार उठ रहे थे। मनुष्य-जीवन के जन्म-जरा-मरण आदि दुःखों से छुटकारा पाने के साधन लोग खोज रहे थे। वे ऐसे पुरुष की प्रतीक्षा कर रहे थे, जो उन्हें मोक्ष का मार्ग बतलाता, जो सांसारिक दुःखों के संवेग से उन्हें बचाता और जो धर्म के उच्च आदर्श को उनके सामने रखकर उन्हें कल्याण-पथ का पथिक बना देता। ऐसे महापुरुष महावीर और बुद्धदेव ई० सन् पूर्व के छठे शतक में, भारतवर्ष में, हुए।

पार्श्वनाथ तथा वर्धमान—महावीर—जैन धर्म बौद्ध धर्म से पृथक् और प्राचीन है। जैन-ग्रन्थों के अनुसार महावीर २४ वें तीर्थङ्कर थे। सबसे पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव अत्यन्त प्राचीन काल में हुए थे। 'जैन' शब्द 'जिन' शब्द

से बना है। इसका अर्थ विजेता अर्थात् संसार-रूपी मोह के गढ़ का जीतने-वाला है। तपस्या और आत्म-संयम द्वारा देव-पद प्राप्त करनेवाले महात्मा को 'जिन' कहते हैं। जैन लोग अपने धर्म के महापुरुषों को तीर्थङ्कर कहते हैं, क्योंकि वे उन्हें संसार-रूपी नदी के पार करने के साधनों का आविष्कारक मानते हैं। २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ वर्धमान महावीर से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे। वे जैन-धर्म के प्रवर्तक थे। वे काशी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। तीस वर्ष की अवस्था में वे संन्यासी होकर धर्मोपदेश करने लगे। वर्धमान महावीर के समय से जैन धर्म का अधिक सङ्गठित रूप से प्रचार होने लगा। महावीर का जन्म वैशाली के समीप कुण्डग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था, जो वैशाली के लिच्छवि-वंशी राजा चेटक की बहिन थी। इसी चेटक की राजकुमारी का विवाह मगध के सम्राट् बिम्बिसार से हुआ था। वर्धमान महावीर का लिच्छवि और मगध के दोनों प्रसिद्ध क्षत्रिय राजघरानों से घनिष्ठ सम्बन्ध था।* अपने माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् तीस वर्ष की अवस्था में वर्धमान महावीर संन्यास लेकर विचरने लगे और उन्होंने बारह वर्ष तक कठोर तपस्या की। ४८ वर्ष की अवस्था में उन्होंने उत्तम ज्ञान प्राप्त किया और तत्पश्चात्

---

* पुरातत्त्वज्ञ विंसेंट स्मिथ शैशुनाग, लिच्छिवि और मगध के समीपवर्ती अन्य जातियों का आर्यवंशज होना नहीं स्वीकार करते। उनका कथन है कि वे गुरखाओं और भूटियाओं के सदृश मङ्गोल जाति के थे। अतएव जाति-भेद के कारण बुद्ध और महावीर ने ब्राह्मणों को अपना धर्म-गुरु न माना और उनसे स्वतन्त्र होकर उन्होंने नये धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार किया। (स्मिथ—ऑक्सफ़र्ड हिस्टरी आव् इंडिया, पृ० ४६) किन्तु विद्वान् स्मिथ की यह भारी भूल है। बुद्ध और महावीर के धर्म-सिद्धान्तों में कोई ऐसा नवीन अंश नहीं है जो प्राक्तन आर्य-धर्म में न पाया जाता हो। भेद केवल इतना ही है कि उन्होंने देश के प्रचलित धर्म के दोषों को दिखाकर मनुष्य के सच्चे कर्त्तव्य-पथ का निर्देश किया। यदि वे अनार्य थे तो उनका धर्म आर्य-धर्म से इतना मिलता-जुलता क्यों होता?—लेखक।

३० वर्ष तक धर्मोपदेश करते हुए निर्वाण प्राप्त किया। महावीर के अनुयायी 'निर्ग्रन्थ' (बन्धनों से मुक्त) कहलाते थे। उन्होंने अङ्ग, मगध और कोसल राज्यों में घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार किया। राजा और उच्च वर्ग के लोग उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में लिखा है कि महावीर के शिष्यों से महात्मा बुद्ध का कई बार वाद-विवाद और शास्त्रार्थ हुआ था। महावीर बुद्ध और अजातशत्रु के समकालीन थे। महावीर का निर्वाण पटना के पास पावा-पुरी में हुआ था। जैन लोग उनके निर्वाण का समय ई० पू० ५२७ मानते हैं।

जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त—'अहिंसा परमो धर्मः'—अहिंसा जैन-धर्म का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। इस धर्म के सभी आदेश और आचार-विचार अहिंसा और दया के आधार पर स्थित हैं। जैन-धर्म में 'षट् जीवकाय' अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति, और त्रस (प्राणी) ये छः प्रकार के जीव माने गये हैं और उनकी रक्षा के लिए उपदेश किया गया है। जैन-धर्म में व्रत, उपवास और तपस्या का विशेष महत्त्व है। केश-लुञ्चन तथा अनशन-व्रत द्वारा प्राण छोड़ने के विधान जैनों की उग्र तपस्या के निदर्शन हैं। उनके मत के अनुसार यह सृष्टि अनादि और अनन्त है और इसके सारे व्यापार कर्म के महानियम के अनुसार चलते हैं। किये हुए कर्म के भोग भोगे बिना मनुष्य संसार से छूट नहीं सकता। यद्यपि जैन ईश्वर को जगत्कर्ता नहीं मानते, तथापि उन्हें निरीश्वरवादी कहना अनुचित है। वे ईश्वर को सर्वज्ञ और वीतराग बताते हैं, किन्तु उसे सृष्टि का कर्ता और हर्ता नहीं मानते। उनके धर्म के अनुसार ऋषभदेव आदि रागादि-दोष-रहित और लोक के उद्धारक तीर्थङ्करों ने ईश्वर-पद को प्राप्त किया है। आत्मा की शक्तियों के पूर्ण और परमोत्तम विकास के होने पर मनुष्य ही ईश्वर हो सकता है। जैन-धर्म में '**सम्यक् दर्शन**', '**सम्यक् ज्ञान**' और '**सम्यक् चारित्र**' ये तीन रत्न माने गये हैं। मनुष्य इन 'त्रिरत्नों' को अपने जीवन में चरितार्थ कर मुक्त होता है। जीव इन साधनों के द्वारा कर्मों के बन्धन से छूटकर अपने रूप में स्थित

होता है। जैन-सिद्धान्त में पाँच व्रतों या नियमों का—स्व-चरित्र को उन्नत और परिपुष्ट करने के लिए—मन, वचन और कर्म से पालन करना, आवश्यक बतलाया गया है। ये पञ्च महाव्रत अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य्य और अपरिग्रह (अपने पास जहाँ तक हो सके कम से कम वस्तुएँ रखना) कहलाते हैं। शीतोष्ण और सुख-दुःख के पड़ने पर मन को विचलित न होने देकर उसे समता की दशा में रखना तथा प्राणिमात्र पर एक सा भाव रखना जैन-सिद्धान्त में 'सामायिक' क्रिया कहलाती है। ऐसी ही दूसरी आवश्यक क्रिया 'प्रतिक्रमण' है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अशुभ एवं पाप से पराङ्मुख होकर शुभ और पुण्य की ओर चलना चाहिए। जैन-धर्म में आत्म-संयम के उपाय विलक्षण रीति से बतलाये गये हैं। संसार के विषय हमारी इन्द्रियों द्वारा आत्मा में प्रविष्ट होकर उसे मलिन कर देते हैं। इन विषयों का प्रवाह—'आस्रव'—आत्मा में बराबर जारी रहता है। इस 'आस्रव' को दृढ़ता से रोकना अर्थात् 'संवर' करना ही कर्म-बन्धनों से मुक्त होने का साधन है। संसार अर्थात् आवागमन से मुक्त होने का नाम मोक्ष है। मन, वाणी और कर्म की पवित्रता, अहिंसा, दया, तृष्णा-त्याग तथा आत्म-संयम के कठोर नियमों का पालन करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—सिद्धान्तों की समानताएँ और उनके विभेद—जैन और बौद्ध धर्मों में यद्यपि बहुत कुछ समानताएँ हैं तथापि दोनों संप्रदाय सदा से पृथक्-पृथक् रहे हैं। ये दोनों धर्म एक ही स्रोत से निकले हैं। हिन्दू-धर्म के तीनों सम्प्रदाय—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—एक ही जाति में और एक ही प्रकार के जीवन से उत्पन्न हुए हैं, और एक ही महावृक्ष की शाखाएँ हैं। महात्मा बुद्ध और महावीर वास्तव में हिन्दू-धर्म के सुधारक थे। उन्होंने कोई नवीन और मौलिक धर्म नहीं चलाया, बल्कि अपने समय में प्रचलित हिन्दू-धर्म में जो मिथ्याचार और असद्विचार बढ़ गये थे उनका प्रतिवाद कर उन्होंने मनुष्य के कल्याण का सच्चा मार्ग दिखलाया था। दोनों धर्म एक ही उद्गम से निकलकर एक साथ एक ही स्थान में फैले थे। दोनों के प्रवर्तक क्षत्रिय राज-

कुमार थे। दोनों मतों का प्रचार करने में भारत के परिव्राजक और विरक्त साधुओं ने अधिक भाग लिया था। जैन और बौद्ध सिद्धान्तों का आविष्कार पहले ही, ब्राह्मण-धर्म के उपनिषत्काल में, हो चुका था। ये दोनों धर्म आर्य-जाति के उपनिषत्कालीन गम्भीर तत्त्व-चिन्तन के ही परिणाम-स्वरूप थे। दोनों महात्माओं ने हिन्दू समाज या धर्म के विरुद्ध किसी प्रकार का विप्लवकारी आन्दोलन नहीं चलाया था। बौद्ध और जैन लोग वेद को प्रमाण नहीं मानते थे। वे यज्ञों में पशु-बलिदान के अत्यन्त विरुद्ध थे। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञ-यागादि की प्रधानता हो गई थी और बड़े-बड़े यज्ञों में पशुहिंसा भी होती थी। मांस-भक्षण का प्रचार भी बढ़ा हुआ था। जैन और बौद्ध-धर्म की जीव-दया का सिद्धान्त पहले ही से आर्य-धर्म में विद्यमान था, परन्तु उसका लोगों पर विशेष प्रभाव न था। ब्राह्मण-धर्म से ही कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों को दोनों सम्प्रदायों ने ग्रहण किया था। इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, विष्णु आदि हिन्दू देवताओं की बौद्ध और जैन समान रूप से पूजा करते थे। बौद्धों की अपेक्षा जैन लोग हिन्दू धर्म से अधिक सम्बद्ध रहे। वे हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था को भी मानते रहे। जैन और बौद्ध धर्म में प्रारम्भ से ही पार्थक्य रहा था। दोनों के जुदे-जुदे सम्प्रदाय स्थापित हुए थे। जैन अपने धर्म के महापुरुषों को तीर्थङ्कर और बौद्ध बुद्ध कहते थे। दोनों के धर्म-ग्रन्थ भी जुदे-जुदे थे। जैनों के धर्म-ग्रन्थों में, 'आचाराङ्ग-सूत्र' में, जैन भिक्षुओं के आचरण-सम्बन्धी नियम और 'उपासक-दशा-सूत्र' में जैन उपासकों के आचरण-सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। बौद्धों की पवित्र ग्रन्थ-राशि का नाम 'त्रिपिटक' है। बुद्ध के उपदेश 'सुत्त-पिटक' और भिक्षु-संघ के नियम 'विनय-पिटक' में बतलाये गये हैं। धर्म की दार्शनिक चर्चा 'अभिधम्म-पिटक' में की गई है। जैन और बौद्ध धर्मों के 'तीन रत्न' भी भिन्न-भिन्न है। 'दर्शन', 'ज्ञान' और 'चरित्र' ये तीनों जैन-धर्म के रत्न हैं, किन्तु बौद्धों के त्रिरत्न 'बुद्ध', 'धर्म' और 'संघ' थे। जैन-धर्म की कठोर तपस्या, व्रत, उपवास आदि बौद्ध लोगों को अरुचिकर थे। बौद्ध भिक्षुओं का जीवन अधिक सरल, कम कठोर एवं तपस्यामय होता था। इसके कारण जैन-धर्म की ओर लोगों का कम आकर्षण हुआ। अशोक के

शिलालेख में 'निर्ग्रन्थों' और 'आजीवकों' का उल्लेख मिलता है जो सम्भवतः जैन तपस्वी हों। ई० पू० की दूसरी शताब्दी के मध्य में कलिङ्ग के राजा खारवेल ने जैन-धर्म को स्वीकार किया था। मथुरा से मिले हुए कुशन-काल के शिलालेखों से मालूम होता है कि जैन-सम्प्रदाय का वहाँ पर काफ़ी प्रचार था। इसमें सन्देह नहीं कि जैन और बौद्ध-सम्प्रदाय सदा से जुदे-जुदे थे।

दिगम्बर और श्वेताम्बर—मौर्य्य-काल में जैन-धर्म के दो प्रसिद्ध आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र हुए थे। उनके समय में जैन-धर्म में दो मुख्य भाग होने लगे—एक दिगम्बर और दूसरा श्वेताम्बर। दिगम्बर सम्प्रदाय के साधु नग्न रहते हैं और श्वेताम्बर सफ़ेद वस्त्र पहनते हैं। दिगम्बर लोग तीर्थङ्करों की नग्न प्रतिमा पूजते हैं, परन्तु श्वेताम्बर अपनी मूर्तियों की पुष्प, धूप, वस्त्राभूषणों से पूजा करते हैं। दिगम्बरों का कहना है कि तीर्थङ्कर नितान्त वीतराग थे और इसलिए उनकी वस्त्राभूषणों से रजोगुणी पूजा करना महापाप है।

जैनधर्म का प्रचार—बौद्ध धर्म के समान जैन-धर्म का प्रचार नहीं हुआ। बौद्ध-धर्म को जैसा बड़े-बड़े सम्राटों का आश्रय मिला वैसा जैन-धर्म को न मिल सका। जैन-धर्म धीरे-धीरे दक्षिण और पश्चिम भारत के प्रान्तों में फैलता गया। जैन लोग अपनी प्राचीन प्रथाओं और आचार-विचारों पर अब तक आरूढ़ हैं। इसलिए जैन सिद्धान्तों में अधिक परिवर्तन और मत-भेद नहीं हुए, जैसे हमें बौद्ध-धर्म के इतिहास में दृष्टिगोचर होते हैं। परिवर्तनशील बौद्ध-धर्म धीरे-धीरे भारत से बिलकुल लुप्त हो गया, परन्तु जैन-धर्म अभी तक जीवित है। जैनों ने भारतीय कला और साहित्य की भी अच्छी उन्नति की। जैन आचार्य संस्कृत और प्राकृत भाषा के बड़े भारी विद्वान् हुए हैं।

गौतम बुद्ध का जीवन-चरित्र—गौतम बुद्ध का जन्म नेपाल की दक्षिण सीमा पर बसे हुए कपिलवस्तु नामक नगर में हुआ था। यह नगर शाक्यों के प्रजातन्त्र राष्ट्र की राजधानी था। गौतम के पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। शुद्धोदन शाक्यवंशी क्षत्रिय थे और कदाचित् कपिलवस्तु के प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रधान थे। गौतम स्वभाव

से ही अत्यन्त कोमल और करुणार्द्र चित्त के थे। दूसरों का दुःख देखकर वे विह्वल हो जाते थे। तापत्रय-पीड़ित संसार की यातनाओं को सोचकर वे सहम जाते थे। उन्हें इस प्रकार चिन्ता और निर्वेद में कभी-कभी ग्रस्त पाकर और वैराग्य से उनका मन हटता न देख उनके पिता शुद्धोदन ने कोलिय-वंश की राजकुमारी यशोधरा से उनका विवाह कर दिया। समय-क्रम से उनके राहुल नाम का पुत्र भी हुआ। कहते हैं कि राहुल के जन्म का संवाद सुनकर गौतम कुछ कातर कण्ठ से बोल उठे—"यह एक और नई और दुर्भेद्य हृदय-ग्रन्थि है जिसे मुझे तोड़ना पड़ेगा।" अन्त में उन्होंने संन्यास ग्रहण करने का विचार कर लिया। एक दिन आधी रात को अपनी प्यारी पत्नी और सुकुमार शिशु को त्यागकर, वैभवपूर्ण राजमहल से निकलकर, इस महापुरुष ने जङ्गल का रास्ता लिया। गौतम के जीवनचरित्र में इस उपर्युक्त घटना को 'महाभिनिष्क्रमण' कहते हैं। राजगृह में पहुँचकर वहाँ अलार और उद्रक नामक ब्राह्मण विद्वानों से उन्होंने ज्ञान प्राप्त करना चाहा। परन्तु शास्त्रों के बहुत कुछ अध्ययन करने पर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली। अन्त में गया के समीप निरञ्जना नदी के तीर पर उरुवेल के जङ्गल में जाकर उन्होंने छः वर्ष तक घोर तपस्या की। इस कठोर तपस्या से उनका शरीर कङ्कालवत् हो गया और तदनन्तर शरीर को व्रत, उपवास आदि से सुखाने का प्रयत्न भी उन्होंने छोड़ दिया। एक दिन एक पीपल के वृक्ष के तले वे ध्यानावस्थित होकर बैठे थे कि उन्हें अकस्मात् सत्य का साक्षात्कार हो गया। वह पीपल का पेड़, जिसके तले गौतम को ज्ञान हुआ था, बोधि-वृक्ष कहलाया और उस ज्ञान के उदय होने की वेला से गौतम का नाम 'बुद्ध' हुआ और उनके अनुयायी 'बौद्ध' कहलाये।

'मैं तो जागा, किन्तु जब मैं जगत् को जगाऊँ तभी मेरा जागना सार्थक है'—इस प्रकार के विचार मन में करते हुए वे उठे और काशी की ओर चल पड़े, जो उनके युग का प्रसिद्ध ज्ञान-केन्द्र था। वहाँ सारनाथ में पहले-पहल उन्होंने अपने धर्म का उपदेश किया। जिन ब्राह्मणों ने पहले यह निश्चय किया था कि इस तपोभ्रष्ट साधु को हम प्रणाम न करेंगे, उन्होंने इस समय

उनके ज्ञान के तेज पर मुग्ध होकर सामने आकर उनका सत्कार किया। बुद्ध का पहला उपदेश 'धम्म-चक्क-पवत्तन-सुत्त' कहलाता है। वह धर्म जगद्व्यापी हो, उस धर्म का साम्राज्य सर्वत्र फैले, यह 'चक्र' शब्द से सूचित होता है। 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' के समय से ४५ वर्ष तक आजीवन बुद्धदेव मगध, कोसल, शाक्य और लिच्छवी राज्यों में स्वयं धर्म का प्रचार करते रहे। उनकी मधुर मूर्ति में इतना आकर्षण था और उनके धर्म-प्रवचन में इतना प्रभाव था कि राजा और रङ्क, साधु और दुराचारी, सभी उनके उपदेश पर धीरे-धीरे मुग्ध होने लगे। जब वे कपिलवस्तु में पहुँचे तब उनके परिवार के सभी लोग उनके अनुयायी हो गये। कोसल का राजा प्रसेनजित् बुद्ध का शिष्य बना। शैशुनाग-वंश के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु ने बौद्ध मत को स्वीकार किया। बिम्बिसार ने राजगृह का वेलुवन नामक उद्यान बुद्ध को भेट कर दिया। अनाथपिण्डक नामक एक दानवीर महाजन ने श्रावस्ती के जेतवन नामक उद्यान को, जिसमें बुद्ध उपदेश किया करते थे, इतने धन से मोल लिया जितना उस भूमि पर बिछाया जा सकता था और बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उसमें एक बिहार और दो चैत्य बनवाये। बुद्ध को वेलुवन और जेतवन ये दोनों स्थान परम प्रिय थे। बुद्ध पापी और पतित प्राणियों के परम सदयहृदय मित्र थे और उनसे सहानुभूति रखते हुए उन्हें दुराचार से बचाते थे। आम्रपाली नाम की एक वेश्या उनकी शिष्या थी। उसके भोजन का निमन्त्रण उन्होंने संघ समेत स्वीकार किया था। उन्होंने अनेक ब्राह्मणों को सच्चा ब्राह्मणत्व क्या वस्तु है यह बतलाकर अपने संघ में सम्मिलित किया। यही नहीं किन्तु नाई, अन्त्यज, गणिका आदि अधम और पापी गिने जानेवाले मनुष्यों को दयार्द्र होकर उन्होंने अपने संघ में शामिल किया। उनमें से कितने ही तो बड़े उपदेशक बन गये। इधर-उधर ख़ूब देशाटन कर बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया। ई० पूर्व ५४३ के लगभग कुशीनगर में उनका निर्वाण हुआ। उनके शरीर के भस्मावशेष के आठ भाग आठ जातियों ने बाँट लिये और उन पर प्रत्येक जाति ने एक-एक स्तूप बनवाया। नेपाल की तराई में पिप्रावा से एक गोलाकार प्याले में रखे हुए बुद्ध के भस्मावशेष का

एक भाग मिला है। उस ढके हुए प्याले पर, सुन्दर ब्राह्मी अक्षरों में, "सलिल निधने बुधस भगवते"—लिखा है।

गौतम बुद्ध के उपदेशों का समस्त सार उनकी लोकोत्तर जीवनचर्या में ही था। उनकी आकृति में शान्त और मधुर तेज था। उनके हृदय में दीन, हीन, दुःखी प्राणिमात्र के लिए दया उमड़ पड़ती थी। वे लोकसेवा और त्याग के प्रत्यक्ष आदर्श और सत्त्वगुणों के सजीव रूप थे। उनकी विनयपूर्ण मधुर वाणी में विद्युत् का सा प्रभाव था। उनके उपदेश में अभिनवोन्मेष था और धर्म में संक्रमणशीलता थी। उनका आदर्श जीवन ही बौद्ध धर्म की सफलता का प्रधान हेतु था।

बौद्ध धर्म के सिद्धान्त—बुद्ध के उपदेशों का मूल 'आर्य-सत्य-चतुष्टय' कहलाता है। ये चारों आर्य-सत्य क्रम से दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग कहे जाते हैं।

(१) दुःख—संसार में जन्म-जरा-व्याधि-मरण के दृश्यों को देखकर बुद्धदेव के अत्यन्त दयार्द्र हृदय में यह बात चुभ सी गई कि वस्तु-मात्र क्षणिक और दुःख-रूप हैं। अपने ऊपर दुःख पड़ने से इस प्रकार का बोध तो प्रायः साधारण मनुष्य को भी हो जाता है कि संसार दुःखमय है। परन्तु बुद्धदेव के बोध में यह विशेषता थी कि उन्हें स्वयं कोई दुःख भोगने का प्रसङ्ग नहीं हुआ था, बल्कि स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी आदि संसार के सब सुख-सम्भोग उन्हें पूर्णरूप से प्राप्त थे, तथापि एकमात्र दयामय-वृत्ति के परम आवेश में उन्होंने स्वयं इस महान् सत्य का साक्षात्कार किया था। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः', यह उनके उपदेश में प्रथम आर्य-सत्य है।

(२) समुदय—केवल यह जान लेना तो बहुत सरल है कि संसार दुःखरूप है, किन्तु दुःख का निदान खोजने और उसके निवारण के उपाय सोच निकालने में बुद्धि की सूक्ष्मता और परोपकार-वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धदेव ने सोचा कि दुःख के दूर करने में बाहर के उपचार व्यर्थ हैं। चिकित्सा करने में जिसे रोग का निदान अर्थात् बीज कहते हैं उसे खोज निकालना चाहिए और फिर उसका उपचार करना चाहिए। इस प्रकार संसाररूपी रोग के इस महान्

चिकित्सक ने* विचारकर यह निदान किया कि सारे दुःख जीवन की विविध भाँति की तृष्णाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। 'मैं जीऊँ, चाहे किसी को दुःख हो, पर मैं जीवित रहूँ', इस प्रकार की जीवन-तृष्णा ही दुःखों का मूल है। इसलिए अहंता अर्थात् आत्म-वाद को त्याग करना और अनात्म-वाद को स्वीकार करना चाहिए, यह बुद्ध भगवान् ने दूसरा सिद्धान्त स्थिर किया। उन्होंने यह अनुभव किया था कि उस समय के लोग आत्म-वाद का आश्रय लेकर स्वार्थ-परायणता में एकदम लीन हो गये थे। इस आत्मा (अहं) के मोह से मनुष्य संसार में असंख्य पाप करते थे। यज्ञ में अगणित पशुओं का बलिदान देकर वे यही आशा किया करते थे कि मृत्यु के पश्चात् हमारी आत्मा स्वर्ग में जायगी। अतएव, आत्म-वाद के नाश होने से तृष्णा दूर होगी और तृष्णा के दूर होने से दुःख का नाश होगा, यह सिद्धान्त उन्होंने प्रतिपादित किया।

(३) **निरोध**—तृष्णा और तृष्णाजनित विषय-वासनाओं का नाश होने से पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के साथ जुड़े हुए जरा-मरण-व्याधि आदि दुःखों का नाश हो जाता है।

ऐसी दुःखरहित स्थिति का नाम 'निर्वाण' है। मनुष्य के हृदय में अहंता और रागद्वेष की जो वृत्तियाँ हैं उनका बुझ जाना ही निर्वाण शब्द का अर्थ है।

(४) **अष्टाङ्ग मार्ग**—इस दुःख-निरोध के लिए बुद्ध ने जिस मार्ग का आविष्कार किया उसको 'अष्टाङ्ग मार्ग' कहते हैं। इस मार्ग के निम्न-लिखित ८ अङ्ग हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव (जीविका), सम्यक् व्यायाम (उद्योग), सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। † इस साधना के बल से अविद्या, तृष्णा, आदि दोषों का क्षय होता है और अन्त में निर्वाण प्राप्त होता है।

---

* 'चिरातुरे जीवलोके क्लेशव्याधिप्रपीडिते।
वैद्यराट् त्वं समुत्पन्नः सर्वव्याधिप्रमोचकः॥'—ललितविस्तर, ४५८।

† 'यन्मनसा ध्यायति तद्वचसा वदति, यद्वचसा वदति तत्कर्मणा कुरुते, यत्कर्मणा कुरुते तदभिसम्पद्यते।'—उपनिषद्।

पूर्वोक्त चारों सिद्धान्त ही 'चार आर्य-सत्य' हैं, अर्थात् सत्य सज्जनों के स्वीकार करने योग्य हैं।

मज्झिमा परिपदा—इस अष्टाङ्ग मार्ग को मध्यम पथ भी कहते हैं। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्'—यही मध्यम पथ का तात्पर्य है।* न तो भोग-विलास में ही अधिक आसक्त होना और न कठोर तपश्चर्या से आत्मा को क्लेश देना उचित है। इस मार्ग में जैन-धर्म के समान शिरोलुञ्चन, अनशन-मरण आदि कष्टकर उपायों का उपयोग निन्दित और निष्प्रयोजन माना गया है।

निर्वाण—बुद्धदेव के मत में तृष्णा-क्षय ही निर्वाण का अर्थ है। सांसारिक तृष्णाओं के कारण मनुष्य का बार-बार जन्म होता है। इस पुनर्भव का ही उच्छेद निर्वाण है।

कर्मवाद—आर्य-धर्म की ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी शाखाओं में यह कर्म-वाद साधारण है। "कर्म ही हमारा निज का है, हम कर्म-फल के उत्तराधिकारी हैं, कर्म ही हमारी उत्पत्ति का कारण है, कर्म ही हमारा बन्धु है, कर्म ही हमारा शरण्य है। पुण्य हो अथवा पाप, हम जो कर्म करेंगे उसी के उत्तराधिकारी होंगे।" †

वैदिक यज्ञ-याग का निषेध—बुद्धदेव ने हिंसाश्रित वैदिक यज्ञ-यागों का परित्याग किया था, परन्तु वेद के कर्मकाण्ड के अंश को छोड़कर उसके ज्ञानकाण्ड का

---

* तुलना कीजिए—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥—भगवद्गीता ६, १७।

† तुलना कीजिए—

"कम्मस्स कोम्हि कम्मदायादो कम्मयोनि कम्मबन्धु कम्मपरिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।"—अंगुत्तर निकाय।

"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।"—बृहदारण्यक उपनिषद्।

बहुत सा अंश उन्होंने स्वीकृत किया था। उनके पहले उपनिषत्-काल में भी वैदिक कर्म-कलाप के प्रति लोग श्रद्धा-रहित हो उठे थे। धीरे-धीरे वैदिक कर्म-विधि हिंसावर्जित होकर क्रमशः सात्विकी हो गई, यह बात परवर्ती वैदिक साहित्य से स्पष्ट अवगत होती है। हिंसाश्रित यज्ञ की अपेक्षा बुद्धदेव ने शील, समाधि और प्रज्ञा-यज्ञ उत्कृष्ट और महाफलप्रद बतलाये। भगवद्गीता में भी 'ज्ञान-यज्ञ' और 'योग-यज्ञ' की श्रेष्ठता बतलाई गई है।*

कुछ लोग बुद्धदेव को अनीश्वरवादी कहते हैं, परन्तु ईश्वर के विषय में उनके मौन रहने का प्रयोजन यही है कि ईश्वर के अन्वेषण में लगे हुए लोगों को जो करना उचित है उसे वे नहीं करते। जगत् नित्य है वा अनित्य, इसका कर्ता है या नहीं और है तो कैसा है, इत्यादि प्रश्नों पर धार्मिक जीवन का आधार नहीं है। अतएव, कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट लोगों के सच्चे मार्ग-दर्शक महात्मा बुद्ध दुर्बोध दार्शनिक बातों के विषय में मूक रहते थे। नीतिमय बुद्धि-वाद ही उनके धर्म का मर्म था। वे निष्काम कर्मयोगी थे और दार्शनिक तर्क-वितर्क की उपेक्षा करते हुए कर्म की महिमा—पाप-पुण्य के उत्तर-दायित्व—का सर्वत्र उपदेश करते थे।

---

* तुलना कीजिए—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीतिवादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलाम् ....॥—भ० गी०।
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाद्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥—भ० गी०।
निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्;
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्;
केशव धृतबुद्धशरीर जय जय देव हरे।—गीतगोविन्द।

बौद्ध और ब्राह्मण धर्म का सम्बन्ध—बौद्ध-धर्म में अथ से इति पर्यन्त सदाचार की ही प्रधानता थी। लोग इस उच्च सदाचार की ही भावना पर रीझते थे। बौद्ध-धर्म की प्रगति से हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में कोई बड़ा फेर-फार नहीं हुआ। बौद्ध-धर्म के प्रचारक प्रायः परिव्राजक संन्यासी थे। भारतवर्ष में बुद्ध के बहुत पहले से परिव्राजक साधु अपने-अपने मतों का प्रचार करते थे। वे प्राय: सभी वर्णों के होते थे। उन्हें पूर्ण विचार-स्वतन्त्रता मिली हुई थी। वे मोक्ष के सम्बन्ध में अपने जुदे-जुदे मतों का प्रचार करते थे। हिन्दू जनता उन साधुओं का ऐसा ही आदर करती थी और उनके उपदेशों से शिक्षा ग्रहण करती थी जैसा आजकल करती है, परन्तु प्रचलित धर्म और व्यवस्था में उनके स्वतन्त्र विचारों के कारण कोई मौलिक विप्लव न होने पाता था, यद्यपि परस्पर विरोधी मतों के संघर्ष से लोक की आत्मोन्नति अवश्य होती थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध-धर्म ने वर्ण-व्यवस्था के विपरीत आन्दोलन चलाया था, यद्यपि जाति-भेद भिक्षुओं के सङ्घ में नहीं माना जाता था। बुद्धदेव क्या ब्राह्मण, क्या शूद्र सभी को संघ में सम्मिलित करते थे, तथापि उनका जात-पांत के बन्धनों के तोड़ने का अभिप्राय न था। बौद्ध मतानुयायियों के गृह्य कर्म वैदिक संस्कारों के अनुसार बराबर होते रहे। उदयनाचार्य ने बौद्धों पर आक्षेप करते हुए लिखा है कि ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं जिसके अनुयायी गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त वैदिक कर्म न करते हों, यद्यपि वे उन्हें परमोपयोगी नहीं मानते।*

बौद्ध और जैन धर्म को ब्राह्मण-धर्म से पृथक् और विरुद्ध मानना बड़ी भूल है।† बौद्ध और जैन युग भारत के इतिहास में कभी नहीं हुए। 'बौद्ध-कालीन भारत'—यह पद ही मिथ्या और भ्रमोत्पादक है।

---

* 'नास्त्येव तद्दर्शनं यत्र सावृतमेतदित्युक्त्वापि गर्भाधानाद्यन्त्येष्टिपर्यन्तां वैदिकीं क्रियां जनो नानुतिष्ठति।'—आत्मतत्व-विवेक।

† "बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा कहाँ से हुई? इस प्रश्न का हमारा यह उत्तर है कि सनातन ब्राह्मण-धर्म से ही उसकी प्रतिष्ठा हुई है। भारत की धर्म-चिन्ता-रूपिणी नदी संहिता-रूपी पर्वत से जन्म प्राप्त कर ब्रह्म नामक शिलामाला में स्खलित होती हुई, जिस समय आरण्यकोप-

राजाओं के आश्रय से जैन या बौद्ध सम्प्रदाय की कभी-कभी कुछ प्रदेशों में प्रधानता हो जाती थी, परन्तु अमुक प्रदेश में एक सम्प्रदाय के आधिपत्य से दूसरे सम्प्रदाय का अत्यन्त विलोप हुआ हो, यह इतिहास से सिद्ध नहीं होता। कभी-कभी एक ही वंश के राजा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के अनुगामी हो जाते थे। आर्य धर्म की ब्राह्मण, जैन, बौद्ध तीनों शाखाओं में घोर विरोध हुआ हो, इसका इतिहास साक्षी नहीं है। वस्तुतः जैन और बौद्ध सम्प्रदाय का ब्राह्मण-धर्म से शाखा और वृक्ष का सा सम्बन्ध है। इन सम्प्रदायों में जो कुछ परस्पर भेद है वह 'स्वगत भेद' है जैसे एक वृक्ष का उसकी शाखा-प्रशाखाओं से होता है।*

निषद् नामक गम्भीर कन्दरा में उपस्थित हुई, उस समय उसका जलोच्छ्वास और भी प्रबल और उसका वेग और भी भीषण हुआ। वह कलकल शब्द करके चारों दिशाओं को मुखरित और दोनों तटों को प्लावित करता हुआ चला। इसके बाद धारा-भङ्ग हुआ—एक धारा की तीन धाराएँ हो गईं। प्रधान धारा का पहला ही नाम रहा—वह ब्राह्मण धर्म के नाम से विख्यात है। अन्य दो धाराओं में एक का नाम बौद्ध और दूसरी का जैन हुआ। जो धर्म-चिन्ता पहले ही से चली आती थी, गौतम बुद्ध को पाकर उसका स्वतन्त्र विकास मात्र हुआ है—उसने केवल एक विभिन्न आकार ग्रहण किया है। जैसे प्राचीन वैदिक ब्राह्मण-धर्म ही नाना अवस्थाओं में परिवर्तन प्राप्त करता हुआ पौराणिक धर्म में परिणत हुआ है एवं बहु-भेद-विशिष्ट होते हुए भी उसे हम लोग ब्राह्मण-धर्म ही के अङ्क में स्थान देते हैं, उसी प्रकार बुद्ध-धर्म भी इसी मूल ब्राह्मण-धर्म का विभिन्न परिवर्तन है; एवं उसे भी हम लोगों को उसी के अङ्क में स्थान देना उचित है। न्याय यही कहता है।"

—श्री विधुशेखर भट्टाचार्य (सरस्वती, मई, १९१४)।

* विंसेंट स्मिथ ने लिखा है कि बौद्ध-धर्म के संस्थापक शाक्य मुनि बुद्ध मङ्गोल जाति के थे, क्योंकि गुरखाओं और तिब्बतियों के समान उनकी आकृति में मङ्गोल जाति के लक्षण थे। भरहुत और साँची की प्राचीन मूर्तियों की मुख-मुद्रा भी मङ्गोल-जातीय लोगों से बहुत मिलती-जुलती है। अर्थात् शाक्य और लिच्छिवि वंश के बुद्ध और महावीर अनार्य-जाति के थे और इसलिए वे आर्य-धर्म के महापुरुषों में नहीं गिने जा सकते।

का सब जातियों को सामान्य अधिकार था। अतएव, बुद्धदेव ने अपने सार्वजनिक धर्म का उपदेश बोलचाल की सुबोध भाषा में किया, क्योंकि संस्कृत भाषा का ज्ञान सबको सुगम नहीं था। बौद्ध-धर्म में जाति-पाँति का भेद नहीं माना गया था। बुद्धदेव सर्वत्र सभी को शिक्षा देते थे। धर्म के अनुशीलन का मनुष्य-मात्र को समान अधिकार प्राप्त है, इस सिद्धान्त की उन्होंने घोषणा की थी। इसलिए बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में ऐसे गुप्त रहस्य नहीं रखे गये थे जिन्हें कुछ थोड़े ही से योग्य व्यक्ति समझने के अधिकारी होते। कुछ बातें बताकर और कुछ छिपाकर बद्धमुष्टि शिक्षक की भाँति बुद्धदेव ने लोगों को धर्म-शिक्षा नहीं दी, किन्तु अपने उपदेश का अधिकारी सभी को वे समान रूप से मानते थे। उनका उपदेश था कि जन्म से नहीं, किन्तु कर्म से मनुष्य की प्रतिष्ठा की जानी चाहिए। उन्होंने धर्म का द्वार सबके लिए समान रूप से खोल दिया। उनकी दृष्टि में कोई भी मनुष्य इतना नीच और पतित नहीं था जो अपने पवित्र जीवन के द्वारा निर्वाण-पद न पा सके। धर्म के उत्तम आदर्श और बौद्ध भिक्षुओं के आत्म-त्याग से आकृष्ट होकर लोगों की बौद्ध-धर्म पर आस्था बढ़ने लगी और वे उसे ग्रहण करने लगे।

भक्ति-सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का धीरे-धीरे ब्राह्मण-धर्म पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। आर्य-धर्म के इतिहास में अहिंसा-सिद्धान्त को परम आदरणीय बनाने का श्रेय जैन और बौद्ध लोगों को प्राप्त है। ज्यों-ज्यों लोगों में इस सिद्धान्त का प्रचार बढ़ा त्यों-त्यों उनमें ब्राह्मणों के कर्म-कांड और यज्ञ की पशु-हिंसा के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगी। यज्ञ और जीव-हिंसा के विरुद्ध उपनिषत् काल में ही आन्दोलन शुरू हो चुका था।* मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि 'ये यज्ञरूपी नावें बड़ी कमज़ोर हैं और इन्हें जो कल्याणकारी कहते हैं वे जरा और मृत्यु को बारंबार प्राप्त करते हैं।'† भागवत धर्म ने, जो वेद-धर्म की ही एक शाखा है, अहिंसा-

---

* मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

† प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टदशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा-मृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥—मुण्डक उपनिषत्—१,२,७।

सिद्धान्त को पूर्णतया अपना लिया था। जैन और बौद्ध धर्मों के अनीश्वर-वाद के विरोध में भागवत धर्म का उत्थान होने लगा था। अत्यन्त प्राचीन काल से ईश्वर पर विश्वास करनेवाली आर्य-जाति का चिरकाल तक अनीश्वरवाद को मानना बहुत कठिन था। अतएव, भारतवर्ष में भक्ति-प्रधान भागवत धर्म का प्रबल आन्दोलन जैन और बौद्धों की उन्नति के समय में चल पड़ा था। ई० पूर्व ६०० के लगभग पाणिनि के समय में भारतवर्ष में भक्ति-मार्ग प्रचलित हो चुका था। पाणिनि ने अपने व्याकरण-सूत्रों में 'वासुदेव' के नाम का उल्लेख किया है, जिस पर टीका करते हुए पतञ्जलि ने वासुदेव को आराध्य देव कहा है। ई० पू० २०० के लगभग राजपूताने के घोसुण्डी के शिलालेख में सङ्कर्षण और वासुदेव की पूजा के लिए मन्दिर की दीवार के बनाने का उल्लेख है। ई० पू० दूसरी शताब्दी के भिलसा के स्तम्भलेख से पता चलता है कि यवन हेलियोदोर वासुदेव का परम भक्त और भागवत धर्म का अनुयायी था। ई० पू० चौथे शतक में मेगास्थनीज़ ने भी मथुरा के शूरसेनी यादवों में 'हैरिक्लिस' (हरि-कृष्ण) की पूजा के प्रचार होने का उल्लेख किया है। भगवद्गीता में कहा है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'—सब कुछ वासुदेव-रूप है, यह जाननेवाला महात्मा सुदुर्लभ है। प्राचीन काल में हिन्दू धर्म की तीनों शाखाएँ—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध—आपस के विचार-संघर्ष और पारस्परिक सहिष्णुता के कारण बराबर विकसित और पल्लवित होती रहीं, उनमें परस्पर विचारों का आदान-प्रदान होता रहा और एक ने दूसरे के उपादेय सिद्धान्तों को विचार की कसौटी पर कसकर ग्रहण कर लिया।

बौद्ध-धर्म का हिन्दू-संस्कृति पर प्रभाव—बौद्ध-काल के पूर्व का हिन्दू-धर्म कर्मकाण्डियों के हाथ में था। यज्ञ-यागादिकों के कारण वह इतना दुरूह हो गया था कि उसे ब्राह्मण-वर्ग के अतिरिक्त कोई नहीं समझ सकता था। साधारण जनता उससे एक प्रकार से अनभिज्ञ हो चली थी। बौद्ध-धर्म अपनी स्वाभाविक सरलता, सुबोध आचार-विचार, धर्म के प्रचार में बोलचाल की भाषा के व्यवहार, दृष्टान्तों द्वारा उपदेश करने की आकर्षक प्रणाली तथा

लोक-सेवा के भाव के कारण साधारण जनता के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ।

बहुत सम्भव है कि बौद्धों के द्वारा ही भारत में मूर्ति-पूजा की प्रथा प्रचलित हुई हो, क्योंकि बुद्ध के पूर्व हिन्दुओं में मूर्ति-पूजा के प्रचार का कोई चिह्न नहीं पाया जाता। हमारा अनुमान है कि पहले पहल बुद्ध की मूर्ति की स्थापना एक महोपदेशक और महात्मा की पुण्यस्मृति अक्षुण्ण रखने के लिए हुई थी, किन्तु कुछ ही दिनों के बाद उनके अनुयायियों द्वारा बुद्ध ईश्वर के अवतार माने जाने लगे और उनकी मूर्ति की पूजा विधिपूर्वक होने लगी। इन मूर्तियों की रक्षा के लिए भवन-निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई और जहाँ वैदिक आर्य प्राचीन ईरानियों की भाँति खुली हवा में यज्ञ-कर्म करते थे वहाँ मन्दिर-निर्माण की व्यवस्था की जाने लगी।

भिक्षु-संघों द्वारा अथवा धार्मिक सम्मेलनों द्वारा धर्म का प्रचार करना बौद्ध-धर्म की विशेषता थी। इसमें सन्देह नहीं कि धर्माचरण के लिए वृद्धावस्था में वानप्रस्थ या संन्यास लेकर तपस्या करने के लिए जङ्गल को चला जाना तथा जीवन का शेषकाल एकान्त धर्म-चिन्तन में अतिवाहित करना बौद्ध-धर्म के उदय के बहुत पहले से ही भारतीयों में प्रचलित था, किन्तु धर्मोपदेशकों का संघ के रूप में सङ्गठित होकर धर्म के प्रचार करने की प्रथा न थी। इस संघ-शक्ति के कारण बौद्ध-धर्म दूर-दूर तक फैला। इस धर्म के विश्वव्यापी प्रभाव का भिक्षु-संघ ही प्रधान कारण था।

बौद्ध-धर्म से बोलचाल की भाषा में बहुमुखी और विस्तृत साहित्य की उत्पत्ति हुई। वैदिक साहित्य की भाँति बौद्ध साहित्य केवल ब्राह्मणों के लिए ही न था, बल्कि छोटे-बड़े सब समान रूप से उससे लाभ उठा सकते थे। पाली या प्राकृत का साहित्य बौद्ध-धर्म के अभ्युदय का फल था।

भारतीय शिल्प और मूर्तिकला की श्रीवृद्धि में बौद्ध-धर्म से बहुत प्रोत्साहन मिला। हमें यह लिखते भी सङ्कोच न होगा कि बौद्धों ने ही इन कलाओं का श्रीगणेश किया था। इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध-धर्म के उदय के पूर्व हिन्दुओं का ध्यान इस ओर गया ही न था। बौद्धों ने गुफा-मन्दिरों

का निर्माण पहले पहल आरम्भ किया, जिसका हिन्दू और जैन बहुत दिनों तक अनुकरण करते रहे।

बौद्ध-धर्म ने विदेशों के साथ भारत का स्थायी सम्बन्ध स्थापित किया। संसार की सभ्यता-वृद्धि में भारत ने जो कुछ सहायता पहुँचाई है उसका मुख्य श्रेय बौद्ध-धर्म को है। इस धर्म ने भारत के निकटवर्ती विदेशियों को सदा के लिए अपना ऋणी बना दिया। भारतीय विद्वान् और धर्मोपदेशक ई० स० के ३०० वर्ष पूर्व से बौद्धधर्म का पवित्र सन्देश लेकर देश-देशान्तरों को गये और वहाँ के अधिवासियों को अपना अनुयायी बनाया। तदुपरान्त विदेशियों की सम्मानपूर्ण दृष्टि भारत की ओर पड़ी और वे इस देश को अपना पवित्र तीर्थ-स्थान मानने लगे और अपने धर्म की जन्मभूमि के दर्शनार्थ यात्रियों के रूप में आने लगे।

इस आवागमन का परिणाम यहाँ तक हुआ कि आगन्तुक अनार्य जातियाँ भारतीय आर्यों के साथ इस प्रकार हिलमिल गईं कि उनके अस्तित्व का पृथक् चिह्न तक न रह गया। इतिहास इसका साक्षी है। ई० स० की पहली सदी के उत्कीर्ण लेखों में कुछ शक-पल्हव परिवारों का नाम आता है, जो पश्चिम भारत में ब्राह्मणों और बौद्ध धर्मोपदेशकों को अपने आश्रय में रखकर उनका समान रूप से भरण-पोषण करते थे। कार्ले और नासिक के शिला-लेखों से पता चलता है कि शक-जातीय हरफर्न ने नौ मठों से सज्जित गुफा-मन्दिर बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था और शक-क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदत्त (ऋषभदत्त) ने सोलह गाँव और तीन लाख गाएँ ब्राह्मणों को दान में दी थीं। इतना ही नहीं, बल्कि उसने आठ ब्राह्मण-कन्याओं के विवाह में अपने व्यय से कन्या-दान किया, साल भर तक एक लाख ब्राह्मणों को भोजन दिया, बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक विहार बनवा दिया तथा गुफा में रहनेवाले संन्यासियों के भरण-पोषण के लिए एक गाँव दान-पत्र में लिखकर दे दिया। इन दृष्टान्तों से निर्विवाद सिद्ध है कि यवन, शक, पल्हव आदि विदेशी जातियाँ धीरे-धीरे हिन्दुओं के समाज में इस प्रकार हिलमिल गईं कि उनके वैदेशिक मूल का लेशभर भी अनुमान कालान्तर में नहीं किया जा सकता था।

आठवाँ परिच्छेद

बुद्धकालीन भारत

भारत के राजनीतिक विभाग—प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि बुद्ध के जन्म के पूर्व उत्तर भारत में १६ राष्ट्र थे।* उनमें कोसल, मगध, वत्स और अवन्ती ये चार अधिक शक्तिशाली थे। उनमें परस्पर स्पर्धा और संघर्ष प्रायः होता रहता था। ये राष्ट्र राजतन्त्र थे। इनके अतिरिक्त कई राष्ट्र प्रजातन्त्र थे।

(१) कोसल—बुद्ध के जीवन-काल में कोसल उत्तर भारत के केन्द्र में बड़ा शक्तिशाली राज्य था। यह राज्य हिमालय से दक्षिण-पूर्व की ओर प्रयाग तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी। बुद्ध के समय तक काशी का स्वतन्त्र राज्य कोसल में मिला लिया गया था। कोसल का राजा प्रसेन-

---

* बुद्ध के पूर्व के 'षोडश महाजनपदों' की निम्नलिखित सूची प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में पाई जाती है—

(१) अङ्ग (मुँगेर, भागलपुर)
(२) मगध (बिहार)
(३) काशी (बनारस)
(४) कोसल (अवध)
(५) वज्जी (वैशाली)
(६) मल्ल (कुशीनार)
(७) चेदि (बुन्देलखण्ड)
(८) वंश (कौशाम्बी)
(९) कुरु (इन्द्रप्रस्थ)
(१०) पाञ्चाल (कुरु के पूर्व गङ्गा के किनारे)
(११) मच्छ (अलवर, जयपुर का भाग)
(१२) सूरसेन (मथुरा)
(१३) अस्सक (गोदावरी के तट पर)
(१४) अवन्ती (मालवा)
(१५) गान्धार (तक्षशिला)
(१६) कम्बोज (सिन्ध के उत्तर-पश्चिम में)

रिज़ डेविड्स—बुधिस्ट इंडिया, पृ० २३

जित बुद्ध का समकालीन था। उसकी बुद्ध से बड़ी मित्रता थी। उनके परस्पर के संवाद बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित हैं। मगध के राजा अजातशत्रु से उसके कई बार युद्ध हुए। प्रसेनजित के पुत्र विडूडभ ने प्रसेनजित के मन्त्री के साथ षड्यन्त्र रचकर उसका राज्य छीन लिया और फिर शाक्यों पर हमला किया। इस दुष्ट राजा ने इस आक्रमण में बड़ी भारी नर-हत्या की। बुद्ध के पश्चात् कोसल राज्य धीरे-धीरे मगध के अधीन हो गया।

(२) **मगध**—मगध का राज्य बुद्ध के समय में वर्तमान पटना और गया ज़िले के बराबर था। इसकी राजधानी राजगृह थी। बुद्ध के जीवन-काल में मगध पर शिशुनाग-वंश के राजा बिम्बिसार और उसका पुत्र अजातशत्रु क्रम से राज्य करते थे। बिम्बिसार ने अङ्ग (भागलपुर) के राज्य को, जिसकी राजधानी चम्पा थी, मगध में मिला लिया था। इस समय मगध के और कोसल राज्यों में राजनीतिक प्रभुता के लिए परस्पर संघर्ष हो रहा था।

(३) **अवन्ती**—अवन्ती (मालवा) का राजा प्रद्योत बुद्ध का सम-सामयिक था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। उसका पुत्र (अवन्ति-पुत्र) मथुरा में राज्य करता था। बुद्ध के प्रिय शिष्य सोण, धम्मपाल, महाकच्चान आदि अवन्ती देश में हुए थे जिन्होंने बड़े उत्साह से बौद्ध धर्म्म का प्रचार किया।

(४) **वत्स**—वत्स के राज्य की राजधानी कौशाम्बी थी। बुद्ध के जीवन-काल में यहाँ राजा उदयन राज्य कर रहा था। प्राचीन कौशाम्बी का नगर प्रयाग से कुछ मील दूर यमुना के किनारे कोसम नामक ग्राम के आस-पास बसा हुआ था। उदयन के विषय में कथा प्रसिद्ध है कि वह अपनी वीणा के स्वर से हाथियों को वश में कर जङ्गलों से उनको पकड़ लाया करता था। एक बार उसे मालवा के राजा प्रद्योत ने क़ैद कर लिया। प्रद्योत ने अपनी पुत्री वासवदत्ता को सङ्गीत सिखाने के लिए उदयन को नियुक्त किया था। उसका वासवदत्ता के साथ स्नेह हो गया। फिर एक विचित्र युक्ति से उदयन वासवदत्ता को हरकर अपने राज्य में ले गया।

इस प्रकार इन पूर्वोक्त राष्ट्रों में कभी मित्रता और कभी युद्ध होते रहते थे।

बौद्ध-साहित्य में गण-राज्य—प्राचीन बौद्ध साहित्य में अनेक प्रजातन्त्र राज्यों का उल्लेख मिलता है। उनमें शाक्य, लिच्छवि, विदेह, मल्ल, मोरिय आदि अधिक प्रसिद्ध थे। वे संघ या गण कहलाते थे।* शाक्यों की

---

* जिन लोगों में राजसत्ता कुछ थोड़े से प्रमुख लोगों के अधीन रहा करती थी उन्हें महाभारत में 'गण' कहा गया है। इन गणों में लोग प्रायः एक ही जाति और वंश के हुआ करते थे। इसलिए इनका नाश केवल भेद-नीति से हो सकता था। ये अपनी राजसभाओं के निर्णय और विचार गुप्त नहीं रख सकते थे। ये गण धनाढ्य और शक्तिशाली होते थे।

'भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥—महाभा०, शान्तिपर्व १०७।

कौटिल्य ने लिखा है कि समान कुल के लोगों की भी राजसत्ता हो सकती है और उनकी सङ्गठित शक्ति दुर्जय होती है—'कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसंघो हि दुर्जयः।' प्राचीन भारत के इतिहास से अनेक प्रजातन्त्र राष्ट्रों का पता चलता है।

देखिए—जायसवाल, हिन्दू राज्य-तन्त्र।

प्राचीन पाली-ग्रन्थों में प्रजातन्त्र राष्ट्रों की निम्नलिखित सूची पाई जाती है—

(१) शाक्य—कपिलवस्तु
(२) बुली—अल्लकप्प
(३) कालाम—केसपुत्त
(४) भग्ग—संसुमार
(५) कोलिय—रामगाम
(६) मल्ल—पावा
(७) मल्ल—कुशीनार
(८) मोरिय—पिप्पलीवन
(९) विदेह—मिथिला
(१०) लिच्छिवि—वैशाली

रिज़ डेविड्स—बुधिस्ट इंडिया।

ये गण-राज्य ई० पू० छठी सदी में कोसल के पूर्व हिमालय और गङ्गा के मध्य में स्थित थे। मेगास्थनीज ने जिन गण-राष्ट्रों का उल्लेख किया है वे पञ्जाब और सिन्ध के प्रदेशों में कच्छ की खाड़ी तक फैले हुए थे। —लेखक

राजधानी कपिलवस्तु गोरखपुर ज़िले में थी। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली (बसाढ़, मुज़फ़्फ़रपुर ज़िला) थी। विदेह की मिथिला राजधानी थी। मल्लों का राज्य बहुत विस्तृत था। इनके प्रसिद्ध केन्द्र कुशीनगर (गोरखपुर के समीप) और पावा (पटना ज़िला) थे।

वज्जियों का राष्ट्र-संघ—लिच्छवि और विदेह के संघों में आठ गण-तन्त्र राज्य सम्मिलित थे। बुद्ध के समय का यह बड़ा राष्ट्र-सङ्गठन 'वज्जी' नाम से प्रसिद्ध था। मगध के राजा अजातशत्रु ने एक बार इस राष्ट्र-संघ पर आक्रमण करने का विचार किया और अपने प्रधान मन्त्री को बुद्ध के पास इस विषय में सम्मति लेने के लिए भेजा। बुद्ध ने अजातशत्रु को यह कहला भेजा कि जब तक वज्जी लोग अपनी सभाएँ करते रहेंगे और मिलकर अपना राजकार्य करेंगे, जब तक वे अपने प्राचीन रीति-रिवाजों का अपने संघ में पालन करेंगे और निश्चित नियमों का उल्लंघन न करेंगे, जब तक वे संघ के वृद्ध पुरुषों की सम्मति का आदर करते रहेंगे, तब तक वज्जी लोगों के पतन की कोई आशङ्का नहीं करनी चाहिए, बल्कि हर तरह से उनके उन्नत तथा सम्पन्न होने की ही आशा करनी चाहिए। महात्मा बुद्ध के उपर्युक्त उपदेश से मालूम होता है कि ये प्रजा-तन्त्र राज्य बड़े शक्तिशाली थे और इन्हें वश में करने के लिए कोसल और मगध के राजा चेष्टा कर रहे थे। कोसल के राजा विड्डूडभ ने शाक्यों के कपिलवस्तु पर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे अजातशत्रु ने भी वज्जियों के राष्ट्र-संघ की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया।

गण-राज्यों की शासन-प्रणाली—इन गण-राष्ट्रों का राजकाज उनकी सार्वजनिक सभाओं—'सन्थागारों'—में होता था, जिसमें छोटे बड़े सभी लोग उपस्थित हुआ करते थे।* वे अपना एक प्रमुख चुन लेते थे, जो सभा के

* ये सन्थागार कपिलवस्तु के अतिरिक्त ग्रामों मे भी थे जहाँ गृहस्थ लोग मिलकर अपने सार्वजनिक कार्य्यों पर विचार और निर्णय करते थे। उनमे सभासद् निर्दिष्ट क्रम से बैठते थे। सभापति प्रस्तावित कार्य्य-क्रम सभा के सामने उपस्थित करता था, दूसरे उस पर बोलते थे

अधिवेशनों का सभापति होता था और राज्य के सभी कार्य किया करता था। उसकी उपाधि राजा होती थी। सभापति ही सर्वप्रधान न्याय-कर्त्ता होता था। नागरिकों की स्वतन्त्रता की बहुत सावधानी से रक्षा की जाती थी। जब तक राजा, उपराजा तथा सेनापति तीनों एक मत होकर अपनी स्वीकृति नहीं देते थे तब तक कोई नागरिक अपराधी नहीं ठहराया जाता था। प्रत्येक न्यायालय को किसी नागरिक को निरपराध ठहराकर छोड़ देने का अधिकार था। अभियुक्त नागरिक को काउन्सिल से लेकर राजा तक अपने मुक़दमे की अपील करने का अधिकार प्राप्त था।

ग्राम-संगठन—पाली भाषा के प्राचीन जातक, सुत्तपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों से ई० पू० छठी और पाँचवीं सदी के आर्यावर्त की सभ्यता पर बहुत प्रकाश पड़ता है। उस समय यहां ग्राम-संस्थाएँ विद्यमान थीं। प्रत्येक ग्राम एक छोटा सा प्रजातन्त्र था। किसान ही अपनी भूमि के मालिक होते थे। जागीरी या ज़मींदारी की प्रथा नहीं थी। राजा किसानों से उपज का दशमांश कर रूप से लेता था। ग्राम का मुखिया या पञ्चायत उपज के दशमांश की नाप-तोल करती थी। कभी-कभी राजा किसी ग्राम का केवल कर मात्र किसी व्यक्ति या संघ के नाम लिख देता था। ग्रामों के चारों ओर खेत, जङ्गल और चरागाह होते थे। उन चरागाहों और जङ्गलों पर सब का समान अधिकार होता था। कोई किसान अपने हिस्से का खेत ग्राम की पञ्चायत की आज्ञा बिना न तो बेच सकता था और न रेहन रख सकता था।

और लेखक सभा के निर्णयों को लिपिबद्ध कर लेते थे। यदि किसी विषय पर सभासदों में घोर मतभेद होता था तो वह विषय एक समिति को निर्णयार्थ भेज दिया जाता था। बौद्ध-संघ में भी इस प्रकार कार्यवाही होती थी। सभा में वोट (मत) गिनने की प्रथा थी। सदस्य अपना मत—'छन्द'—एक प्रकार के टिकटों (शलाकाओं) पर लिखकर प्रकट करते थे। इनके द्वारा सम्मति एकत्र करने को 'शलाका-ग्रहण' कहते थे।

—जायसवाल, हिन्दू राज्यतन्त्र पृ० १६७–१९२।

गाँव का सारा प्रबन्ध पञ्चायत या मुखिया के द्वारा होता था। गाँववालों से कोई बेगार न ली जाती थी। वे मिलकर सड़क, सभागृह, कुएँ आदि बनाते थे। न तो वे बहुत धनी थे और न अत्यन्त दरिद्र थे। उन्हें खाने-पीने की कमी न थी। वहाँ अपराध भी बहुत कम होते थे। उस समय अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण कभी-कभी अकाल भी पड़ते थे।

प्रसिद्ध नगर—आर्यावर्त में इस समय बड़े शहर थोड़े ही थे। बड़े शहरों में सावत्थी (राप्ती के तट पर वर्तमान सहेत-महेत ग्राम), चम्पा (अङ्ग की राजधानी), राजगृह, साकेत (कोसल की राजधानी), कौशाम्बी (प्रयाग के पास कोसम गाँव) और वाराणसी का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त बड़े नगरों में अयोध्या, मथुरा, मिथिला, उज्जैन, वैशाली और तक्षशिला आदि गिने जाते थे।

व्यवसाय और उद्योग-धन्धे—कारीगरी और उद्योग-धन्धे इस समय उन्नत दशा में थे। बढ़ई, सुनार, लुहार, चर्मकार, रँगरेज़, हाथी-दाँत का काम करनेवाले, जौहरी, चित्रकार, कुम्हार, तेली, जुलाहे आदि सभ्य समाज के अनेक तरह के पेशेवालों का प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है। प्रत्येक व्यापार और पेशे के लोग आपस में सहयोग करके 'श्रेणी' बना लेते थे। प्रत्येक श्रेणी (समुदाय) का अध्यक्ष प्रमुख कहलाता था। इन श्रेणियों के नेता राजा के मन्त्री और दरबारी हुआ करते थे। जातकों से कम से कम १८ व्यवसायों का पता चलता है जो श्रेणीबद्ध थे। दूर देशों से व्यापार करनेवालों का नियमबद्ध समुदाय था जिनका सरदार 'सार्थवाह' कहलाता था। व्यापारियों के क़ाफ़िलों की रक्षा के लिए स्वयंसेवक पुलिस भी रहती थी। इन श्रेणियों में नियमानुसार प्रविष्ट होकर लोग अपना-अपना हुनर या धन्धा सीख सकते थे। सारे उद्योग-धन्धे उस समय 'सम्भूय-समुत्थान' पर निर्भर थे और प्रायः पुत्र अपने पिता के व्यवसाय का ही अनुसरण किया करता था।

व्यापार और व्यापारिक मार्ग—बुद्ध के समय में भारत के सौदागर व्यापार के लिए दूर देशों को जाते थे। व्यापारियों के झुण्ड काशी से चलकर राजपूताने की मरुभूमि को पार कर भड़ौच (भरुकच्छ) और सूरत (सौवीर)

के समुद्र-तट तक पहुँचते थे और वहां से पश्चिम में बैबिलन (बावेरु) पर्यन्त व्यापार करते थे। चम्पा से सुवर्णभूमि (ब्रह्मदेश) और पटना से लङ्का तक व्यापारी लोग जल-मार्ग द्वारा पहुँचते थे। भारतवर्ष के अन्दर एक व्यापारिक मार्ग—'वणिक्पथ'—उत्तर में श्रावस्ती से दक्षिण में गोदावरी के तट पर प्रतिष्ठान (पैठान) को जाता था। इस पर साकेत, कौशाम्बी, विदिशा और उज्जयिनी आदि बड़े नगर पड़ते थे। दूसरा वणिक्पथ श्रावस्ती से राजगृह को जाता था। एक रास्ता पूर्व से पश्चिम में सिन्ध और सूरत तक चला जाता था। एक मार्ग विदेह से उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला होता हुआ सीधा गान्धार तक जाता था। तक्षशिला के विद्यापीठ में दूर-दूर से भारतीय विद्यार्थी इसी मार्ग द्वारा आया करते थे। जातकों में जहाजों, समुद्र-यात्रा और भारत का अन्य देशों से संसर्ग के बारे में बहुत कुछ उल्लेख मिलते हैं।

कौटिल्य और यूनानियों के लेखों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में भारतवासी ऐहिक सभ्यता में बहुत बढ़े-चढ़े थे। उन्हें सब प्रकार के सांसारिक सुख-साधन प्राप्त थे और वे देश-देशान्तरों से खूब व्यापार किया करते थे। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में व्यापार के लिए परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध और संसर्ग रहता था।

सिक्कों का प्रचार—जातकों से पता लगता है कि इस समय सिक्कों का प्रचार अच्छी तरह हो गया था और वस्तुओं के विनिमय की पुरानी प्रथा धीरे-धीरे उठती जा रही थी। सबसे साधारण सिक्का ताँबे का—'कहापण'—कार्षापण था। 'निष्क' और 'सुवर्ण' सोने के सिक्के थे। कंस, पाद, माष, काकणि नाम के छोटे सिक्कों का भी चलन था। बौद्ध-काल के बहुत से प्राचीन सिक्के मिले हैं जिन पर कुछ चिह्न खुदे होते हैं। सेठ और व्यापारी आपस में हुण्डियों का व्यवहार करते थे। ऋण-पत्र और सूद (वृद्धि) के भी उल्लेख जातकों में मिलते हैं। पूर्वोक्त बातों से स्पष्ट है कि कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य आदि 'वार्ता-शास्त्र' (Economics)* सम्बन्धी सभी अङ्ग बुद्धकालीन भारत में

---

* कृषि-पाशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता—कौटिल्य, १.

उन्नत दशा में थे। कला, कारीगरी और व्यापार सङ्गठित तथा बढ़े-चढ़े थे और लोग धन के आदान-प्रदान के साहूकारी तरीक़ों से पूर्णतया अभिज्ञ थे।

प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थ—जैनों और बौद्धों के प्राचीन धर्म-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचे गये थे। जैन अपने पवित्र ग्रन्थों को 'सिद्धान्त' या 'आगम' कहते हैं। उनमें १२ अङ्ग सबसे मुख्य माने गये हैं। 'आचारांग-सूत्र' में जैन साधुओं के और 'उपासक-दशा-सूत्र' में जैन उपासकों के आचरण-सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। ई० सन् ४५४ में देवर्धिगणि ने गुजरात में समग्र जैन-धर्म के ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया था। लेखबद्ध होने के पूर्व जैन सिद्धान्त का ज्ञान जैनों को केवल पारम्परिक सम्प्रदाय द्वारा प्राप्त हुआ था।

बौद्ध धर्म के प्राचीन ग्रन्थ पाली भाषा में हैं, जो प्राकृत का सबसे पहला साहित्य है। अशोक के समय के पूर्व बौद्ध धर्म-ग्रन्थ प्रायः संगृहीत हो चुके थे। वे ग्रन्थ 'त्रिपिटक'—विनयपिटक, सुत्तपिटक और अभिधम्म-पिटक—के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(१) विनयपिटक में बौद्ध संघ की दिनचर्या और आचरण-सम्बन्धी नियमों का सविस्तर वर्णन किया गया है।

(२) सुत्तपिटक में बुद्ध के सिद्धान्त और उनके उपदेशों का वर्णन किया गया है। इसमें पाँच व्याख्यान-मालाओं—पञ्च निकायों—का संग्रह किया गया है।

(३) अभिधम्मपिटक में बौद्ध सिद्धान्तों की शास्त्रार्थ-रूप में विवेचना की गई है।

ये तीनों पिटक बुद्ध के जीवनचरित, उनके उपदेश और बौद्धकालीन इतिहास के जानने के लिए बहुत उपयोगी हैं। ये ग्रन्थ बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् सैकड़ों वर्षों तक कण्ठाग्र रखकर रक्षित किये गये। ई० सन् के पूर्व पहली सदी में ये ग्रन्थ लङ्का में पहली बार लिपिबद्ध किये गये थे, किन्तु

इनकी रचनाएँ उत्तर भारतवर्ष में हुई थीं। पाली के प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ 'हीनयान' सम्प्रदाय के थे। पीछे से बौद्ध विद्वान् संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लिखने लगे थे।*

मगध के शैशुनाग वंश का इतिहास

आर्यावर्त का शृङ्खलाबद्ध इतिहास ई० स० पूर्व सातवीं शताब्दी से आरम्भ होता है। पुराणों, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थों से मगध का विशेष वृत्तान्त मिलता है, क्योंकि जैन और बौद्ध धर्मों का उत्थान इस युग में इसी प्रदेश में हुआ था। मगध (दक्षिणी बिहार) पर शिशुनाग वंश का राज्य ई० पूर्व सातवीं शताब्दी के लगभग स्थापित हुआ था। पुराणों में इस वंश के दस राजाओं के नाम मिलते हैं।

बिम्बिसार—मगध के राजवंश का संस्थापक शिशुनाग था जो काशी का राजा था। उसने मगध पर अधिकार कर गया के निकट राजगृह को अपनी राजधानी बनाया। इस वंश का पाँचवाँ राजा बिम्बिसार या श्रेणीक था। वह बुद्ध का समकालीन और मित्र था। उसने अङ्ग (मुँगेर और भागलपुर) को जीतकर मगध-राज्य में मिला लिया था। मगध का अभ्युदय बिम्बिसार के समय से प्रारम्भ हुआ। उसकी पहली राजधानी गिरिव्रज थी, जिसकी पत्थर की दीवारें, जो अब तक विद्यमान हैं, भारत के अतीव प्राचीन अवशेषों में गिनी जाती हैं। उसने नवीन राजगृह बसाया था। जैन तीर्थङ्कर महावीर भी उसके समकालीन थे। जैन कथाओं में ऐसी प्रसिद्धि है कि बिम्बिसार जैन धर्म का बड़ा ही उदार आश्रयदाता था और जैन-धर्म का अनुयायी था। उसके २८ वर्ष का राज्य-काल लगभग ई० स० पूर्व ५८० से ५५२ तक रहा। बिम्बिसार की रानी कोसलदेवी कोसल के राजा प्रसेनजित की बहिन थी। उसकी दूसरी रानी लिच्छिवि-वंश की थी जिससे अजातशत्रु का जन्म हुआ था और

---

* कैंब्रिज हिस्टरी आव् इंडिया, जिल्द १, पृ० १९२-१९७।

तीसरी रानी पञ्जाब के मद्र-राजा की पुत्री थी। इन विवाह-सम्बन्धों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मगध-राज्य का प्रताप बुद्ध के समय में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। कहा जाता है कि वृद्धावस्था में उसने राज-कार्य अपने पुत्र अजातशत्रु को सौंप दिया था, परन्तु राज्य के लोभ से अजातशत्रु ने उसे मार डाला। अजातशत्रु पर पितृ-हत्या का लाञ्छन बौद्ध ग्रन्थकारों ने लगाया है। परन्तु यह कथा उनके धर्मद्वेष के कारण कल्पित की हुई प्रतीत होती है। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि अजातशत्रु ने, बुद्ध के समक्ष, अपने पापों के लिए पश्चात्ताप किया और उनसे बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली।

अजातशत्रु—बिम्बिसार के पश्चात् अजातशत्रु (कुणीक) मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। महावंश के लेखक ने उसका राज्यारोहण-काल बुद्ध-निर्वाण से आठ वर्ष पूर्व माना है। सिंहल देश की क्रमागत कथाओं के अनुसार बुद्ध का निर्वाण-काल ई० सन् से ५४४ वर्ष पूर्व सिद्ध होता है। अतएव अजातशत्रु का राज्याभिषेक ५५२ ई० पूर्व हुआ हो।

अजातशत्रु ने सोन और गङ्गा नदियों के सङ्गम पर एक गढ़ बनवाया। इस गढ़ के आस-पास धीरे-धीरे नगर बसने लगा, जो कुसुमपुर या पाटलिपुत्र के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। बढ़ते-बढ़ते यह नगर मगध की ही नहीं किन्तु सारे भारत की राजधानी हो गया। अजातशत्रु का विवाह कोसल की राजकुमारी से हुआ था और उसकी माँ वैशाली के प्रसिद्ध राजघराने की थी। इन राजघरानों से उसका सम्बन्ध होते हुए भी वह कोसल और लिच्छिवियों से बराबर युद्ध करता रहा। कोसल पर उसकी विजय हुई। कोसल का वह प्रसिद्ध पुराना राजवंश अजातशत्रु के समय से इतिहास के रङ्गमञ्च से सदा के लिए बिदा हुआ। कोसल राज्य मगध के अधीन हो गया। उसने लिच्छिवियों की राजधानी वैशाली (तिरहुत) पर भी अधिकार कर लिया था। गङ्गा और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश पर मगध का आधिपत्य स्थापित हो गया जो बढ़ते-बढ़ते मौर्य युग में भारत के सार्वभौम राज्य का केन्द्र बन गया। इस काल में भारत के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण

घटनाएँ हुईं; एक ओर बुद्धदेव ने धर्म का साम्राज्य-'धम्म-चक्क'-स्थापित किया और दूसरी ओर अजातशत्रु ने मगध-राज्य के सार्वभौम आधिपत्य की नींव डाली।

दर्शक—अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र दर्शक मगध का राजा हुआ। भास के 'स्वप्न-वासवदत्ता' नामक नाटक में दर्शक का उल्लेख है। उसमें लिखा है कि उसकी बहिन पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन से हुआ था।

ईरान का सिन्धु देश पर अधिकार—दूरतम काल से ही भारत का पाश्चात्य देशों के साथ बराबर सम्पर्क रहता था, यह तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Philology) से निर्विवाद सिद्ध है। ईरान प्राचीन आर्य-सभ्यता का केन्द्र था। ईरान से पश्चिम के प्रदेश—एशिया माइनर—से मिले हुए कीलाक्षर लिपि के शिलालेखों से पाया जाता है कि वहाँ पर ई० स० पूर्व १५०० और १४०० में राज्य करनेवाले मिटन्नि (Mitanni) के राजा आर्य नाम धारण करते थे और ऋग्वेद के इन्द्र, वरुण, मित्र और अश्विन देवताओं के उपासक भी थे। बेबीलोनिया और भारत के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से स्थापित था। ई० स० पूर्व की छठी सदी में ईरान के बादशाह काइरस (Cyrus) ने पश्चिम एशिया में बड़ा साम्राज्य स्थापित किया और गान्धार देश पर अधिकार कर लिया। ई० सन् पूर्व ५२२ में दारा (Darius I) ईरान का बादशाह हुआ। उसके बहिस्टान, नक़्श-रुस्तम और पर्सि-पोलिस के शिलालेखों से पता चलता है कि उसने गान्धार से सिन्धु नदी के मुहाने तक के प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित किया था। यूनानी इतिहासकार हिरोडोटस (Herodotus) ने लिखा है कि दारा ने स्काइलैक्स को जहाज़ों के बेड़े के साथ गान्धार से सिन्धु में होकर समुद्र-तट के देशों का पता लगाने के लिए भेजा था और तदुपरान्त उसने उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया।

हिरोडोटस के कथन से मालूम होता है कि दारा का अधिकार ई० पूर्व ५२२ से ४८६ के बीच में सिन्ध और पञ्जाब के पश्चिम भागों पर स्थापित हो गया था

और उसने सिन्ध प्रदेश को अपने साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त निर्धारित किया था। सिन्ध उस समय अत्यन्त धनाढ्य और आबाद प्रदेश था। ईरान के साम्राज्य की कुल वार्षिक आमदनी का एक तिहाई हिस्सा दारा को एक सिन्ध प्रान्त से ही उपलब्ध होता था। इससे उस देश के वैभव का अनुमान किया जा सकता है। नदियों के मार्ग प्राचीन समय से आज तक बहुत कुछ बदल गये हैं और इसी लिए जिस सिन्ध प्रदेश में आज विस्तीर्ण मरुस्थली देख पड़ती है वह पूर्वकाल में प्रभूत धन-जन से परिपूर्ण थी। *

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि सिन्ध-प्रान्त से ईरान का अधिकार कब उठ गया। ई० पूर्व के चौथे शतक में सिन्धु नदी भारत और ईरान के साम्राज्य की सीमा मानी जाती थी, किन्तु उस नदी के तटस्थ प्रदेशों पर सिकन्दर के आक्रमण के समय ईरान के अधिकार का कोई भी चिह्न देखने में नहीं आता, बल्कि स्वतन्त्र हिन्दू राजा वहाँ उस समय शासन कर रहे थे। ई० सन् पूर्व पाँचवीं शताब्दी से सिकन्दर के आक्रमण की अवधि के बीच में किसी समय ईरान का सिन्ध पर से अधिकार उठ गया होगा। भारत के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में खरोष्ठी लिपि का उपयोग ई० स० की चौथी शताब्दी तक होता रहा। यह लिपि दाहिनी ओर से बाँईं ओर लिखी जाती थी। इसका प्रचार ईरान के राज्य-काल में भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में हुआ था। सम्राट् अशोक के पश्चिमोत्तर प्रान्तों के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में ही लिखे गये थे।

उदयाश्व—दर्शक की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उदयाश्व लगभग ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में मगध के सिंहासन पर बैठा। उसने पाटलिपुत्र के समीप कुसुमपुर नाम का नगर बसाया था।

नन्दिवर्धन—उदयाश्व के पुत्र और उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन का राज्य-काल पुराणों में ४२ वर्ष लिखा है। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल

---

* रैप्सन—एंशेंट इंडिया, पृ० ७८-८५।

का मत है कि कलिङ्ग के जैन राजा खारवेल के शिलालेख में नन्दिवर्धन (नन्दराज) के चलाये हुए संवत् का उल्लेख है। नन्द संवत् विक्रम संवत् (ई० पूर्व ५८) से ४०० वर्ष पूर्व चला था। यह अलबेरुनी ने लिखा है जिसने इस संवत् का चलन मथुरा में पाया था। उस संवत् के एक सौ तीसरे वर्ष में एक नहर खोदी गई। इस नहर को बढ़ाकर खारवेल कलिङ्ग में ले आया। इसी लेख में यह भी उल्लेख है कि नन्द 'जिन' की मूर्ति उड़ीसा से मगध में ले आया था जिसे खारवेल फिर से छीन लाया। यदि उक्त शिलालेख की व्याख्या ठीक है तो नन्दिवर्धन का राज्याभिषेक ४५८ ई० पूर्व होना चाहिए। महानन्दि शैशुनाग वंश का अन्तिम राजा था जिसने ४३ वर्ष मगध पर राज्य किया।*

पुराणों के अनुसार शिशुनाग वंश में दश राजा हुए जिनका समस्त राज्यकाल ३२१ वर्ष तक रहा।

शैशुनाग और नन्द-वंशों का तिथिक्रम

मौर्य्य-वंश के पूर्ववर्ती राजाओं का बिलकुल ठीक तिथि-क्रम निश्चित करना असम्भव है। निम्नाङ्कित राजाओं की सूची मत्स्य और वायु पुराणों के अनुसार यथाक्रम दी जाती है—

---

* पटने के पास से सन् १८१२ में दो मूर्तियाँ मिली थीं। इन पर दो लेख खुदे हुए हैं। एक मूर्ति पर '**भगे अचो छोनिधिसे**' और दूसरी मूर्ति पर '**सपखते वतनन्दि**' लेख हैं। श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने इन लेखों को पढ़कर क्रम से निम्नलिखित अर्थ किया है—**(१) पृथ्वी के स्वामी महाराज अज (२) सम्राट् वर्तनन्दि**। भागवत में उदयाश्व को **अज** और उसके पुत्र नन्दिवर्धन को **अजेय** लिखा है। अतः प्रथम लेखवाली मूर्ति अज(=उदयाश्व) की है। दूसरी मूर्ति नन्दिवर्धन की है जिसके नाम का रूपान्तर 'वर्तनन्दि' वायुपुराण में मिलता है। J. B. R. O. S. March, 1919.

	राज्य-वर्ष	राज्याभिषेक का आनुमानिक समय
(१) शिशुनाग ...	४०	
(२) काकवर्ण ...	२६	
(३) क्षेमधर्मन् ...	३६	
(४) क्षेमजित् अथवा क्षत्रौजा	२४	
(५) बिम्बिसार ...	२८	ई० पू० ५८२
(६) अजातशत्रु ...	२७	ई० पू० ५५४
(७) दर्शक ...	२४	ई० पू० ५२७
(८) उदय ...	३३	ई० पू० ५०३
(९) नन्दिवर्धन ...	४०	ई० पू० ४७०
(१०) महानन्दि ...	४३	
कुल योग	३२१	
(११) महापद्म ...	२४ (वायुपुराण)	
(१२) धननन्द ...	१२	
(१३) चंद्रगुप्त मौर्य्य ...		ई० पू० ३२२ के आसपास

महावीर और बुद्ध का निर्वाण*

*(१) श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन महावीर की निर्वाण-तिथि विक्रमाब्द (ई० पू० ५८) से ४७० वर्ष पूर्व मानते हैं। इस हिसाब से वीर-निर्वाण संवत् ५२७ के आस-पास आता है। दिगम्बर जैन विक्रम के जन्म से और श्वेताम्बर उनके राज्याभिषेक से वीर-निर्वाण-काल (४७० वर्ष) का हिसाब लगाते हैं। इसलिए वीर-निर्वाण की ठीक तिथि हम निश्चित नहीं कर सकते। जैनों के लेखों से अनुमान होता है कि महावीर का निर्वाण ई० पू० ५५१, या ५४३ या ५२७ में हुआ हो।

देखिए—गौरीशंकर हीराचंद ओझा, प्राचीन लिपिमाला पृ० १६३—६४।

देखिए—स्मिथ, अर्ली हिस्टरी आव् इंडिया—पृ० ४९।

(२) बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष में हुआ, इस प्रश्न का यथार्थ निर्णय अब तक नहीं हुआ। सिंहल, ब्रह्मा और स्याम में बुद्ध का निर्वाण ई० सन् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है। विद्वानों में इस विषय में बहुत मतभेद है।

देखिए—ओझा—प्राचीन लिपिमाला—पृ० १६४।

देखिए—विंसेंट स्मिथ—अर्ली हिस्टरी आव् इंडिया पृ० ४९–५०।

(३) प्राचीन भारत का निश्चित तिथि-क्रम यवन सम्राट् सिकन्दर के आक्रमण के समय से ही शुरू होता है। ई० स० पूर्व ३२७–२५ में उसने भारत पर आक्रमण किया था। यवन लेखकों ने सैण्ड्रोकोटस (Sandrokottos) नामक प्रतापी भारतीय राजा का वर्णन किया है। सर विलियम जोन्स ने पहली बार यह सुझाया कि यवनों का सैण्ड्रोकोटस और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त एक ही व्यक्ति थे। उनके इस अपूर्व अनुमान के आधार पर प्राचीन भारत के लुप्त इतिहास की गवेषणा प्रारम्भ हुई। इससे हमें एक निश्चित तिथि मिल गई, जिसे भारतीय इतिहास का हम आजकल 'सुदृढ़-लङ्गर'—The Sheet-anchor of Indian Chronology—कहते हैं।

रैप्सन—एंशेंट इंडिया, पृ० २०–२१।

नवाँ परिच्छेद

नन्दवंश—ई० पू० ४१३-३२५

मगध-साम्राज्य का विस्तार—बुद्धदेव से अशोक के समय तक मगध-राज्य की शक्ति क्रम से बराबर बढ़ती रही। बिम्बिसार ने अङ्ग देश (वर्तमान मुँगेर और भागलपुर के ज़िले) को जीतकर मगध की सीमा विस्तृत की। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अजातशत्रु ने काशी, कोसल और विदेह (तिरहुत) पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। तत्पश्चात् नन्द राजा ने कलिङ्ग (उड़ीसा) को जीतकर कदाचित् मगध-साम्राज्य में मिला लिया। चन्द्रगुप्त मौर्य्य ने पञ्जाब और पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाया और अशोक ने फिर से कलिङ्ग देश को जीता। इस प्रकार मगध का साम्राज्य बराबर शक्तिशाली होता गया।

महापद्मनन्द—पुराणों में लिखा है कि शिशुनाग-वंश में दस राजा हुए जो क्षत्रिय थे। महानन्दि इस वंश का अन्तिम राजा था। उसकी एक शूद्रा रानी से महापद्म नाम का पुत्र हुआ जिसने मगध पर अधिकार कर नन्दवंश की स्थापना की। महापद्मनन्द बड़ा शक्तिशाली राजा था, किन्तु साथ ही बड़ा निर्दयी और लोभी था। पुराणों में लिखा है कि महापद्म ने सारे क्षत्रिय वंशों का संहार किया और वह 'एकच्छत्र' और 'एकराट्' अर्थात् चक्रवर्ती राजा कहलाया।* आर्य्य-जाति के इतिहास में वह पहला शूद्र राजा था। इस कारण प्रजा

---

* महानन्दिसुतश्चापि शूद्रायां कलिकांशजः।
उत्पत्स्यते महापद्मः सर्वक्षत्रान्तको नृपः॥
एकराट् स महापद्मो एकच्छत्रो भविष्यति।—मत्स्यपुराण।

में उसके वंश के प्रति घोर असन्तोष था। कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि इस शास्त्र की रचना उसके द्वारा की गई है जिसने 'शस्त्र', 'शास्त्र' और 'नन्द के अधीन पृथ्वी' का, प्रचण्ड क्रोध और असन्तोष के कारण, उद्धार किया है।* महापद्मनन्द ब्राह्मण-धर्म का कट्टर द्वेषी था। उसने राजा बनकर शास्त्र-विहित वर्ण-धर्म का उल्लंघन किया। अतएव 'शस्त्र' और 'शास्त्र' की रक्षा के लिए नीति-निष्णात ब्राह्मण कौटिल्य ने नन्दवंश को उच्छिन्न कर चन्द्रगुप्त मौर्य्य को मगध के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया।

'नव नन्द'—कहा जाता है कि नन्द वंश में नौ राजा हुए। पुराणों में 'नव नन्द' का उल्लेख मिलता है। श्रीयुत जायसवाल ने लिखा है कि 'नव नन्द' का अर्थ नौ नहीं, किन्तु नवीन नन्द हैं। अर्थात् महापद्म आदि शूद्र राजा नवीन नन्दवंश के थे जो पूर्व नन्दों से—नन्दिवर्धन और महानन्दि से—भिन्न थे। नये नन्दों का मगध पर कोई न्यायोचित अधिकार न था, क्योंकि महापद्म महानन्दि के उत्तराधिकारी पुत्र का राज्य छीनकर राजा हो गया था। क्षेमेन्द्र और सोमदेव के कथनानुसार चन्द्रगुप्त मौर्य्य पूर्व नन्द का पुत्र था।† सिकन्दर के अनुयायी यवन लेखकों के अनुसार नन्दवंश में केवल दो ही पीढ़ियाँ हुई थीं। जब सिकन्दर ब्यास नदी पर आगे बढ़ने से रुका तब उसने सुना था कि गङ्गा के तटस्थ प्रान्तों में बसी प्राच्य जातियाँ (Prassi) किसी राजा क्सैण्ड्रमस या नन्द्रस (Xandrames or Nandrus) के अधीन थीं। वह

---

* येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृता याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥ —कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र।

† 'योगनन्दे यशःशेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तो वृतो राज्ये चाणक्येन महौजसा ॥'—क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी।
'पूर्वनन्दसुतं कुर्याच्चन्द्रगुप्तं हि भूमिपम्' ॥—सोमदेवकृत कथासरित्सागर।

चन्द्रगुप्त का नन्दवंश के साथ न तो कोई सम्बन्ध ही था और न वह मुरा नाम की शूद्रा स्त्री से उत्पन्न हुआ था। बौद्ध लेखक मौर्यों का उसी सूर्यवंश में होना बतलाते हैं जिसमें बुद्धदेव का जन्म हुआ था।—ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० ६०।

बड़ा शक्तिशाली था। उस राजा के पास २० हज़ार घोड़े, ४ हज़ार हाथी, २ हज़ार रथ और २ लाख पैदल थे और प्रजा उस समय राजा से बहुत असन्तुष्ट थी। वह राजा नाई का पुत्र था, इस प्रकार की किंवदन्ती लोगों में प्रचलित थी। उस नाई ने पहले राजा के औरस पुत्रों का अधिकार छीनकर राज्य दबा लिया था। इस प्रकार महापद्म ने पूर्व नन्दों का संहार कर अपने नये वंश की स्थापना की थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय उस महापद्म का ही पुत्र धननन्द ई० पू० ३२६ में गङ्गा के तटस्थ प्रदेशों पर शासन कर रहा था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इस नवीन नन्दवंश में दो ही राजा हुए थे—पहला महापद्म और दूसरा धननन्द। महापद्म ने अनेक राज्यों को जीत कर मगध का साम्राज्य बढ़ाया था।※ इसके राज्य की सीमा पूर्व में अङ्ग देश और पश्चिम में गङ्गा नदी थी। अनेक लेखकों ने नन्द राजाओं के विशाल राज्य, प्रभूत सम्पत्ति और सेना का उल्लेख किया है। निःसन्देह प्रजा पर अत्याचार कर उन्होंने अपना राजकोष सञ्चित किया होगा। अतएव प्रजा में उनके विरुद्ध घोर असन्तोष था। सिकन्दर की सेना ने नन्द के शक्तिशाली राज्य पर आक्रमण करने का साहस नहीं किया। नन्दवंश के विषय में बौद्ध, जैन और पौराणिक कथाएँ परस्पर इतनी विरुद्ध हैं कि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इस वंश ने कितने वर्षों तक राज्य किया। विंसेंट स्मिथ ने इस वंश का राज्य-काल ई० सन् पूर्व ४१३ से ३२५ तक अनुमानतः निश्चित किया है।

पञ्जाब पर सिकन्दर का आक्रमण—मगध के नन्दवंश के राज्य-काल में भारत के पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्तों की राजनीतिक स्थिति में बड़ा विप्लव हो रहा था। इस समय पञ्जाब में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे और उनमें भी संघ-शक्ति न थी। ऐसी भयानक दशा में यूनान के प्रतापी विजेता सिकन्दर ने पञ्जाब पर आक्रमण किया। यूनान के लोग उस समय यूरोप में बसनेवाली जातियों में सब से अधिक सभ्य, वीर और विद्वान् थे। यूनान में मैसिडोनिया नामक एक छोटा सा देश है। सिकन्दर के पिता फिलिप ने अपने

※ सर्वक्षत्रान्तको नृपः, एकराट्, एकच्छत्रः।

बाहुबल से सारे यूनान देश पर अपना सिक्का जमा दिया था। फिलिप के पश्चात् सिकन्दर बीस वर्ष की अवस्था में यूनान की गद्दी पर बैठा। पहले यूनान में अपने राज्य को सुसङ्गठित कर उसने एशिया की दिग्विजय करने का सङ्कल्प किया। इस विजय-यात्रा में सीरिया, मिस्र, बेबिलोन और ईरान के साम्राज्य पर अपना अधिकार स्थापित कर उसने भारत के पश्चिमोत्तर-द्वार को आ घेरा। ई० स० पूर्व ३२७ में उसने अपनी ५० हज़ार सेना के साथ हिन्दूकुश पर्वत को पार किया। अनेक अजेय दुर्गों में बसनेवाली युद्धप्रिय जातियों को जीतता हुआ वह अटक के कुछ दूर उद्भाण्डपुर के समीप सिन्धु नदी के पार उतरा। यहाँ से चलकर जब सिकन्दर तक्षशिला में पहुँचा तब वहाँ के राजा आम्भी (आम्फिस) ने उसका स्वागत किया और बहुत से उपहार देकर उसकी अधीनता स्वीकार की। आम्भी का राज्य सिन्धु से झेलम नदी के बीच के प्रदेश पर था। पड़ोसी राजाओं से उसकी शत्रुता थी। अतः इस देशद्रोही राजा ने उन्हें पराजित करने के लिए सिकन्दर को सब प्रकार की सहायता दी। आम्भी की सहायता पाकर सिकन्दर ने मध्य पञ्जाब के राजा पोरस को आत्म-समर्पण करने के लिए सन्देश भेजा।

झेलम का युद्ध—पुरु (पोरस) कदाचित् प्राचीन पौरव-वंश का उत्तराधिकारी था। वह इस समय झेलम और चिनाब के बीच के प्रदेश का राजा था। सिकन्दर का सन्देश सुनकर स्वाभिमानी और वीर पोरस ने उत्तर में उसे कहला भेजा कि 'मैं झेलम के किनारे उपहारों से नहीं, प्रत्युत सेना से तुम्हारा स्वागत करने के लिए चल पड़ा हूँ।' सिकन्दर ने झेलम की तरफ़ कूच किया। पोरस भी पहले से ही नदी के उस पार ससैन्य मौजूद था। बढ़ी हुई झेलम नदी के पार करने में सिकन्दर को बहुत कष्ट उठाना पड़ा। कई सप्ताह के विलम्ब के बाद अपने कैम्प से १६ मील की दूरी पर उत्तर की ओर एक अच्छे स्थान से रात्रि के समय सिकन्दर ने झेलम नदी को पार कर लिया। पोरस की सेना में ३० हज़ार पैदल, ४ हज़ार घुड़सवार, ३ सौ रथ और २ सौ भारी युद्ध के हाथी थे। उभय पक्ष में घोर संग्राम हुआ। भाग्य के फेर से पोरस के हाथी भड़क गये और इधर-उधर दौड़कर अपनी ही सेना को

कुचलने लगे। पोरस के ३ हज़ार सवार और १२ हज़ार सिपाही इस युद्ध में धराशायी हुए।

वीर पोरस, जो डील-डौल में ६½ फ़ुट लम्बा था, अन्त तक युद्ध में डटा रहा और नौ स्थानों पर आहत होने के कारण, बेहोशी की हालत में, क़ैद कर लिया गया। जब वह युद्ध-क्षेत्र में घायल पड़ा था तब सिकन्दर ने उससे पूछा कि अब तुम्हारे साथ कैसा बर्ताव किया जाय। पोरस ने निर्भय होकर गर्व से उत्तर दिया—"जैसा राजा राजा के साथ करते हैं।" सिकन्दर ने ऐसे निर्भय और वीर राजा के साथ मित्रता करना उचित समझा और उसे उसका राज्य वापस कर दिया। पञ्जाब से वापस लौटते हुए सिकन्दर ने झेलम और व्यास नदियों के बीच का सारा प्रदेश, जिसमें क़रीब २०० नगर थे और सात जातियों के लोग रहते थे, पोरस को शासनार्थ सौंप दिया। झेलम के युद्ध के बाद अनेक राजाओं ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार की। उन सब पर आधिपत्य भी पोरस को दे दिया। सिकन्दर ने इस युद्ध के स्मारक-स्वरूप चाँदी के पदक बनवाकर उन्हें अपने सैनिकों में वितरण कराया। पदक में एक ओर सिकन्दर की सशस्त्र खड़ी मूर्ति अङ्कित है और दूसरी ओर भागते हुए हाथी के पीछे भाले से प्रहार करता हुआ घुड़सवार प्रदर्शित है। इस विजय के उपलक्ष में सिकन्दर ने दो नगर भी बसाये।

झेलम नदी से सिकन्दर पूर्व की ओर बढ़ा और चिनाब तथा रावी नदियों को पार करता हुआ व्यास नदी तक पहुँचा। इतने प्रदेश में भी उसे अनेक भीषण युद्ध करने पड़े। व्यास नदी पर उसके सैनिकों ने आगे बढ़ने से अस्वीकार कर दिया। गङ्गातट और पूर्व प्रदेश के राजा की प्रबल शक्ति का हाल सुनकर यूनानी सेना का साहस टूट गया था। सिकन्दर ने अनेक प्रलोभन देकर उसे आगे बढ़ाना चाहा। परन्तु उसका प्रयत्न निष्फल हुआ और अन्त में उसे विवश होकर लौट जाना पड़ा। व्यास नदी से झेलम नदी तक के प्रदेश का शासन उसने पोरस को सौंपा और झेलम से सिन्धु तक का प्रान्त तक्षशिला के राजा आम्भी के अधिकार में कर दिया। उसने अपने सेनापति फिलिप्पोस को सिन्धु से पश्चिम के प्रदेश का शासक नियत

किया। इसी प्रकार जीते हुए देशों की शासन-व्यवस्था कर सिकन्दर ने एक बड़ा जहाज़ी बेड़ा तैयार कर जल-मार्ग के द्वारा लौटना शुरू किया। झेलम नदी के दोनों किनारों पर चलनेवाली विशाल सेना के संरक्षण में उसका जहाज़ी बेड़ा, ई० पू० ३२६ में प्रस्थित हुआ।

पञ्जाब के प्रजा-तन्त्र राष्ट्र—पञ्जाब के दक्षिण प्रदेशों में इस समय अनेक प्रजातन्त्र राज्य थे। यूनानी लेखकों ने शिवि (सिबोई), अगलसोई, मालव (मल्लोई), क्षुद्रक (आक्सीड्रकाई) आदि प्रजातन्त्र जातियों का वर्णन किया है। सिकन्दर को इन वीर जातियों से तुमुल युद्ध करना पड़ा। शिवि और अगलसोई एक-एक करके जीत लिये गये। एक नगर के बीस हज़ार नर-नारियों ने बच्चों समेत अग्नि में अपने प्राण इसलिए झोंक दिये कि कहीं शत्रु के हाथ में वे न पड़ जायँ। यह जौहर की प्रथा का सबसे पहला उदाहरण है, जिसका हमें राजपूताने के इतिहास में बार-बार परिचय मिलता है।

क्षुद्रक जाति रावी और व्यास नदियों के बीच के प्रदेश में (मांटगोमरी ज़िला) में निवास करती थी और मालव जाति रावी के दोनों तटवर्ती प्रान्तों में बसी हुई थी। ये दोनों क्षत्रिय जातियाँ वीरता के लिए प्रसिद्ध थीं। सिकन्दर का इन जातियों से घोर युद्ध हुआ, किन्तु अन्त में ये पराजित हुईं। सिन्ध को विजय करता हुआ सिकन्दर समुद्र-तट तक पहुँच गया। यहाँ उसने सेना के दो विभाग कर दिये। उसने नियरकोस नामक सेनापति को समुद्र के द्वारा ईरान पहुँचने की आज्ञा दी और वह स्वयं बलोचिस्तान के जङ्गलों में होता हुआ, मार्ग के अनेक सङ्कट सहकर, ईरान पहुँच गया। इसके एक वर्ष के बाद ही ई० पू० ३२३ में, केवल तैंतीस वर्ष की अवस्था में, बेबिलोन में (बग़दाद के पास) उसकी मृत्यु हो गई।

सिकन्दर का चरित्र—सिकन्दर बड़ा वीर, साहसी और नीति-निपुण था। उसकी रण-चातुरी का तो कहना ही क्या! जो काम कई जन्मों में हो सकते थे उन्हें उसने १३ वर्ष में कर दिखाया। वह पराक्रम का पुतला और शक्ति का पुञ्ज था। पर उसका सामना करनेवाले हिन्दू लोग भी वीरता और पराक्रम में कम न थे। उनमें इस समय सङ्गठन का अभाव

था। यदि अपनी सम्मिलित शक्ति से वे उसका मुक़ाबला करते तो कदाचित् सिकन्दर की विजय-यात्रा की इतिश्री सिन्धु तट पर ही हो जाती। सिन्ध से व्यास नदी तक का देश जीतने में सिकन्दर को १६ मास लगे जिनमें उसे युद्धों में बराबर व्यापृत रहना पड़ा।

यवन-आक्रमण का परिणाम—सिकन्दर के आक्रमण का भारतीय सभ्यता पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। संस्कृत-साहित्य में इस घटना का कहीं भी उल्लेख नहीं है। यह आक्रमण एक मामूली तूफ़ान था जो आया और तत्काल, बिना किसी प्रकार के विशेष चिह्न छोड़े, निकल गया। सिकन्दर अपने साम्राज्य में पञ्जाब के विजित प्रदेशों को मिलाना चाहता था, किन्तु उसकी अकाल-मृत्यु के कारण उसका यह उद्देश्य भी सिद्ध न हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। पश्चिमोत्तर भारत में भी यूनानी प्रभुता के विरुद्ध क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हुआ। यूनानी शासक फिलिप्पोस मारा गया। ई० पू० ३१७ तक यूनानी सत्ता के सारे चिह्न भारत से लुप्त हो गये। यूनानी सभ्यता का भारत पर यत्किञ्चित् भी प्रभाव इस समय न पड़ा, क्योंकि यूनान की अपेक्षा भारत की सभ्यता दीर्घकालीन और समुन्नत थी। सिकन्दर के आक्रमण का एक-मात्र यह परिणाम हुआ कि पूर्व और पश्चिम की जातियों में तब से परस्पर अधिक सम्पर्क होने लगा और भारत और यूरोप के बीच के मार्ग लोगों पर विदित हो गये। आगामी काल में पश्चिमी एशिया में जो यूनानी राज्य स्थापित हुए उनके साथ भारत का विचार-विनिमय और व्यापारिक सम्बन्ध होना सम्भव हो गया।

सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत की दशा

राजनीतिक स्थिति—सिकन्दर के पञ्जाब पर आक्रमण के समय पश्चिमोत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे राष्ट्र थे जो किसी प्रधान राजशक्ति के अधीन न थे। मगध-साम्राज्य की स्थापना उस समय तक हो चुकी थी, किन्तु भारत के पश्चिमोत्तर-प्रान्त कदाचित् उसमें अभी सम्मिलित न थे। यद्यपि

वे मगध के अधीन भी हो चुके थे तो भी, भीतरी विद्रोह के कारण, मगध का नन्दवंशी सम्राट् यवनों के आक्रमण को रोकने के लिए अपने सामन्तों की सहायता करने में अशक्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि सिकन्दर के हमले के समय पञ्जाब और सिन्ध के अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र और संघ-शक्ति-हीन थे। इनमें कुछ राष्ट्र तो राजतन्त्र थे और बहुत से प्रजातन्त्र थे। यवन लेखकों ने उनके विषय में जो वृत्तान्त लिखे हैं उनके पढ़ने से हमें भारत की तत्कालीन सभ्यता का दिग्दर्शन होता है।

तक्षशिला—एरियन नामक यूनानी इतिहासकार ने लिखा है कि सिकन्दर के समय में तक्षशिला बहुत बड़ा और वैभवशाली नगर था। इस प्राचीन नगर के खँडहर रावलपिण्डी से कुछ मील दूर फैले हुए हैं। यह नगर प्राचीन गान्धार राज्य की राजधानी था और एशिया और भारत के बीच का बड़ा व्यापार-केन्द्र था। तक्षशिला में भारत का सबसे प्राचीन और प्रसिद्ध विश्व-विद्यालय था, जहाँ मगध, काशी आदि दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी १६ वर्ष की अवस्था होने पर विद्याध्ययन के लिए आते थे। राजा और रङ्क तक के बालक यहाँ पढ़ते थे। बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि इसमें वेद, वेदाङ्ग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, चित्रण और शिल्प आदि विद्याएँ तथा कलाएँ सिखलाई जाती थीं। साहित्य, विज्ञान और कला-कौशल के सब मिलाकर अठारह विषयों की शिक्षा यहाँ मिलती थी। कहा जाता है कि प्रसिद्ध संस्कृत वैयाकरण पाणिनि और राजनीति-विशारद चाणक्य ने यहीं शिक्षा पाई थी। चिकित्सा-शास्त्र की तक्षशिला में अधिक उन्नति हुई थी। बुद्ध के समय में आत्रेय और जीवक यहाँ के प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञ थे। यूनानियों ने लिखा है कि यहाँ के चिकित्सक सांप के काटने का इलाज बड़ी ख़ूबी से करते हैं। अश्वघोष ने अपने सूत्रालङ्कार नामक ग्रन्थ में लिखा है कि चीन का एक राजकुमार अपनी नेत्र-पीड़ा की चिकित्सा कराने के लिए तक्षशिला आया था। बुद्ध के पहले से ई० स० की पहली शताब्दी तक यह विश्वविद्यालय भारतवर्ष में विद्या का सबसे बड़ा केन्द्र माना जाता था। सिकन्दर का स्वागत करनेवाला राजा आम्भी तक्षशिला का शासक था, जिसने इस प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र की धवल

कीर्त्ति पर अपनी कायरता से धब्बा लगाया था, परन्तु उस कलङ्क-कालिमा को मिटानेवाला राजनीति-विशारद कौटिल्य तक्षशिला का ही विद्वान् था जिसने उसे यूनानियों के अधिकार से मुक्त किया।

गण-राज्यों का वर्णन—सिकन्दर के अनुयायी यूनानी लेखकों ने पञ्जाब के कई प्रजातन्त्र राष्ट्रों का उल्लेख किया है। उनमें 'कथई' (कठ) नामक जाति का राष्ट्र रावी नदी के पूर्व में था। कथई लोग युद्धविद्या में निपुण और पराक्रमी होने के कारण सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। उनकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी। वे सिकन्दर से वीरतापूर्वक लड़े थे। उनमें स्वयंवर की विधि से विवाह होता था और स्त्रियों में सती की प्रथा प्रचलित थी। स्ट्रैबो लिखता है कि उनमें जो आदमी सबसे सुन्दर और तेजस्वी होता था वही राजा चुना जाता था।

पञ्जाब से लौटते समय सिकन्दर को कई प्रजातन्त्र राज्यों से युद्ध करना पड़ा था। उनमें सबसे अधिक बलशाली क्षुद्रक (Oxydrakai) और मालव (Malloi) थे। ये दोनों राज्य झेलम और चिनाब नदियों के पार्श्ववर्ती प्रदेश में स्थित थे। उनकी विशाल सेना को देखकर यूनानियों के छक्के छूट गये। ऐसा मालूम होता है कि यूनानियों ने उनसे अन्त में सन्धि कर ली। उन दोनों जातियों ने सौ राजदूत सिकन्दर के पास भेजे। 'उन्हें अपनी स्वाधीनता के लिए बहुत अधिक अभिमान था जिसे उन्होंने बहुत दिनों से अक्षुण्ण रखा था'। सिकन्दर ने उनका बड़ा सत्कार किया। मालवों के प्रतिनिधियों ने सिकन्दर से कहा था कि 'अन्य लोगों की अपेक्षा हम लोगों को स्वाधीनता और स्वराज्य अधिक प्रिय हैं और हमारी स्वतन्त्रता अत्यन्त प्राचीन काल से अक्षुण्ण चली आ रही है।'

ये 'संघ' अथवा 'गण' राज्य कहलाते थे। कौटिल्य ने भी इनका अर्थ-शास्त्र में उल्लेख किया है। सिक्कों से भी इस प्रकार के संघों के अस्तित्व का पता चलता है। इन गण-राज्यों के लक्षण महाभारत में भी वर्णित हैं। इनके शासक-मण्डल में एक प्रधान और अनेक गण-मुख्य होते थे और ये सब मिलकर राज्य के कार्य का सञ्चालन करते थे। गण के सदस्य बहुत होते

थे। इसलिए मन्त्रों या मन्तव्यों का गुप्त रखना कठिन होता था। महाभारत में लिखा है कि 'गुप्तचर, मन्त्र, क़ानून और कोष के विभागों का ठीक-ठीक प्रबन्ध करते रहने के कारण गण सदा उन्नति करते हैं।' *

भारत की ऐहिक उन्नति—कौटिल्य और यूनानियों के लेखों को पढ़ने से ज्ञात होता है कि ई० पू० चौथी शताब्दी में भारतीय लोग सभ्यता में बहुत समुन्नत थे, वे देश-विदेशों से ख़ूब व्यापार करते थे और जीवन के सुखोपभोग के सभी साधनों से सम्पन्न थे। दक्षिण के दूरवर्ती प्रदेशों का उत्तरी भारत के लोगों को भली भाँति परिचय था और भारत के सभी भागों का आपस के व्यापार के कारण घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तर की अपेक्षा दक्षिण देश का व्यापार अधिक महत्त्व का है, क्योंकि वहाँ से सोना, हीरे, मोती, मणि, शङ्ख आदि बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और उत्तरी प्रदेशों से तो सिर्फ़ कम्बल, चमड़ा, घोड़े आदि व्यापार की मामूली चीज़ें मिलती हैं। कौटिल्य के समय में भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न चीज़ें प्रसिद्ध थीं। कोसल, काश्मीर, विदर्भ (बरार), कलिङ्ग आदि के हीरे, ताम्रपर्णी (तिनेवली के पास की नदी), पाण्ड्य, लंका, केरल (मलाबार) आदि देशों के मोती, नैपाल के कम्बल, वङ्ग देश की मलमल, काशी, मदुरा, कोंकण के सूती और चीन के रेशमी वस्त्र भारत में सर्वत्र प्रख्यात थे। विदेशों से जल और स्थल-मार्गों द्वारा व्यापार होता था। भारत के सब प्रदेशों में व्यापार के लिए आने-जाने के मार्ग (वणिक्पथ) बने हुए थे। क़ाफ़िले बनाकर चलनेवाले व्यापारी (सार्थवाह) जब अपना माल लेकर किसी शहर में पहुँचते थे तब उन पर चुंगी (शुल्क) लगाई जाती थी। उस समय भारत का वस्त्र-व्यवसाय बहुत उन्नत था। मैगास्थनीज़ के कथनानुसार भारतीय अत्यन्त सुन्दर

---

* गणमुख्यैस्तु संभूय कार्य्यं गणहितं मिथः। २५

मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः। ८

चारमन्त्रविधानेषु कोषसन्निचयेषु च।

नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः॥ शान्तिपर्व १०७

मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं और उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है।

भारतीय धर्म—यूनानियों ने लिखा है कि हिन्दू लोग वृष्टि के देवता इन्द्र (Zeus Ombrios) और गङ्गा नदी की पूजा करते हैं तथा मथुरा के शूरसेनी हरि (Herakles) को पूजते हैं। ई० पू० चौथी शताब्दी में हिन्दू श्रीकृष्ण और गङ्गा की भक्ति करने लगे थे। हिन्दू-समाज में ब्राह्मणों का बहुत मान था और दान-दक्षिणा से उनका लोग आदर करते थे। वे राजाओं के मन्त्री और अमात्य होते थे। एरियन का कथन है कि सिन्ध के राजाओं को आक्रमणकारी यवनों का विरोध करने के लिए ब्राह्मणों ने उभारा था और इसलिए उन्हें प्राणदण्ड सहना पड़ा। उनका राज्य पर बहुत प्रभाव पड़ता था। वे राजाओं को स्वेच्छाचारी न होने देते थे।

दसवाँ परिच्छेद

मौर्य-साम्राज्य का इतिहास

मौर्य-युग—मौर्य-युग के प्रारम्भ होते ही प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अन्धकार से प्रकाश में आ जाता है। हमें अनेक ऐतिहासिक साधनों से इस युग का विशद परिचय मिलता है। मौर्य-इतिहास का तिथि-क्रम प्रायः ठीक और निश्चित ही है। इसलिए उसकी घटनाएँ क्रमबद्ध रूप से लिखी जा सकती हैं। इस युग में एक विशाल साम्राज्य का भारत में विस्तार होता है जिससे भारत के खण्ड-राज्य एक प्रबल राजनीतिक सत्ता के अधीन हो जाते हैं। भारतीय धर्म का जगद्व्यापी आन्दोलन इसी युग से प्रारम्भ होता है जिसका गहरा प्रभाव अब तक संसार के इतिहास में देख पड़ता है। भारतवर्ष अब तक प्रायः एकान्त-सेवी था, किन्तु मौर्य-काल से इसका दूसरे देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने लगता है। भारत की संस्कृति के सम्पर्क से अनेक देश इस युग में सभ्य बन गये। मौर्य-वंश में दो बड़े प्रतिभाशाली सम्राट् चन्द्रगुप्त और अशोक हुए, जिनका प्रखर प्रताप दूर-दूर के देशों तक फैला था।

मौर्यकालीन इतिहास के साधन—मौर्य-युग का इतिहास लिखने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन हैं। सिकन्दर के आक्रमण के समय और तत्पश्चात् भारत में आनेवाले यूनानी विद्वानों के लेख तत्कालीन इतिहास पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री विष्णुगुप्त कौटिल्य-रचित 'अर्थशास्त्र' से मौर्य-काल के इतिहास का विशद परिचय मिलता है। विशाखदत्त-रचित संस्कृत का प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'मुद्राराक्षस' मौर्य-काल के प्रारम्भिक इतिहास के लिए उपयोगी है। इसमें चाणक्य ने किस तरह नन्दों का नाश कर चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बिठाया, यह घटना वर्णित है।

अशोक के शिलालेख, प्राचीन संस्कृत, बौद्ध और जैन ग्रन्थ और उस समय के अवशिष्ट स्मारक-चिह्नों द्वारा हमें बहुत कुछ इस युग का ज्ञान प्राप्त होता है। इतिहास की इस सम्पूर्ण सामग्री का यथोचित उपयोग करने पर मौर्य-काल का सजीव चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य—मौर्य-वंश का पहला प्रतापशाली राजा चन्द्रगुप्त था। उसके पूर्वज कौन थे, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। साहित्यिक दन्त-कथाओं में लिखा है कि नन्द की एक पत्नी का नाम मुरा था। मुरा जाति की शूद्रा थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। मुरा का पुत्र होने से चन्द्रगुप्त को मौर्य कहते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय मौर्य-जाति का राजकुमार था। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के समय में 'पिप्पली-वन की मौर्य-जाति' के प्रजातन्त्र राज्य होने का उल्लेख पाया जाता है। सम्भवतः इस प्राचीन मौर्य-जाति का ही चन्द्रगुप्त सरदार हो। चन्द्रगुप्त का मगध के नन्द राजा से किसी कारण से वैमनस्य हो गया था। तत्पश्चात् राजा नन्द के नाश करने का उसने षड्यन्त्र रचा। इस षड्यन्त्र में उसे नीति-निष्णात ब्राह्मण विष्णुगुप्त चाणक्य से बहुत सहायता मिली।

चन्द्रगुप्त मौर्य की दिग्विजय—नन्द के विरुद्ध इन दोनों का पहला प्रयत्न कदाचित् निष्फल हुआ। अतएव, चन्द्रगुप्त चाणक्य के साथ मगध से पञ्जाब में चला आया जहाँ उसकी यूनान के विजेता सिकन्दर से भेंट हुई। सिकन्दर के भारत से लौट जाने के एक साल बाद उसके विजित प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हुआ। भारत का प्रसिद्ध विद्यापीठ तक्षशिला इस विद्रोह का केन्द्र था। चाणक्य यहीं का निवासी था। चाणक्य की सहायता से चन्द्रगुप्त ने यूनानियों के विरुद्ध पञ्जाब की जातियों को भड़का दिया और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उसी सेना की सहायता से पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। मगध के राजा को परास्त कर और मारकर चन्द्रगुप्त राजगद्दी पर बैठा। पञ्जाब और सीमा-प्रान्त, यूनानियों के परास्त होने पर, चन्द्रगुप्त के अधिकार में आ गये थे। फिर मगध का विशाल साम्राज्य उसके अधीन हो गया। प्लूटार्क कहता है कि चन्द्रगुप्त

ने ६ लाख सेना को लेकर भारत पर आक्रमण शुरू किया और सम्पूर्ण भारत को जीत लिया। भारत के पश्चिमी प्रदेश सुराष्ट्र (काठियावाड़) तक उसके अधीन हो गये। रुद्रदामा के गिरनार के शिलालेख से पता चलता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चिम प्रान्तों के राष्ट्रपति पुष्यगुप्त ने उसकी आज्ञा से वहाँ एक प्रसिद्ध सुदर्शन नामक झील बनवाई थी। सम्भवतः, दक्षिण के देशों पर भी चन्द्रगुप्त की विजय-यात्रा हुई हो। इसमें सन्देह नहीं कि दक्षिण देश पर अशोक के पहले ही मौर्यवंश का अधिकार हो गया था।

यवन-सम्राट् सैल्यूकस का पराभव—सिकन्दर की मृत्यु ३२३ ई० पू० में बैबिलोन नगर में हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके सेनापतियों में, उसके विस्तृत साम्राज्य पर अधिकार करने के लिए, युद्ध प्रारम्भ हुए। अन्त में सैल्यूकस की विजय हुई। वह पश्चिम और मध्य एशिया का सम्राट् बना। ई० पू० ३०६ में उसका राज्याभिषेक बड़े समारोह से हुआ। उसने 'निकेटर' अर्थात् 'विजेता' की पदवी धारण की। ई० पू० ३०५ में सैल्यूकस ने पञ्जाब और सिन्ध में फिर से यवन-राज्य स्थापित करने की इच्छा से चढ़ाई की, किन्तु उसका प्रयत्न बिलकुल निष्फल हुआ। पञ्जाब के किसी स्थल पर सम्राट् चन्द्रगुप्त की सेना ने सैल्यूकस को पराजित किया और अपने अभीष्ट के अनुकूल सन्धि करने के लिए उसे बाध्य किया। इस सन्धि के अनुसार सैल्यूकस को अपने साम्राज्य के चार बड़े प्रान्त—काबुल हिरात, कन्दहार और बलूचिस्तान—चन्द्रगुप्त को भेंट करने पड़े जो अब से मौर्य-साम्राज्य के अङ्ग हो गये। इस सन्धि को स्थिर करने के लिए सैल्यूकस ने अपनी लड़की का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। चन्द्रगुप्त ने भी ५०० हाथी भेंट कर अपने नवीन श्वशुर का सत्कार किया।

मौर्य-साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा—इस सन्धि के अनन्तर चन्द्रगुप्त का साम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत तक, जिसे हम भारत की प्राकृतिक सीमा कह सकते हैं, फैल गया। डाक्टर वी० ए० स्मिथ का मत है कि हिन्दूकुश पर्वत ही भारत की पश्चिमी 'वैज्ञानिक' सीमा कही जा सकती है। वे लिखते हैं कि दो सहस्र वर्षों से भी अधिक हुए, भारत का प्रथम सम्राट्

हिन्दूकुश तक के देश जीतकर उस 'वैज्ञानिक सीमा' को पहुँच गया जिसके पाने के लिए भविष्य के ब्रिटिश और मुग़ल साम्राज्य के निर्माण करनेवाले निराश होकर रह गये।

साम्राज्य-निर्माण —उक्त घटनाओं पर विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी विश्व-विजयिनी सेना और चाणक्य की अपूर्व प्रतिभा की सहायता से विन्ध्य-हिमाचल के मध्य और गङ्गासागर से हिन्दूकुश पर्य्यन्त फैले हुए एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। रोमन इतिहासकार जस्टिन ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने विदेशियों की पराधीनता से भारत का उद्धार तो किया, किन्तु उसने वहाँ की प्रजा को फिर अपने कठोर शासन से दासत्व की शृंखला में जकड़ डाला। परन्तु इस कथन की पुष्टि अन्य किसी इतिहासकार ने नहीं की। इसमें इतना अंश सच माना जा सकता है कि चन्द्रगुप्त ने अपने साम्राज्य के निर्माण करने में बाहर और भीतर के शत्रुओं को कठोर दण्ड दिया हो, और उनके प्रति उसे सदा जागरूक रहना पड़ता हो। सिकन्दर के समय भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो कदाचित् मौर्य-साम्राज्य में मिलना न चाहते थे। किन्तु चन्द्रगुप्त ने उन्हें विदेशी शासन से बचाया था और इसलिए उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना उचित समझा था। उनकी विभिन्न और बिखरी हुई शक्तियों का सङ्गठन कर उन्हें एक महान् राष्ट्र के अन्तर्गत करना चन्द्रगुप्त की नीति का ध्येय था।

आचार्य चाणक्य—मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चन्द्रगुप्त का गुरु और प्रधान मन्त्री आचार्य चाणक्य था। उसका दूसरा नाम विष्णुगुप्त तथा कौटिल्य था। उसने नन्द-वंश का नाश कर चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक किया था। महा-वंश की टीका में लिखा है कि चाणक्य ने तक्षशिला में विद्याध्ययन किया था। मौर्य-साम्राज्य की बुनियाद उसने अपने बुद्धि-बल से डाली थी। मगध-राज्य में क्रान्ति उत्पन्न करना, मौर्य-वंश की स्थापना करना, विदेशी यवनों की सत्ता को नष्ट करना, यवनों के हमले से देश की रक्षा करना इत्यादि तत्कालीन घटनाएँ कौटिल्य की असाधारण सामर्थ्य का परिचय देने के लिए पर्याप्त हैं। वह राज-नीति का पारदर्शी विद्वान् था। कहा जाता है कि उसने राजनीति पर 'अर्थ-

शास्त्र' नामक बृहत् ग्रन्थ चन्द्रगुप्त के लिए रचा था।* भारत के प्राचीन इतिहास की खोज करनेवालों को कौटिल्य के अर्थशास्त्र से अलभ्य लाभ हुआ है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से लोगों के हिन्दू-सभ्यता के इतिहास-सम्बन्धी विचारों में एक युगान्तर सा हो गया है। हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था, शासन-प्रणाली और अनेक उद्योग-धन्धों की उन्नत अवस्था का सजीव चित्र इस ग्रन्थ में विद्यमान है। अनेक विद्वानों का मत है कि अर्थशास्त्र का निर्माण ई० पूर्व चौथी सदी में कौटिल्य ने ही स्वयं किया था।† राज्य-शासन के सभी अङ्गों और विभागों का सविस्तर वर्णन अर्थशास्त्र में किया गया है। कौटिल्य नीतिज्ञ ही न था किन्तु अनेक शास्त्रों का पारङ्गत विद्वान् था। उसकी तुलना यूनान के दिग्गज विद्वान् अरिस्टोटिल से की जा सकती है। ये दोनों धुरन्धर विद्वान प्रायः समकालीन थे। एक सम्राट् सिकन्दर का गुरु था, दूसरा महाप्रतापी चन्द्रगुप्त मौर्य का। दोनों की बुद्धि विशाल और विज्ञानमयी थी। विशाख-दत्त ने लिखा है कि जैसे समुद्र रत्नों की खान है, वैसे कौटिल्य सब शास्त्रों की खान है।‡ कौटिल्य ने मौर्य-साम्राज्य के सङ्गठन में अपने ज्ञान और नीति का पूरा पूरा प्रयोग किया होगा। चन्द्रगुप्त और चाणक्य साम्राज्य-निर्माण के लिए इस उद्देश्य से संनद्ध हुए थे कि फिर इस देश पर यवनों के आक्रमण आसानी से न हो सकें और भारत के खण्ड-राज्य परस्पर की स्पर्धा और ईर्ष्या छोड़कर मौर्य-सम्राट् के एक-छत्र शासन के अधीन हो जायँ। अपने इस महान् उद्देश्य की सिद्धि में वे पूर्ण रूप से कृतकार्य हुए।

---

* सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥—अर्थशास्त्र।

अर्थात् सब शास्त्रों का अनुसरण कर और राज्य-शासन का स्वयं अनुभव प्राप्त कर कौटिल्य ने राजा के लिए शासन-पद्धति की रचना की।

† कौटिल्य अर्थशास्त्र—प्रस्तावना, शामशास्त्री।

‡ 'आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः'।—मुद्राराक्षस।

यवन राजदूत मैगास्थनीज़—चन्द्रगुप्त और सैल्यूकस में सन्धि होने के पश्चात् परस्पर मित्र-भाव बढ़ा। सैल्यूकस ने मैगास्थनीज़ को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा। वह चिरकाल तक पाटलिपुत्र में रहा और उसने 'इण्डिका' नाम की पुस्तक में इस देश का बहुत सा हाल लिखा। इस पुस्तक में भारत के बल, वैभव, नीति, रीति-रस्म, पैदावार, भूगोल तथा विविध संस्थाओं का प्रामाणिक वर्णन मिलता है। मैगास्थनीज़ ने जिन बातों को अपनी आँखों से देखकर लिखा है, वे निःसन्देह ठीक हैं। मैगास्थनीज़ के 'भारत-वर्णन' से मौर्य-इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ता है जिससे बहुत सी ज्ञातव्य बातें नीचे उद्धृत की गई हैं।

पाटलिपुत्र का वर्णन—चन्द्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र—यूनानियों का पालिबोथ्रा—सोन और गङ्गा के सङ्गम पर बसा हुआ था।* उस नगर की लम्बाई ९ मील और चौड़ाई १½ मील थी। उसके चारों ओर काठ का परकोटा था, जिसमें ६४ दरवाज़े और ५७० बुर्ज थे। परकोटे के चारों ओर एक गहरी खाई थी जिसमें सोन नदी का पानी भरा रहता था। एरियन के कथनानुसार भारत का सबसे बड़ा नगर पालिबोथ्रा कहलाता था और इसके अलावा और नगरों की भी संख्या इतनी अधिक थी कि ठीक-ठीक नहीं बतलाई जा सकती। चन्द्रगुप्त-मौर्य के राजभवन पाटलिपुत्र नगर के मध्य में बने हुए थे। सुन्दरता और भव्यता में वे ईरान के बादशाहों के महलों से भी बढ़कर थे। राज-भवनों के चारों ओर बड़े रमणीक उद्यान और सरोवर थे। पटना के पास 'कुमराहार' गाँव के समीप मौर्य-राजभवनों के कुछ भग्नावशेष मिले हैं।

मौर्य-सम्राट् का दरबार—चन्द्रगुप्त मौर्य का राज-दरबार बड़ी सजधज और ठाठ से लगता था। शान-शौक़त में उसका दरबार मुग़ल बादशाहों के

* पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है—'**अनुशोणं पाटलिपुत्रम्**'—'**पाटलिपुत्रकाः प्राकाराः**'—'**पाटलिपुत्रकाः प्रासादाः**' अर्थात् पाटलिपुत्र सोन नदी के समीप स्थित है, इसके चारों ओर प्राकार—परकोटे—और उसमें राजभवन हैं। यवन लेखक सोन नदी को Erannoboass (हिरण्यवाहा) कहते थे।

दरबार से किसी अंश में भी कम न था। सुवर्ण और चाँदी के बड़े-बड़े सुन्दर बर्तन, जड़ाऊ मेज़, कुर्सियाँ और कीनखाब के महीन वस्त्र दर्शकों की आँखों में चकाचौंध डालते थे। चन्द्रगुप्त मोती की मालाओं से सजी हुई पालकी अथवा सुनहली झूलों से सजे हुए हाथी पर बैठकर महलों के बाहर निकलता था। राजा को शिकार का बड़ा शौक़ था। बड़े-बड़े जङ्गल सिर्फ़ राजा का शिकार का शौक़ पूरा करने के लिए सुरक्षित रखे जाते थे, जिनमें हस्तक्षेप करनेवालों को प्राण-दण्ड दिया जाता था। चन्द्रगुप्त पहलवानों के दङ्गल, घुड़-दौड़, जानवरों की लड़ाई आदि से अपना मनोविनोद किया करता था। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित स्त्रियाँ राजा की शरीर-रक्षिका थीं और जब वह सिंहासन पर बैठता था तब वे चवँर, छत्र और सुवर्ण-कलश लेकर उसकी सेवा में उपस्थित होती थीं।* चन्द्रगुप्त न्याय, यज्ञ और शिकार करने के लिए महल से बाहर आया करता था। उसे मालिश करवाने का भी बड़ा शौक़ था। राजा की वर्षगाँठ का दिन बड़े समारोह से मनाया जाता था। वह प्रतिदिन राजसभा में उपस्थित होकर प्रजा की फ़र्याद सुनता और न्याय करता था।

पाटलिपुत्र की शासन-व्यवस्था—पाटलिपुत्र नगर का प्रबन्ध ३० सभासदों की एक समिति द्वारा होता था। यह समिति ६ उपसमितियों में विभक्त थी।

(१) शिल्पकला-विभाग—इस विभाग की उपसमिति में पाँच सदस्य थे। वे शिल्प और उद्योग-धन्धों का निरीक्षण और प्रबन्ध करते थे। इस विभाग के द्वारा कारीगरों की मज़दूरी की दर भी निश्चित की जाती थी। कारखानेवालों के कच्चे माल की देख-भाल करना भी इसी विभाग का काम था। अच्छे सामान के उपयोग पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उचित मज़दूरी के बदले कारीगरों से पूरा-पूरा काम लिया जाता था। कारीगर राज्य के विशेष सेवक समझे जाते थे। इसलिए जो

---

* स्त्रीगणैर्धन्विभिः।—अ० शा०।

कोई उनका अङ्ग-भङ्ग करके उन्हें निकम्मा कर देता था उसे प्राणदण्ड तक दिया जाता था।

(२) **वैदेशिक विभाग**—नगर-सभा की द्वितीय उपसमिति का कर्तव्य विदेशियों की देख-रेख करना था। मौर्ययुग में बहुत से विदेशी लोग व्यापार आदि के प्रयोजन से इस देश में आते थे। मौर्य-साम्राज्य का विदेशी राज्यों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस विभाग के ही निरीक्षण में विदेशियों के ठहरने, उनकी चिकित्सा तथा मरने पर उनके अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध उचित रूप से किया जाता था। मरने के बाद उनकी सम्पत्ति तथा रियासत आदि का प्रबन्ध इसी विभाग की ओर से होता था और उसकी आय उनके वारिसों के पास भेज दी जाती थी।

(३) **जन-संख्या विभाग**—जन्म और मृत्यु की संख्या का हिसाब ठीक-ठीक नियमानुसार रखना तृतीय उपसमिति का कर्तव्य था। जन्म और मृत्यु का लेखा रखने से प्रजा से कर वसूल करने में भी सुविधा होती थी। यह बड़े अचरज की बात है कि इतने प्राचीन समय मे भारत के शासक जन-संख्या विभाग की उपयोगिता को समझते थे। प्रजा के जन्म-मरण का हाल राजा से छिपा न रहे, यह भी इस विभाग का उद्देश्य था।

(४) **वाणिज्य-व्यवसाय विभाग**—चतुर्थ उपसमिति के अधीन वाणिज्य-व्यवसाय का शासन था। नाप और तौल की देख-भाल करना भी इसके अधिकार में था। विक्रय की चीज़ों की दर नियत करना और राज-मुद्राङ्कित बटखरों और मापों का उपयोग कराना इस विभाग का काम था। प्रत्येक व्यापारी को व्यापार करने के लिए परवाना लेना पड़ना था और इसके लिए कर भी देना पड़ता था। एक से अधिक प्रकार का व्यापार करने के लिए व्यापारी को दूना कर देना पड़ता था।

(५) **वस्तु-निरीक्षक विभाग**—पांचवीं उपसमिति कारख़ानों में बनी हुई चीज़ों की देख-भाल करती थी। पुरानी और नई वस्तुओं को पृथक् रखने की आज्ञा राज्य की ओर से थी। राजाज्ञा के बिना पुरानी वस्तुओं का बेचना नियम-विरुद्ध और दण्डनीय समझा जाता था।

(६) **कर-विभाग**—इस विभाग की उपसमिति बिकी हुई वस्तुओं के मूल्य से दसवाँ हिस्सा कर के रूप में वसूल करती थी। जो मनुष्य कर न देकर इस नियम को भङ्ग करता था उसे प्राणदण्ड दिया जाता था। अपने-अपने विभाग के कर्तव्यों के अतिरिक्त सभासदों को एक साथ मिलकर नगर-शासन के सम्बन्ध में सभी आवश्यक कार्य करने पड़ते थे। हाट, बाट, घाट और मन्दिर आदि सभी लोकोपकारी कार्यों और स्थानों का प्रबन्ध इस महासभा के अधीन था।

यद्यपि इस प्रकार की नगर-सभा का विवरण पाटलिपुत्र के विषय में ही मिला है तथापि यह अनुमान करना युक्तिसङ्गत है कि तक्षशिला, उज्जैन आदि साम्राज्य के सभी बड़े-बड़े नगरों का शासन भी इसी प्रकार से होता था।

सेना का प्रबन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना प्राचीन प्रथा के अनुसार चतुरङ्गिणी थी, किन्तु उसके साथ-साथ जल-सेना की विशेष व्यवस्था की गई थी। उसकी सेना में हाथी ९०००, रथ ८०००, घोड़े ३०००० और पैदल सिपाही छः लाख थे। इस महान् सेना का शासन एक मण्डल के अधीन था। इस मण्डल में ३० सभासद थे जो ६ विभागों में विभक्त थे। प्रत्येक विभाग में ५ सभासद होते थे। पहला विभाग जल-सेनापति के सहयोग से जल-सैन्य का प्रबन्ध करता था। दूसरे विभाग के निरीक्षण में सेना के लिए अपेक्षित सामग्री और रसद आदि रहती थी। बाजा बजानेवाले, साईस, घसियारे आदि का प्रबन्ध भी इसी विभाग द्वारा होता था। तीसरा विभाग पैदल सेना की देख-रेख करता था। चतुर्थ विभाग के अधिकार में अश्वारोही सेना का प्रबन्ध था। पाँचवाँ विभाग रथसेना की देख-भाल करता था और छठा विभाग हस्ति-सैन्य का प्रबन्ध करता था।

मौर्य-सेना का सङ्गठन बहुत नियमबद्ध था। इसके प्रत्येक विभाग का कार्य बड़ी दक्षता से सम्पन्न किया जाता था। राजकोष से ही सेना को वेतन नियमित रूप से मिला करता था। सेना का प्रबन्ध राज्य के ही बिलकुल अधीन था। युद्ध-कला में निपुण और अस्त्र-शस्त्र से सजी-धजी मौर्य-सेना का सामना देशी और विदेशी शत्रु न कर सके थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त के

हाथ में इस प्रभूत सैन्य-बल का अमोघ अस्त्र था। चार अङ्गों से युक्त सेना तो बहुत प्राचीन काल से ही भारत में चली आ रही थी, पर जल-सेना-विभाग और सैन्य-सामग्री-विभाग इन दोनों का मौर्य-सेना में समावेश करना कदाचित् चन्द्रगुप्त की प्रतिभा का आविष्कार था। कौटिल्य के अनुसार सेना के साथ एक चिकित्सा का विभाग भी रहता था। युद्ध के समय चिकित्सक सेना के साथ औषध, पथ्य, भोजन आदि चिकित्सा के सामान तैयार रखते थे।*

अमात्य-वर्ग—अर्थशास्त्र में राज्य के कई उच्च पदाधिकारियों के कार्यों का वर्णन मिलता है। राज्य के समस्त आय-व्यय का प्रबन्ध करनेवाला अफ़सर 'समाहर्ता' कहलाता था। उसके अधीन जुदी-जुदी श्रेणी के लेखक और कर्मचारी होते थे, जो प्रजा की सम्पत्ति, आय आदि का विवरण लिखा करते थे। राज्य के आय-व्यय का हिसाब ब्योरेवार उत्तम रीति से रखने की व्यवस्था थी। हिसाब के काम का अधिकारी 'गणनिक' और उस विभाग का नाम 'अक्षपटल' था। आमदनी के अनेक साधन थे। भूमि की उपज का षड्भाग, गोचर भूमि, जङ्गल, खान, आयात और निर्यात माल पर चुङ्गी, फ़ीस, जुर्माने, आबकारी आदि राष्ट्र की आमदनी के अनेक विभाग थे। दूसरा बड़ा अफ़सर 'संनिधाता' कहलाता था, जो राजकोष, कोष्ठागार, अस्त्रागार, बन्धनागार आदि का प्रबन्ध करता था। उसे वृष्टि नापने का एक पात्र भी रखना पड़ता था। न्याय और शासन का बड़ा अफ़सर 'प्रदेष्टा' कहलाता था। 'प्रशास्ता' राजकीय पत्रों और शासनों को लिखानेवाला अफ़सर था। राज-प्रासाद का प्रबन्ध 'दौवारिक' के हाथ में होता था। 'आन्तर्वंशिक' राजा के शरीर-रक्षकों का अफ़सर था। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और युवराज राजा की अन्तरङ्ग समिति के सदस्य होते थे। सीमाप्रान्तों में 'अन्तपाल' और 'दुर्गपाल' देश-रक्षा के लिए नियत होते थे। मौर्य-साम्राज्य के बड़े प्रान्तों का शासक 'उपराजा' कहलाता था। नगर-शासन का अफ़सर 'नागरिक' था, जिसके नीचे 'स्थानिक' और 'गोप' होते थे। स्ट्रैबो के अनुसार

* स्मिथ—आक्सफ़ोर्ड हिस्टरी आव् इंडिया—पृ० ८४।

ये उपसमितियों द्वारा नगर का प्रबन्ध करते थे। ग्रामणी एक गाँव का अफ़सर या मुखिया होता था। 'गोप' दस गाँवों का, 'स्थानिक' राष्ट्र के चौथे भाग का और 'राजुक' बड़े-बड़े प्रान्तों के पदाधिकारी होते थे। सब राजसेवकों को वेतन रोकड़ रूप में दिया जाता था और भूमि भी दी जाती थी जिसको न तो वे बेच सकते और न गिरवी रख सकते थे।*

प्रान्तीय शासन—मैगास्थनीज़ और कौटिल्य के ग्रन्थों से पता चलता है कि मौर्य-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था नियमबद्ध और सुसङ्गठित थी। चन्द्रगुप्त मौर्य जैसा युद्ध-कला-निपुण था वैसा ही नीति-निष्णात और शासन-कार्य में दक्ष था। उसका विशाल साम्राज्य अनेक प्रान्तीय सरकारों में विभक्त था। पाटलिपुत्र के आस-पास के प्रदेशों का प्रबन्ध स्वयं सम्राट् की अधीनता में किया जाता था, किन्तु दूर के प्रान्त सम्राट् के प्रतिनिधियों द्वारा शासित होते थे। पश्चिमोत्तर प्रान्त की राजधानी तक्षशिला थी। मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र की राजधानी उज्जैन थी। अशोक के समय में कलिङ्ग और दक्षिण की राजधानियां क्रम से तोषली और सुवर्णगिरि थीं। इन प्रान्तों के शासक प्रायः राजकुमार होते थे।

मन्त्रि-परिषद्—सम्राट् मन्त्रियों के परामर्श से राज्य के सारे कार्य्य करता था। राष्ट्र की बड़ी सभा 'मन्त्रि-परिषद्' कहलाती थी, जिसके कार्यों की विवेचना अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेखों में की गई है। सचिवों की सहायता से ही राजा का काम चल सकता है। मन्त्री और मन्त्रि-परिषद् के अलावा न्याय और शासन विभागों के और भी बड़े अफ़सर थे जो 'अमात्य' कहलाते थे। ये उच्च पदाधिकारी राजकोष, न्याय आदि विभागों में नियुक्त किये जाते थे।

'राजा धर्मप्रवर्त्तकः'—राजा की ओर से न्याय के लिए दीवानी और फ़ौजदारी अदालतें खुली हुई थीं और उनके क़ानून भी बने हुए थे। धर्म, व्यवहार, चरित्र (रीति-रिवाज) और राजशासन ये क़ानून के मुख्य-मुख्य अङ्ग

---

* केम्ब्रिज हिस्टरी आव् एंशेंट इंडिया—पृ० ४८६-४८८।

थे। तीन मुंसिफ़ (धर्मस्थ) और तीन ब्राह्मण वकील (अमात्य) बैठकर मुक़दमों का निर्णय किया करते थे।* बहुत से मुक़दमे पञ्चायतों और जाति की परिषदों में तय किये जाते थे। राजा स्वयं अथवा प्राड्विवाक (न्यायाधीश) के द्वारा मुक़दमों की अपील सुना करता था।

कौटिल्य ने दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है—एक 'धर्मस्थीय' (दीवानी अदालत) और दूसरा 'कण्टकशोधन' (फ़ौजदारी अदालत)। यूनानी लेखकों का कथन है कि भारतीय समाज की सातवीं श्रेणी में राजा को परामर्श देनेवाले, सहायक और क़ानूनी सलाहकार हैं। राज्य के सर्वोच्च पद इन्हीं के पास हैं। न्याय का शासन और सार्वजनिक कार्यों का प्रबन्ध ये ही लोग करते हैं।

अध्यक्ष वर्ग—मौर्य्य-शासन-पद्धति में अनेक विभाग थे जिनके प्रबन्ध के लिए अध्यक्ष नियत किये गये थे। स्ट्रैबो ने लिखा है कि 'इन अध्यक्षों में कुछ ज़िले के अधिकारी होते हैं तो कुछ नगर और सेना के। कुछ नदियों का निरीक्षण करते हैं। वे मिस्र देश की भाँति भूमि की भी नाप करते हैं और झीलों तथा जलाशयों की देख-भाल करते हैं जिनसे छोटी नालियों द्वारा खेत सींचे जाते थे ताकि सबको समान रूप से कृषि के लिए जल मिल सके। उन्हें लोगों पर निग्रह और अनुग्रह करने का अधिकार है। वे कर वसूल करते हैं। वे सड़कों की देख-रेख करते हैं। नगर के प्रबन्ध के लिए अध्यक्षों की पाँच-पाँच सदस्यों की ६ समितियाँ होती हैं। इतनी ही समितियाँ सेना-विभाग का शासन करती हैं।'

गुप्तचर विभाग—उपर्युक्त विभागों के अलावा एक गुप्तचर विभाग था। इसके कर्मचारी प्रत्येक स्थान और समय की ख़बर राजा के पास पहुँचाया करते थे। इस विभाग में बहुत ही सच्चे और विश्वासपात्र अफ़सर रखे जाते थे। राज्य के बड़े पदाधिकारियों पर भी गुप्तचर निगरानी रखते थे और जनता के भावों का पता लगाकर राजा को सन्देश पहुँचाते थे। डाक भेजने

* 'धर्मस्थास्त्रयस्त्रयोऽमात्या ......व्यवहारिकानर्थान् कुर्युः।'—अ० शा० ५७।

के लिए सिखाये हुए कबूतरों के गले में पत्र लटकाकर उन्हें उड़ा दिया जाता था जो ठीक स्थान पर पत्र पहुँचा देते थे।

कृषि-विभाग—राज्य का कृषि-विभाग 'सीताध्यक्ष' नामक अफ़सर के अधीन था। राजा किसानों से पैदावार का मामूली तौर पर षड्भाग अर्थात् छठवाँ हिस्सा कर के रूप में वसूल करता था। मैगास्थनीज़ को यह देखकर बड़ा अचरज हुआ कि जिस समय शत्रु-सेनाएँ घोर संग्राम मचाये रहती थीं उस समय भी कृषक शान्तिपूर्वक खेती के काम में लगे रहते थे।

आबपाशी—भारत के सदृश कृषि-प्रधान देश में आबपाशी का प्रबन्ध परम आवश्यक है। चन्द्रगुप्त ने सिंचाई का एक विभाग अलग ही नियत कर दिया था। मैगास्थनीज़ का कथन है कि राज्य के कुछ कर्मचारी नदियों का निरीक्षण और भूमि की नाप-जोख उसी तरह करते हैं जिस तरह मिस्र में की जाती है। वे उन नालियों की भी देख-भाल करते हैं जिनके द्वारा पानी शाखा-नहरों में जाता है ताकि सब किसानों को समान रूप से नहर का पानी सिंचाई के लिए मिल सके। गिरनार में, जो काठियावाड़ में है, एक चट्टान पर क्षत्रप रुद्रदामा का एक लेख खुदा हुआ है जिसके पढ़ने से यह बात सिद्ध होती है कि दूरवर्ती प्रान्तों में भी मौर्य सम्राट् सिंचाई के प्रश्न पर ख़ूब ध्यान रखते थे। यह लेख सन् १५० के बाद ही लिखा गया था। इसमें लिखा है कि पुष्य-गुप्त वैश्य ने, जो चन्द्रगुप्त के अधीन पश्चिमी प्रान्तों का राष्ट्रपति था, गिरनार की पहाड़ी पर एक छोटी नदी के एक ओर बाँध बनवाया जिससे एक झील सी बन गई। इस झील का नाम 'सुदर्शन' रखा गया और इससे खेतों की सिंचाई होने लगी। अशोक के समय में राजा तुषास्फ ने, जो पारसी जाति का था और पश्चिम प्रान्त में अशोक का प्रतिनिधि था, सुदर्शन झील में से नहरें निकलवाईं।

सड़कें बनवाई जाती थीं और उन पर एक-एक कोस के अन्तर पर स्तम्भ रखे जाते थे जिनसे स्थानों की दूरी और मार्गों का पता लगता था। कौटिल्य ने 'राजपथ' और 'वणिक्पथ' का उल्लेख किया है। यूनानियों ने लिखा है कि पाटलिपुत्र से पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त तक एक बड़ी सड़क थी। स्थल

और जल के व्यापार के मार्ग सुरक्षित रखे जाते थे। यूनानियों ने लिखा है कि उस समय भारत में नगरों की संख्या बहुत थी, जिन्हें क़िलों से सुरक्षित रखा जाता था। अनेक तरह के उद्योग-धन्धे उस समय मौजूद थे। मज़दूर, शिल्पकार, चिकित्सक, कुशीलव (नट), गायक, वादक, नर्तक, ज्योतिषी (गणक) आदि भिन्न-भिन्न पेशेवालों का उल्लेख कौटिल्य-रचित अर्थशास्त्र में पाया जाता है।

व्यापारियों और सौदागरों के नियमबद्ध वर्ग थे, जो 'श्रेणी' और 'पूग' कहलाते थे। 'संभूय-समुत्थान' द्वारा ये अपने-अपने व्यापार और पेशे की उन्नति करते थे। व्यापारी को सदा शुद्ध पदार्थ बेचना पड़ता था। बाट और नाप (तुला-मान) राज्य की ओर से दिये जाते थे। जगह-जगह पर शुल्क-स्थान बने हुए थे जहाँ चुङ्गी देनी पड़ती थी। खानों से धातुएँ निकाली जाती थीं, कारख़ाने चलाये जाते थे और जङ्गलों की पैदावार से व्यावसायिक द्रव्य तय्यार किये जाते थे।

अनाथ, बालक, वृद्ध, बीमार, आपद्ग्रस्त तथा अपाहिजों का भरण-पोषण राज्य की तरफ़ से किया जाता था। दुर्भिक्ष-निवारण के लिए स्थल-स्थल पर अन्न के भाण्डार सुरक्षित रहते थे। मज़दूर और कारीगरों की विशेषतः रक्षा की जाती थी।

दण्ड-विधान—मौर्य-काल का दण्ड-विधान बहुत कठोर था। प्रत्येक अपराध बड़ी सख़्ती के साथ दबाया जाता था। यदि कोई किसी का अङ्गच्छेद कर डालता था तो उसके बदले में अपराधी का भी वही अङ्ग भङ्ग कर दिया जाता था। बहुत से अपराधों में मुण्डन का दण्ड भी दिया जाता था। परन्तु उस समय अपराध बहुत कम होते थे। लोगों को न्यायालयों में जाने का बहुत ही कम काम पड़ता था। वे लोग परस्पर लेन-देन के मामलों में एक दूसरे का विश्वास रखते थे। उनमें धरोहर अथवा अमानत के विषय में कभी कोई मुक़द्दमा नहीं होता था। उस समय चोरी बहुत कम होती थी। वे सत्य और धर्म का समान आदर करते थे। वे किसी विदेशी को भी दासत्व के बन्धन में नहीं जकड़ते थे। उस समय धर्म-सूत्रों के अनुसार न्याय किया जाता था।

मौर्यकालीन सभ्यता—अर्थशास्त्र और यवनों के भारत-वृत्तान्तों से हमें मौर्य्यकालीन सभ्यता का इतना विशद परिचय मिलता है कि उसका पूरा-पूरा विवरण लिखना एक छोटी सी पुस्तक में अशक्य है। जैसी संस्थाएँ आजकल की शासन-पद्धति में देखी जाती हैं वैसी ही मौर्य-काल में विद्यमान थीं। ईसा के जन्म से चार शतक पूर्व भारतवर्ष सभ्यता और उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँच चुका था। इसमें सन्देह नहीं कि इस देश का ऐसा अपूर्व ऐहिक अभ्युदय पूर्व की कई सदियों की उत्तरोत्तर विकसित सभ्यता का परिणाम होना चाहिए।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु—सम्राट् चन्द्रगुप्त ने ३२२ ई० पू० से २९८ ई० पू० तक राज्य किया। जैन कथाओं में लिखा है कि चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु से जैन-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी और अपने जीवन के अन्त समय में राज्य छोड़कर श्रावण बेलगोला (मैसोर) में जा बसा था जहाँ उसने जैन साधु की भाँति अनशनव्रत करके प्राण-त्याग किया था। परन्तु, इन कथाओं की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों का मतभेद है। चौबीस वर्ष तक प्रतापशाली सम्राट् चन्द्रगुप्त ने एक विशाल साम्राज्य पर आश्चर्यजनक नीति-पटुता, तत्परता और शक्ति से शासन कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त का पुत्र बिन्दुसार मौर्य राज्य के सिंहासन पर बैठा।

---

*

एकादश परिच्छेद

सम्राट् अशोक मौर्य

सम्राट् बिन्दुसार—चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र और उत्तराधिकारी सम्राट् बिन्दुसार के राज्य-काल की कोई मुख्य घटना प्रसिद्ध नहीं है। बिन्दुसार का दूसरा नाम 'अमित्रघात' था। १६ वीं सदी के एक तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है कि बिन्दुसार ने चाणक्य की सहायता से १६ राज्यों पर विजय प्राप्त की और अपने साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया। सम्भव है कि बिन्दुसार ने दक्षिण भारत के बड़े प्रान्त को मौर्य-साम्राज्य में मिला लिया हो। प्राचीन तामिल-साहित्य में मौर्यों के दक्षिण-विजय के उल्लेख मिलते हैं। अशोक के शिलालेखों से मौर्यों का दक्षिण भारत पर अधिकार होना पाया जाता है, जिसे कदाचित् उसके पहले बिन्दुसार ने जीता होगा। बिन्दुसार के राज्य-काल में उसके अमात्यों के अत्याचार के कारण तक्षशिला में विद्रोह हुआ जिसे शान्त करने के लिए राजकुमार अशोक भेजा गया था। बिन्दुसार के राज्य-काल में मौर्य-साम्राज्य का प्रताप बराबर बढ़ता ही रहा था, यह अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है। उसके पुत्र और उत्तराधिकारी अशोक को अक्षत साम्राज्य प्राप्त हुआ था।

यवन राजाओं से मित्रता—बिन्दुसार के समय में भारत का यवन-देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। उसके दरबार में पश्चिमी एशिया के राजा एंटियोकस ने मैगास्थनीज़ के स्थान में डेईमेकस नामक राजदूत भेजा था। मिस्र के राजा टोलेमी द्वारा भेजा हुआ डायोनीसियस नामक राजदूत बिन्दुसार की राज-सभा में आया था। बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक राज्य किया। ई० पू० २७२ में उसका पुत्र अशोक राजगद्दी पर बैठा।

अशोक मौर्य—बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अशोक अपने पिता के जीवन-काल में क्रम से तक्षशिला और उज्जैन का प्रान्तीय शासक रह चुका था जहाँ पर रहकर उसने शासन-कार्य में दक्षता प्राप्त की थी। बौद्ध ग्रन्थों में लिखा है कि बिन्दुसार की मृत्यु के बाद मौर्य साम्राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अशोक का अपने भाइयों के साथ झगड़ा हुआ और इस कारण उसके राज्याभिषेक में चार वर्ष का विलम्ब हुआ; इस अवकाश में उसने अपने बड़े भाई सुषीम वा सुमन को पराजित कर राजगद्दी प्राप्त की। बौद्ध किंवदन्तियों के अनुसार अशोक ने अपने ९९ भाइयों का घात कर राज्य पर अधिकार जमाया था। परन्तु यह कोरी गप्प मालूम होती है, क्योंकि अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक अपने भाइयों और सम्बन्धियों के साथ अपने शासन-काल में बहुत ही उदारता और दया का व्यवहार करता था। बौद्धों का ऐसी कपोल-कल्पित कथाओं के गढ़ने का कदाचित् यह प्रयोजन था कि लोगों को यह शिक्षा मिले कि बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेने से अशोक, जो पहले अत्यन्त क्रूर था, परम धर्मात्मा और दयालु बन गया। परन्तु ऐसी कहानियां विश्वसनीय नहीं हैं।

अशोक के शिलालेखों से स्पष्ट प्रकट होता है कि उसके राज्याभिषेक के बाद उसको किसी ओर से शत्रुओं का भय न था और उसे एक बहुत ही सङ्गठित और सुरक्षित साम्राज्य पर अधिकार मिला था। यह साम्राज्य पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में हिन्दूकुश पर्वत तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में मैसोर के उत्तरी प्रदेश तक फैला हुआ था।

अशोक के इतिहास की महिमा—सम्राट् अशोक के राज्य-काल की कुल गिनकर एक ही राजनीतिक घटना है—वह है कलिङ्ग-विजय। महानदी और गोदावरी नदियों के बीच में स्थित कलिङ्ग देश उस समय का एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। मेगास्थनीज़ के अनुसार कलिङ्ग देश के राजा के पास ६० हज़ार पैदल, एक हज़ार घुड़सवार और ७०० हस्ति-सेना विद्यमान थी। विश्वविजयिनी मौर्य-सेनाओं के साथ अशोक ने कलिङ्ग देश पर आक्रमण किया। यद्यपि यह घटना देखने में बहुत छोटी प्रतीत होती है

तथापि इसका भारतवर्ष पर ही नहीं बल्कि सारे जगत् पर गहरा असर पड़ा। इस भयानक युद्ध का अशोक के हृदय पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। कलिङ्ग-विजय की शुभ घड़ी से ही अशोक के 'धर्म-विजय' का सूत्रपात और फिर उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। धर्मविजयी सम्राट् अशोक के सन्देश और उपदेश देश-विदेशों में सुनाये गये। लोक-शिक्षा के उद्देश्य से उसकी धर्म-लिपियाँ पत्थर की चट्टानों और खम्भों पर खुदवाई गईं। प्रजा के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख और कल्याण के लिए अनेक श्लाघ्य कर्म किये गये। इन्हीं सब कारणों से अशोक का जीवन-चरित्र अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद माना गया है। जगत् के इतिहास के सबसे बड़े महापुरुषों के गणना-प्रसङ्ग में सम्राट् अशोक का नाम प्रथम श्रेणी में रखा जाता है। विश्वतोमुखी प्रभुता पाकर उसने अपनी सारी शक्तियों को मानव-जाति की सेवा में लगा दिया।

अशोक-कालीन इतिहास के साधन—बौद्ध गाथाओं के आधार पर अशोक का इतिहास लिपिबद्ध करना सर्वथा प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उसके समय के अनेक आश्चर्यजनक शिलालेख मिलते हैं जिनसे उसके कार्य-कलाप का ठीक-ठीक पता चलता है। यदि अशोक के उत्कीर्ण लेख आज शोधकर न निकाले जाते तो उसके ऊँचे आदर्श, उसकी महती आकांक्षा और उसकी धवल कीर्ति का कुछ भी पता न चलता। उन प्रसिद्ध शिलालेखों में अशोक ने अपने जीवन की आत्म-कथा अपने ही शब्दों में लिखवाई है। अशोक के वचनों में पूर्ण सचाई झलकती है। उनमें मिथ्याभिमान वा आत्म-श्लाघा की गन्ध भी नहीं है। इसलिए, ऐतिहासिक इन शिलालेखों को अशोक के इतिहास के लिए परम प्रामाणिक मानते हैं। इन साधनों के अतिरिक्त अशोक-कालीन स्मारकों से तथा परवर्ती काल के साहित्य से सम्राट् अशोक के इतिहास का बहुत कुछ पता चलता है।

अशोक की कलिङ्ग-विजय—अशोक ने अपने राज्याभिषेक के नवें वर्ष (ई० पू० २६२) में कलिङ्ग देश पर आक्रमण किया। यह देश बङ्गाल की खाड़ी के किनारे पर महानदी से गोदावरी तक विस्तृत था।

अशोक की जीवन-चर्या में अभिनव संस्कार उत्पन्न करनेवाला कलिङ्ग-युद्ध जगत् के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। युद्ध के हृदयद्रावक दृश्यों को देखकर तथा आर्त और आहत मनुष्यों के करुण क्रन्दन को सुनकर अशोक को बड़ी आत्मग्लानि और पश्चात्ताप हुआ। उस भीषण रक्त-पात का अशोक के मन पर जो असर हुआ उसका परिणाम आज भी दुनिया में देख पड़ता है। कलिङ्ग-युद्ध में डेढ़ लाख आदमी पकड़े गये, एक लाख धराशायी हुए और इससे भी अधिक जनता नष्ट हो गई। हताहतों की उपर्युक्त भारी संख्या से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि, सम्भवतः, सारे कलिङ्गवासी स्वदेश-प्रेम और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर अशोक से लड़े थे। अशोक के १३वें शिलालेख में कलिङ्ग-युद्ध की घटना का वर्णन पढ़ने से ज्ञात होता है कि एक ओर तो कलिङ्गवासियों ने स्वदेश-प्रेम की वेदी पर पूर्ण आत्म-बलिदान किया था और दूसरी ओर अशोक ने बौद्ध धर्म के लिए आत्म-समर्पण करने की भीष्म प्रतिज्ञा की थी। कलिङ्ग-युद्ध के अनन्तर अशोक ने मन में ठान लिया कि ऐसी रुधिर-प्लावित विजय की अपेक्षा 'धर्म-विजय' करना ही मेरा परम कर्तव्य है और बस यही प्रियदर्शी की अनवरत प्रार्थना होगी कि जगत् के सब प्राणियों में क्षेम, संयम, चित्त-शान्ति और प्रसन्नता हो; इस उद्देश की सिद्धि के लिए निरन्तर वह यत्नशील होगा। इसका ही नाम 'धर्म-विजय' है।* धर्म-शिक्षा से मनुष्य के हृदय को स्वायत्त करना ही सच्ची विजय है। अशोक ने युद्ध को सर्वथा त्यागकर संसार भर में शान्ति, सद्भाव, अहिंसा और मैत्री का प्रचार करने का बीड़ा उठा लिया। उसकी इस धर्म-विजय की वैजयन्ती भारत ही में नहीं बल्कि दूर-दूर के यवन-राज्यों में फहराई। धर्म का शङ्खनाद—'भेरी-घोष'—अपनी सम्पूर्ण शक्ति भर उसने सर्वत्र ही किया। †

---

* शिलालेख १३।

† 'प्रियदर्शिनो राज्ञो धर्माचरणेन भेरीघोषोऽथो धर्मघोषो' शि० ले० ४ सं० अनु०।

बौद्ध धर्म का प्रचार—दूर-दूर के विदेशी राजाओं के साथ अशोक की मैत्री थी जिनके राज्य में उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया था और जीवहिंसा को रोकने और बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक भेजे थे। इस धर्म-प्रचार के आन्दोलन को उसने बड़े समारोह से उठाया और उसकी साङ्गोपाङ्ग व्यवस्था की थी। उसका विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार करने का विचार नितान्त मौलिक था। इस महान् प्रस्ताव का अपनी प्रतिभा से आविष्कार कर उसने विधिपूर्वक उसे कार्य में परिणत करने का उद्योग किया। ई० स० के पूर्व २५६ वर्ष के पहले उसने धर्मोपदेशक पाँच यवन राज्यों में भेजे, जिन पर क्रम से एँटियोकस, टोलेमी फिलाडेल्फस, एँटिगोनस, मेगस और एलेक्जैंडर नाम के राजा राज्य करते थे। उदारचरित्र अशोक ने एशिया, अफ्रीका और युरोप इन तीनों महाद्वीपों में अपने धर्मोपदेशक भेजे थे। मौर्य-साम्राज्य के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में, सीमान्त देशों में बसनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में, केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोड़ और पाण्ड्य नाम के दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में और सिंहल द्वीप में उसने बौद्ध धर्माचार्यों को भेजा था।* उनमें से कतिपय कर्मवीर धर्म-गुरुओं का नाम ई० सन् के पूर्व द्वितीय शताब्दी के साँची के स्तूपों पर उत्कीर्ण मिलता है। आचार्य **मध्यन्तिक** कश्मीर और गन्धार में, और **महारक्षित** यवन-देश (बैक्ट्रिया) में

---

* १३ वाँ शिलालेख।

(१) अन्तियोकस—एँटियोकस थियोस—सिरिया, बैक्ट्रिया आदि का राजा, सेल्युकस का पौत्र था। ई० पू० २६१—२४६ तक।

(२) तुरमय—टोलेमी फिलाडेल्फस, मिस्र का राजा ई० पू० २८५ से २४७ तक।

(३) अंतकिन—एँटिगोनस गोनटस, मेसिडोनिया का राजा, ई० पू० २७८ से २३९ तक।

(४) मग—मगस, सिरीनी का राजा, ई० पू० २८५ से २५८ तक।

धर्म-प्रचार के लिए गये थे। दक्षिण भारत के प्रान्तों में **महादेव, रक्षित, यवनधर्मरक्षित** और **महाधर्मरक्षित** धर्म का जयघोष करने के लिए प्रस्थित हुए थे। **मज्झिम** हिमालय के प्रदेशों में उपदेश करते थे। **सोण** और **उत्तर** ये दोनों भाई सुवर्णभूमि (बर्मा) की ओर धर्म का सन्देश सुनाने के लिए पधारे थे। परन्तु इन धर्मधुरीण गुरुओं की कीर्ति-किरणों को प्रच्छन्न करनेवाले दो त्यागवीर महात्मा राजर्षि अशोक के ही बालक थे। उसके पुत्र **महेन्द्र** और पुत्री **संघमित्रा** ने भिक्षु और भिक्षुणी बनकर सिंहल द्वीप में जाकर बौद्ध-धर्म का प्रचार किया था। सिंहल के राजा देवानंपिय तिस्स ने महेन्द्र और संघमित्रा का बड़ा आदर-सत्कार किया और बौद्ध-धर्म स्वीकार कर उनके शुभागमन के उपलक्ष्य में वहाँ एक महाविहार बनाया। अजन्ता की गुफा के एक चित्र में इनकी सिंहल-यात्रा का दृश्य अङ्कित है और इनका प्रातःस्मरणीय नाम बौद्ध ग्रन्थों में सुवर्णाक्षरों में लिखा है।

बुद्धदेव के समय में बौद्ध-धर्म केवल एक छोटा सा सम्प्रदाय था। इसका प्रभाव एक छोटे से प्रान्त में सीमाबद्ध था। पर अशोक ने इस धर्म

---

(५) अलिकसुंदर—एलेकजेंडर, एपिरस का राजा, ई० पू० २७२ से २५८ तक।

(६) चोड—कोरोमण्डल तट जिसकी राजधानी त्रिचनापल्ली के पास उडैयूर थी।

(७) पाण्ड्य—द्रविड़ देश का दक्षिणी भाग, इसकी राजधानी मदुरा थी।

(८) ताम्रपर्णी—सिंहल द्वीप—लङ्का।

(९) यवन—पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्तों में जो यवन (यूनानी) बस गये थे।

(१०) कम्बोज—पूर्व अफ़गानिस्तान से सिन्धु नदी तक के प्रदेश में बसी हुई जाति।

(११) भोज—बम्बई प्रान्त के थाना और कोलाबा के आस-पास के विभाग पर अधिकार रखते थे।

(१२) पैठनिक—गोदावरी नदी के प्रदेश मे बसे हुए लोग।

(१३) अन्ध्र—यह दक्षिण की प्राचीन जाति है।

(१४) पुलिन्द—यह कदाचित् दक्षिण की ही जाति थी।

को जगत् का एक महान् धर्म बना दिया। जब ई० पू० ५४३ के लगभग बुद्धदेव का निर्वाण हुआ तब बौद्ध-धर्म गया, प्रयाग और हिमालय के मध्यवर्ती भाग में फैला हुआ था, किन्तु अशोक के धार्मिक प्रेम, उत्साह और प्रचार के कारण बौद्ध-धर्म भारत और दूर-दूर विदेशों में प्रसरित होने लगा। अशोक का नाम उन विरले महात्माओं में गिना जायगा जिन्होंने संसार के धर्म में महान् परिवर्तन किये हैं। वस्तुतः वह अपने युग का जगद्गुरु था—असभ्य और पतित जातियों का उद्धारक और उन्हें शिष्टाचार सिखानेवाला था। सिंहल, बर्मा, स्याम, जापान, तिब्बत आदि देशों की सभ्यता का इतिहास उनमें बौद्ध-धर्म के प्रवेश होने पर ही प्रारम्भ हुआ है। अतएव, निःसन्देह जगत् के इतिहास में अशोक के देश-देशान्तरों में भेजे हुए धर्म-प्रचारक सभ्यता फैलाने में बड़े निमित्त (कारण) हुए और उन्होंने भारतीय संस्कृति की जीती-जागती ज्योति को, जहाँ तक उनकी पहुँच थी, सर्वत्र ही प्रज्वलित कर दिया। *

अशोक के शिलालेख—अशोक के राज्य-काल के स्मारकों में उसके शिलालेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जितने उत्कीर्ण लेखों का अब तक पता चला है उनसे यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि सम्राट् अशोक को इस बात की बड़ी रुचि थी कि वह अपनी आज्ञाओं को चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाये, जिससे वे चिरस्थायिनी हों तथा उसकी प्रजा और अधिकारी-वर्ग को सदा उपदेश और अनुशासन देती रहें। इन्हीं लेखों द्वारा अशोक ने मानों आत्मचरित रचकर प्रकट किया है। इन्हीं से उसके समय के प्रामाणिक इतिहास का पता चलता है। अशोक ने स्वयं लिखा है कि 'इतिहास की चिरस्थिति के लिए' उसने लेख पत्थरों पर खुदवा दिये। ये लेख हिमालय से मैसूर तक और उड़ीसा से काठियावाड़ तक पहाड़ी चट्टानों और पत्थर

---

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥ मनुस्मृति

के विशाल स्तम्भों पर कई स्थानों में खुदे मिलते हैं। ये सब लेख निम्न-लिखित आठ विभागों में तिथि-क्रमानुसार विभाजित किये जा सकते हैं*—

(१) लघु-शिलालेख—ये मैसूर के उत्तर (१) सिद्धपुर, (२) जतिङ्ग रामेश्वर, (३) ब्रह्मगिर में, शाहाबाद ज़िले के (४) सहसराम में, जबलपुर ज़िले के (५) रूपनाथ में, (६) जयपुर राज के बैराट में, और निज़ाम-राज्य के (७) मास्की नामक स्थान में मिले हैं।

(२) भाब्रू शिलालेख—जयपुर राज में बैराट के पास मिला था।

(३) चतुर्दश शिलालेख—(ई० पूर्व २५६ के लगभग से) शहबाज़-गढ़ी और मँस्हेरा (पेशावर ज़िले में), कालसी (देहरादून ज़िले में), धौली (पुरी ज़िले में), जौगड़ (मद्रास प्रान्त के गञ्जाम ज़िले में), गिरनार (काठियावाड़ में), सोपारा (बम्बई प्रान्त के थाना ज़िले में) ये लेख पहाड़ की चट्टानों पर खुदे हुए पाये जाते हैं।

(४) दो कलिङ्ग लेख (ई० पूर्व २५६)—जो कलिङ्ग में ही चट्टानों पर खुदे हैं।

(५) तीन गुहालेख (ई० पूर्व २५७ और २५०)—जो गया के पास बाराबर नाम की पहाड़ी में हैं।

(६) दो तराई स्तम्भ-लेख (ई० पूर्व २४६)—जो नेपाल की तराई में रुम्मिनीदेई और निग्लिवा ग्राम में हैं।

(७) सप्त स्तम्भ-लेख (ई० पूर्व २४३–२४२)—ये लेख स्तम्भों पर खुदे हुए भिन्न-भिन्न नीचे लिखे छः स्थानों में मिले हैं—दिल्ली के दो स्तम्भ जो

---

(१) इन शिलालेखों में मास्की के लेख में 'अशोक' के नाम का उल्लेख है। 'देवानं पियस असोकस' इन शब्दों से यह लेख शुरू होता है। दूसरे लेखों में अशोक का 'प्रिय-दर्शी' उपाधि मात्र द्वारा उल्लेख किया गया है।

(२) अशोक के तीस से अधिक स्तम्भ मिले हैं जिनमें दस पर उसके लेख उत्कीर्ण हैं।

* विंसेएट स्मिथ—ऑक्सफ़र्ड हि० आव् इं०, पृ० १०३-४

अम्बाले के पास (१) टोपरा और (२) मेरठ से दिल्ली में लाये गये थे। (३) प्रयाग के क़िले में भी एक अशोक-स्तम्भ है जिस पर लेख उत्कीर्ण हैं। (४) लौरिया अरराज (५) लौरिया नन्दनगढ़ और (६) रामापुरवा के तीन स्तम्भ चम्पारन ज़िले में हैं।

(८) चार गौण-स्तम्भ-लेख (ई० पूर्व २४२ से २३२)—इनमें से दो क्रम से साँची और सारनाथ की लाटों पर खुदे हैं और दो प्रयाग के स्तम्भ में पीछे से जोड़ दिये गये हैं।

अशोक-कालीन साम्राज्य की सीमाएँ—जिन-जिन स्थानों में अशोक के स्मारक चिह्न और उत्कीर्ण लेख मिले हैं उनको लक्ष्य में रखने से उसके साम्राज्य के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है। अशोक की धर्म-लिपियाँ उत्तर में पेशावर, दक्षिण में मैसूर, पूर्व में पुरी और पश्चिम में गिरनार तक मिलती हैं। अनेक ऐतिहासिक कथाओं और शिलालेखों के प्रमाणानुसार अशोक के साम्राज्य की सीमाएँ निर्धारित की जा सकती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर उसका साम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ था, जिसमें अफ़ग़ानिस्तान, बलोचिस्तान, कुन्दहार, सिन्ध, कच्छ और काठियावाड़ शामिल थे। काश्मीर और नेपाल भी साम्राज्य के अङ्ग थे। अशोक ने काश्मीर में श्रीनगर और नेपाल में ललितपाटन नाम के नगर बसाये थे। ललितपाटन में उसने पाँच स्तूप बनवाये थे जो अब तक वर्तमान हैं। आसाम को छोड़कर दक्षिण में मैसूर पर्यन्त समस्त भारतवर्ष अशोक के साम्राज्य के अन्तर्गत था। कलिङ्ग तो विजित देश था। गोदावरी और कृष्णा नदी के मध्य का आन्ध्र-राज्य मौर्य्य-साम्राज्य के अधीन था। पेनार नदी अशोक के साम्राज्य की दक्षिणी सीमा समझी जा सकती है। भारत के सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य और मलाबार के किनारे पर केरलपुत्र और सत्यपुत्र नाम के राज्य स्वतन्त्र थे, पर उनके राजाओं का अशोक से घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध अवश्य था। अशोक के साम्राज्य में अनेक सामन्त राजा अवश्य होंगे, जो अपने-अपने राज्यों में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे, परन्तु उन्हें चक्रवर्ती सम्राट् का प्रभुत्व किसी न किसी प्रकार से मानना पड़ता था। सारांश यह है कि सारे भारतवर्ष पर अशोक की विश्वतोमुखी प्रभुता स्थापित थी।

इतिहास में पहली बार अशोक के समय में हिन्दूकुश से लेकर सिंहल पर्यन्त समस्त भारतवर्ष हमें एक अखण्ड साम्राज्य के रूप में सङ्गठित हुआ दृष्टिगत होता है। अशोक के उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसके विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक राज्य थे जिनका शासन उसके सामन्त राजाओं के अधीन था। अशोक का पूर्ण शासन केवल 'विजित' देशों पर था जिनकी मुख्य-मुख्य राजधानियाँ क्रम से पश्चिमोत्तर में तक्षशिला, पूर्व में पाटलिपुत्र, पश्चिम में उज्जयिनी, कलिङ्ग में तोसली (धौली) और दक्षिण में सुवर्णगिरि थीं। सीमान्त देशों के निवासियों को, जिन पर विजय नहीं की गई थी, सम्राट् अशोक ने यह आश्वासन दिया था कि 'वे उससे भयभीत न हों किन्तु उस पर विश्वास करें कि उसके द्वारा उन्हें सन्ताप नहीं बल्कि उनका मङ्गल ही होगा'।* असभ्य जातियों पर उसकी कृपा-दृष्टि बनी रहती थी। चोल, पाण्ड्य, केरल, सिंहल और पाश्चात्य यवनों के प्रत्यन्त (स्वाधीन) राष्ट्रों के साथ अशोक का घनिष्ठ मैत्री का सम्बन्ध था, जिन पर उसने, विश्व-बन्धुत्व के नाते से, यथाशक्ति उपकारों की वर्षा की थी।†

सम्राट् अशोक के धार्मिक सिद्धान्त

(१) अहिंसा—बौद्ध-धर्म के स्वीकार करने के पूर्व अशोक को प्राणि-वध करने में कुछ भी सङ्कोच न होता था। उत्सवों पर सहस्रों प्राणियों का, मांस के लिए, वध किया जाता था। अशोक ने अपने राज्य में जीव-हिंसा का निषेध किया और यह घोषणा की कि जीवों को मारकर होम न करना चाहिए और न ऐसी गोष्ठी होनी चाहिए जहाँ खाने के लिए हिंसा की जाती हो। उसने अपनी पाकशाला में, जहाँ प्रतिदिन हज़ारों जीव भोजनार्थ मारे जाते थे, अन्यान्य अनेक जीवों का वध रोककर केवल दो मोर और एक हिरन मारने की

* कलिङ्ग शि० ले० २।

† शि० ले० १३।

आज्ञा दी। इतना ही नहीं, उसने पीछे से उन्हें भी जीवदान देने की इच्छा प्रकट की।*

(२) **मृगया तथा विहार-यात्रा का निषेध**—अहिंसा के भाव से प्रेरित होकर अशोक ने शिकार खेलने की प्रथा भी बन्द कर दी थी। उसके आठवें शिलालेख में लिखा है कि पूर्वकाल में राजा लोग विहार-यात्रा के लिए निकलते थे जिनमें शिकार और अनेक प्रकार के बड़े आमोद-प्रमोद हुआ करते थे, किन्तु उसने विहार-यात्रा के स्थान पर धर्म-यात्रा की प्रथा चलाई। ब्राह्मणों, श्रमणों और वृद्धों का दर्शन करना, उन्हें सुवर्ण-दान देना, ग्रामों में जाकर जनता को देखना और उन्हें कल्याण-मार्ग का उपदेश करना तथा धर्म के विषय में परस्पर मिलकर विचार करना ये सब पुण्य कार्य अशोक के मतानुसार धर्म-यात्राओं में करने चाहिएँ। प्रियदर्शी राजा ने अपने राज्याभिषेक के १० वर्ष बाद पूर्वोक्त धर्म-यात्रा महाबोधि अर्थात् गया से प्रारम्भ की थी। पशुओं को मारकर यज्ञ करने की राज्य भर में मनाही कर दी गई थी। नियत तिथियों में सब प्रकार की हिंसा रोक दी गई। बैलों को आंकने, जङ्गलों में आग लगाने तथा जीव-हिंसा से सम्बन्ध रखनेवाले बहुधा सब काम बन्द कर दिये गये थे।

(३) **गुरु जनों की सेवा-शुश्रूषा**—अशोक ने अपनी प्रजा में माता-पिता की सेवा करने, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण तथा श्रमणों का सम्मान करने की भावनाओं का प्रचार किया था। बड़ों को अपने से छोटों, सेवकों, भृत्यों तथा अन्य प्राणियों के साथ दया का बर्त्ताव करना चाहिए, यह अशोक का आदेश था। अहिंसा, बड़ों का आदर और सत्य भाषण—ये तीनों गुण अशोक के 'धम्म' के निष्कर्ष हैं। "**सत्यं वद, धर्मं चर, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य्यदेवो भव**" इत्यादि उपनिषद् के उपदेश की ध्वनि अशोक के वचनों में से निकलती है।

---

* हिदा ना किछि जिवे आलभितु पजोहितविये········

दुवे मजुला एके मिगे। एतानि पि च तिनि पानानि नो आलभियिसंति।

शि० ले० १।

(४) **धार्मिक सहिष्णुता**—अशोक अपने से भिन्न धर्मवालों का दान-मान के द्वारा आदर किया करता था। वह केवल अपने ही धर्मवालों का पक्षपात न करता था। परधर्म-निन्दा से वह घृणा करता था। सब सम्प्रदायों की '**सारवृद्धि**' हो, यही उसे अभीष्ट था। अशोक को लेशभर धार्मिक आग्रह नहीं था। ब्राह्मण और श्रमण दोनों को वह आदर की दृष्टि से देखता था। धर्म-यात्रा में दोनों का दर्शन करता और दोनों को दान देता था। धर्म-सहिष्णुता की अमूल्य शिक्षा अशोक ने १२ वें शिलालेख में बड़े ही ओजस्वी और गम्भीर शब्दों में दी है। उसका कहना है कि सच्ची धर्मोन्नति—'सारवृद्धि'—का मूल 'वाक्संयम' है। अपने धर्म की स्तुति और दूसरे के धर्म की निन्दा न करे। जो अपने पंथ की भक्ति से अपने ही धर्मवालों की प्रशंसा करता है और अन्य धर्मानुयायियों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। वह अपने धर्म को क्षीण और पर-धर्म का अपकार करता है। इसलिए आपस का मेल-मिलाप—'समवाय'—ही अच्छा है कि लोग एक दूसरे के धर्म को सुनें और उसकी शुश्रूषा करें। सब धर्मवाले 'बहुश्रुत' हों और उनका ज्ञान कल्याणमय हो। 'प्रियदर्शी' राजा चाहता है कि "सब धर्मवाले सर्वत्र मेल-मिलाप से रहें, वे सभी संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। मनुष्यों के ऊँच-नीच विचार और ऊँच-नीच अनुराग होते हैं। कोई अपने धर्म का पूरी तरह और कोई अंशमात्र पालन करेंगे। जिसके यहाँ देने को बहुत दान नहीं है उसमें भी संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति तो अवश्य हो सकती है"।* इन उपर्युक्त अवतरणों से अशोक की उदारमनस्कता, उसके सच्चे धर्म-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व का विशद परिचय मिलता है। उसके विचार सङ्कीर्ण और साम्प्रदायिक

---

* (१) 'सव पासंडानं सारवढी'
(२) इदं मूलं वचिगुति
(३) 'समवायो एव साधु'
(४) सव पाषंडा बहुश्रुता च कलाणागमा

} शि० ले० १२

न थे। बौद्ध होते हुए भी वह बौद्धों पर पक्षपात न करता था। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन आदि सभी उसके दान-मान के पात्र थे। आजीवक नाम के जैन साधुओं के निवास के लिए उसने गया के समीप बाराबर पहाड़ी में सुन्दर गुफाएँ बनवाई थीं। वह अवश्य 'बहुश्रुत' होगा, क्योंकि वह सत्य की अनन्तता और गहनता को समझता था। वह मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलता और अल्पज्ञता को बड़ी सहानुभूति-पूर्ण दृष्टि से देखता था। यह अशोक के उपदेश का ही फल है कि भारत में धार्मिक झगड़े बहुत कम हुए हैं और विचार-स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ है।

(५) धर्म-दान—अशोक ने साधारण दान की महिमा कहकर सब दानों में धर्म-दान को ही श्रेष्ठ बतलाया। माता-पिता की शुश्रूषा करना, गुरुजनों का सम्मान करना, दास और भृत्यों के साथ सद्व्यवहार करना, अहिंसा और सत्य का पालन करना, यह सब कल्याण का एकमात्र साधन है। ऐसे 'धर्म-दान' से यह लोक सुधरता है और परत्र अनन्त पुण्य होता है। अशोक ने अपनी धर्मलिपियों में धर्म की अकथनीय महिमा बतलाई है। सच्चा अनुष्ठान धर्म का अनुष्ठान है, सच्ची यात्रा धर्म-यात्रा है। सच्चा मङ्गलाचार धर्म-मङ्गल है। धर्म-विजय से बढ़कर कोई विजय नहीं है।

(६) धर्म-मङ्गल—अशोक साधारण लोकाचार की परवा न करता था। 'बीमारी में, निमन्त्रण में, विवाह में, पुत्र-जन्म और यात्रा के प्रसङ्गों पर स्त्री-पुरुष बहुत से मङ्गल-कार्य करते हैं, परन्तु ये मङ्गल थोड़े फल के देनेवाले होते हैं'। अशोक के समय में बच्चों की माताएँ अधिक टोना, जादू, पूजा, पुजापा किया करती थीं। बीमारी आदि के टोटके, शकुन, यात्रा, बलि, मनौती आदि का फल सन्दिग्ध है।* किन्तु अहिंसा, दया,

---

(५) अशोक की धर्मलिपियाँ—का० ना० प्र० स० पृ० ७६

* शि० ले० ९

दान, गुरुजनों की पूजा इत्यादि धर्म के मङ्गल-कार्य्य अनन्त पुण्य उत्पन्न करते हैं।*

(७) सत्कीर्ति—अशोक का उपदेश है कि ऐहिक कीर्ति परलोक में काम नहीं आती। जो सत्कीर्ति चाहते हैं वे मेरे धर्म-सन्देश को सुनें और मेरे धर्म व्रत का अनुकरण करें। प्रियदर्शी का सारा पराक्रम परलोक के सुख के लिए है, क्योंकि इससे सभी अधोगति से बच सकते हैं। यह अधोगति ही पाप है। किन्तु बिना प्रबल उद्योग के छोटे या बड़े आदमी द्वारा यह कार्य सम्पन्न होना अत्यन्त दुष्कर है।

(८) दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता, साधुत्व, अहिंसा, मैत्री, मातृ-पितृ-शुश्रूषा, गुरु-पूजा, ब्राह्मण-श्रमणों के प्रति आदर, दास और भृत्य के प्रति सद्व्यवहार, अल्पव्ययता, अल्पभाण्डता (परिमित अर्थ संग्रह)—इन समस्त सात्त्विक गुणों का सन्निवेश अशोक ने 'धम्म' शब्द में किया था।† उसका कथन है कि धर्म की वृद्धि केवल धर्म के नियम बनाने से नहीं हो सकती, किन्तु जब मनुष्य अपने गुण-दोषों पर विचार 'प्रत्यवेक्षण' करना सीख लेते हैं तभी उनका धार्मिक अभ्युदय होना संभव है।

अशोक के उक्त धार्मिक विचारों की आलोचना से स्पष्ट सिद्ध है कि उसने अपने लेखों द्वारा किसी विशेष धर्म की शिक्षा लोक को नहीं दी। अशोक का 'धर्म' बौद्धधर्म नहीं है—वह आर्यों की सामान्य सम्पत्ति है। उसके धार्मिक विचार सभी सम्प्रदायों को मान्य थे।

आदर्श राजा—अशोक बड़ा परिश्रमी था। राज्य के कार्य-सञ्चालन में वह सदा संलग्न रहता था। प्रजा का तन-मन-धन से उपकार करना उसने

---

* तुलना कीजिए—

"आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था: सत्योदका: शीलतटा दयोर्मि:।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा" ॥

—महाभारत।

† "अद्रोहेणैव भूतानां स्वल्पद्रोहेण वा पुनः।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले" ॥—महाभारत।

अपना ध्येय मान रखा था। वह अपने आपको लोक का ऋणी समझता था। 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक-अधिकारी' यही उसकी निरन्तर भावना रहती थी। प्रजा के पाप-पुण्य का राजा भागी होता है यह प्राचीन हिन्दू राजधर्म का आदर्श उसके मन में घर कर बैठा था।* प्रजा के केवल 'रक्षण' और 'भरण' मात्र से राजा का कर्तव्य समाप्त नहीं होता, किन्तु प्रजा के 'विनयाधान' के लिए उसे तन-मन-धन से सतत श्रम करना चाहिए,† यह उसकी राजनीति का ज्वलन्त आदर्श था। बौद्ध-धर्म को सार्वभौम बनाने के प्रयत्न के साथ-साथ उसे राज्य-कार्य की चिन्ता निरन्तर बनी रहती थी।‡ छठे शिलालेख में उसने अपने राज-धर्म के उच्च आदर्श की घोषणा निम्नलिखित शब्दों में की है—"मैंने यह प्रबन्ध किया है कि सब समय में, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तःपुर में रहूँ या शयनागार में रहूँ, चाहे उद्यान में रहूँ—सर्वत्र ही—प्रतिवेदक (पेशकार) प्रजा के कार्य की मुझे सूचना दें।§ मैं प्रजा के कार्य सब जगह करूँगा। यदि मैं स्वयं आज्ञा दूँ कि अमुक काम किया जाय और महामात्रों में उस विषय में कोई मतभेद उपस्थित हो अथवा मन्त्रि-परिषद् उसे स्वीकार न करे तो हर घड़ी और हर जगह मुझे सूचना दी जाय, क्योंकि मैं कितना ही परिश्रम करूँ और कितना ही राजकाज करूँ तथापि मुझे पूर्ण सन्तोष नहीं होता। सर्वलोक के हित-साधन से बढ़कर और कोई परम कर्तव्य नहीं है। मैं जो कुछ पराक्रम|| करता हूँ वह

---

* प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां च प्रियं हितम्॥ कौटिल्य, पृ० १९

† प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ कालिदास, रघुवंश।

‡ विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथ्वी भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥ कौटिल्य।

§ अशोक की धर्मलिपियाँ (का० ना० प्र० स०) पृ० ७०।

|| राज्ञो हि व्रतमुत्थानम्—कौटिल्य।

इसलिए कि प्राणियों के प्रति जो मेरा ऋण है उससे उऋण होऊँ और यहाँ कुछ लोगों को सुखी करूँ तथा परलोक में उन्हें स्वर्ग का अधिकारी बनाऊँ। यह धर्म-लेख चिर-स्थित रहे और मेरे स्त्री, पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र लोकहित के लिए पराक्रम करें। अत्यधिक पराक्रम के बिना यह कार्य कठिन है।" कलिङ्ग की घोषणाओं में भी अशोक ने यही कहा है कि—"सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों का हित और सुख चाहता हूँ उसी प्रकार मैं लोक के ऐहिक और पारलौकिक हित और सुख की कामना करता हूँ।" "सीमान्त जातियाँ मुझसे न डरें, मुझ पर विश्वास करें और मेरे द्वारा सुख प्राप्त करें, कभी दुःख न पावें और विश्वास रखें कि जहाँ तक क्षमा का व्यवहार हो सकता है वहाँ तक राजा हम लोगों के साथ क्षमा का बर्ताव करेंगे।" चौथे स्तम्भलेख में अशोक का तीसरा घोषणा-पत्र है जिसमें लिखा है कि 'जिस प्रकार कोई मनुष्य अपनी सन्तान को निपुण धाई के हाथ में सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है और विचारता है कि यह धाई मेरे बालक को सुख देने की भरपूर चेष्टा करेगी, उसी प्रकार प्रजा के हित और सुख के सम्पादनार्थ मैंने रज्जुक नाम के कर्मचारी नियत किये हैं।' जैसे वृक्ष सूर्य्य के तीक्ष्ण ताप को सहन कर, अपनी छाया में विश्राम करनेवाले प्राणियों का परिताप शान्त करता है, वैसे ही राजर्षि अशोक अपने सुख की अभिलाषा छोड़कर, प्रजा के लिए खिन्न और अशान्त रहकर, उसके हित-सम्पादन में सदा संलग्न रहता था।*

अशोक की राजनीति—कलिङ्ग के शिलालेखों से प्रकट होता है कि अशोक दूरवर्ती प्रान्तों के शासकों को प्रजा का हितचिन्तन करते रहने के लिए सदा आदेश करता रहता था। शासकों को उसका यह आदेश था कि अत्यन्त

---

* स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥ कालिदास, शाकुन्तल, अङ्क ५।

कठोरता और अत्यन्त दया त्यागकर उन्हें मध्य-पथ (न्याय-पथ) के अवलम्बन करने की चेष्टा करनी चाहिए और ऐसे दोषों से बचना चाहिए जिनके कारण सफलता नहीं होती; जैसे ईर्ष्या, अकर्मण्यता, निष्ठुरता, त्वरा, आलस्य, तन्द्रा। राज्य के उच्च पदाधिकारियों पर अशोक अपना पूर्ण अंकुश रखता था। प्रत्येक पाँचवें वर्ष अशोक के महामात्य कलिङ्ग प्रान्त में तथा तक्षशिला और उज्जयिनी से प्रत्येक तीसरे वर्ष प्रान्तिक शासनों की देख-भाल के लिए भेजे जाते थे। अशोक ने अपने राज्याभिषेक के १२वें वर्ष में यह आज्ञा दी कि सारे राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति ५वें वर्ष जैसे शासन-सम्बन्धी कार्य्यों के लिए दौरा—'अनुसंयान'—करते हैं वैसे धर्मानुशासन के लिए भी दौरा करें।* अशोक ने 'विहार-यात्रा' को त्यागकर 'धर्म-यात्रा' करने की प्रथा इस उद्देश से चलाई थी कि वह अपने राज्य की प्रजा से स्वयं मिले और उन्हें और उनकी दशा को देखे।‡ अशोक में जैसा उत्कट धर्मानुराग था वैसा ही प्रजावात्सल्य था।

अशोक की शासन-पद्धति—अशोक के सार्वजनिक कार्यों का पहले वर्णन किया जा चुका है। उसने प्रजा के आराम और सुख के लिए सड़कों पर कुएँ खुदवाये, पेड़ लगवाये, चिकित्सालय स्थापित किये और ओषधियों के उद्यान आरोपित किये। उसने धर्म के उपदेश और अहिंसा के नियम स्थल-स्थल पर शिलाओं और स्तम्भों पर अङ्कित करवाये। अशोक ने चन्द्रगुप्त के दण्ड-विधान की कठोरता को हल्का कर दिया और फाँसी की सज़ा से अपराधी को मुक्त करने या उस सज़ा को कम करने का अधिकार धर्म-महामात्रों को दे दिया। अशोक की शासन-प्रणाली में कुछ अधिक फेर-फार न हुआ। अशोक के राजदूत दूरवर्ती यवन-राज्यों में भेजे गये थे। उच्च श्रेणी के पदाधिकारी 'महामात्र' कहलाते थे। नीचे वर्ग के कर्मचारी 'युक्त' कहे जाते थे। प्रान्त के सब से

---

* धौली का शिलालेख

† शिलालेख, ३

‡ "जानपदस जनस दसनं"—शि० ले० ८, गिरनार

ऊँचे अफ़सर, जो लाखों मनुष्यों पर शासन के लिए नियत थे, 'राजुक' कहलाते थे। 'प्रादेशिक' भूमिकर और न्याय-विभाग के बड़े अफ़सर थे। अशोक ने इन्हीं पदाधिकारियों के नाम अनेक शासन निकाले थे और उन्हें उपदेश किया था कि वे प्रजा के प्रति मृदुता, सहनशीलता और उपकार-बुद्धि से व्यवहार करें। ये पदाधिकारी नियम से दौरे पर जाया करते थे। दौरे की प्रथा 'अनुसंयान' कहलाती थी। अशोक ने विशेष रूप से एक धर्म-विभाग स्थापित किया था। इसके उच्च पदाधिकारी 'धर्म-महामात्र' कहलाते थे। 'प्रतिवेदक' राजा को प्रजा के समाचार सुनाते और राज-कार्यों को उसके सामने पेश करते थे। 'परिषद्' का भी उल्लेख अशोक के शिलालेखों में पाया जाता है जो सम्भवतः मन्त्रि-परिषद् हो सकती है, जिसका कौटिल्य ने वर्णन किया है।

पांथशालाएँ—अशोक ने सड़कों पर मनुष्यों और पशुओं को छाया देने के लिए बरगद के पेड़ लगवाये, आम्र-वाटिकाएँ बनवाईं, आध-आध कोस पर कुएँ खुदवाये, धर्मशालाएँ बनवाईं और जहाँ-तहाँ मनुष्यों और पशुओं के लिए पानी के कुण्ड बनवाये। अशोक ने यह सारी व्यवस्था इस उद्देश्य से की कि लोग धर्म के अनुसार आचरण करें और परोपकार तथा पुण्य कार्यों में जीवन व्यतीत करें।* काठियावाड़ में गिरनार के रुद्रदामा के शिलालेख में उल्लेख है कि अशोक मौर्य के आदेश से यवन-राजा तुषास्फ ने सुदर्शन नामक झील से कृषकों के उपयोगार्थ नहरें निकाली थीं।† अशोक ने स्तम्भ, स्तूप, विहार और गुफा-मन्दिर सहस्रों की संख्या में बनवाये थे। ये सारे सार्वजनिक कार्य उसकी परोपकार-परायणता सूचित करते हैं।

---

* स्तम्भ-लेख ७

† 'अशोकस्य मौर्यस्य कृते यवनराजेन तुषास्फेनाधिष्ठाय प्रणालीभिरलङ्कृतम्'
एपि० इं० जिल्द ८ पृ० ४७।

चिकित्सालय तथा औषधालय—अशोक ने रोगी मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल स्थापित किये थे।* अपने सारे राज्य में ही नहीं, किन्तु दूर-दूर के चोड़, पाण्ड्य, सिंहल आदि सीमान्त प्रदेशों में और अन्तियोक आदि यवन राजाओं के देशों में उसने दोनों प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया था। जहां-जहां ओषधियां और कन्द-मूल-फल नहीं थे वहाँ-वहां वे भिजवाये और लगवाये गये। जीव-दया, विश्वबन्धुत्व और लोक-सेवा का राजर्षि अशोक कैसा अनुपम आदर्श था! वह समदर्शी था। उसका हृदय मानवी समवेदना के भाव से भरा था। जाति-भेद, वर्ण-भेद, देश-भेद तथा साम्प्रदायिक भेद उसके दया, दान और लोक-हित के कार्य्यों में कभी बाधक न होते थे। जो-जो लोक-हित के कार्य्य उसने किये उन सबको 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस ध्येय पर लक्ष्य रखकर उसने किये।

धर्म महामात्र—अशोक ने राज्य के तेरहवें वर्ष में धर्म-महामात्रों को नियत किया था। उसने लिखा है कि वे सारी प्रजा के हित और सुख के लिए नियत किये गये हैं। उन्हें दूर-दूर के सीमा-प्रान्त के देशों में, सब सम्प्रदायों में, भृत्यों, आर्यों, अनाथों और वृद्धों में जाकर उनका हित और उन्हें धर्मोपदेश करना चाहिए। वे राज्य में जहाँ कहीं अनुचित बन्धन वा वध की आज्ञा होती पावें वहाँ रुकवा दें, बदलवा दें और जहाँ उचित हो उन्हें छुड़ा दें। वे यह भी ध्यान रखें कि ऐसा दण्डनीय व्यक्ति कहीं बहुत सन्तानवाला, आपत्ति का मारा या बूढ़ा तो नहीं है। वे मेरे और मेरे भाई, बहिन और सम्बन्धियों के अन्तःपुर का निरीक्षण करें और सर्वत्र धर्म और दान के कार्यों की देख-रेख रखें। इन पूर्वोक्त अधिकारों को देकर अशोक ने धर्म-महामात्रों को नियत किया था।†

---

* शि० ले० २—"द्वे चिकीछे कता मनुसचिकीछा च पसुचिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि च रोपापितानि च। मूलानि च फलानि च यत यत नास्ति सर्वत्र हारापितानि रोपापितानि च पंथेसु कूपा च खानापितानि व्रछा च रोपापिता परिभोगाय पसुमनुसानम्।"

† अशोक की धर्मलिपियाँ (का० ना० प्र० स०) संख्या ५, पृ० ५०—५२।

अशोक का तीर्थाटन—अशोक अपने गुरुदेव **उपगुप्त** का आदेश पाकर ई० पू० २४६ में तीर्थ-यात्रा के लिए अपने राज्याभिषेक के २० वें वर्ष में प्रस्थित हुआ। वह नेपाल की तराई में **लुंबिनी वन** में पहुँचा, जहाँ बुद्ध का जन्म हुआ था। वहाँ उसने अपनी यात्रा के उपलक्ष में एक स्तम्भ स्थापित किया, जिस पर लिखा है कि **"यहाँ भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था"**।* वहाँ से कपिलवस्तु, सारनाथ, श्रावस्ती, गया और कुशीनगर में होकर अशोक ने अपनी तीर्थ-यात्रा पूरी की।

पाटलिपुत्र में बौद्ध-महासभा—अशोक के राज्य-काल के अन्तिम चरण में एक बौद्ध महासभा का अधिवेशन पाटलिपुत्र में हुआ था, इस विषय की अनेक कथाएँ बौद्ध-ग्रन्थों में पाई जाती हैं। पर इस महासभा का उल्लेख किसी भी शिलालेख में नहीं है। कदाचित् साँची और सारनाथ के स्तम्भ-लेख इस महासभा के बाद प्रकाशित हुए हों, जिनका यह आशय है कि जो भिक्षुणी या भिक्षु संघ में फूट डालेगा वह संघ से बहिष्कृत किया जायगा।

अशोक के बौद्ध-धर्मावलम्बी होने का प्रमाण उसके मुख्य-मुख्य शिलालेखों से नहीं मिलता। उनमें जिस धर्म के स्वरूप का निरूपण किया गया है वह तो उस समय भारत के सभी सम्प्रदायों को मान्य था। परन्तु अशोक के उत्कीर्ण लेखों में भाब्रु का शिलालेख बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इससे अशोक का बौद्ध-धर्मावलम्बी होना प्रमाणित होता है। इसमें बौद्ध-धर्म में 'त्रिरत्न'—बुद्ध, धर्म और संघ—तथा बौद्ध-ग्रन्थों के सात प्रसङ्गों का उल्लेख है, जो अशोक को बहुत प्रिय थे।† जान पड़ता है कि अशोक राज-काज से अवकाश पाकर कुछ समय के लिए भिक्षु-संघ में जाकर रहता था। चीनी-यात्री ईत्सिङ्ग ने भिक्षु के वेष में निर्माण की हुई अशोक की एक प्राचीन मूर्ति को देखा था।

---

* हिद बुधे जाते साक्यमुनिति
हिद भगवं जातेति लुमिनिगामे।—लुम्बिनी-स्तम्भ-लेख।

† 'भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते'
भाब्रु-शिलालेख।

अशोक का चरित्र—जगत् के इतिहास में अनेक प्रतापशाली राजा हुए हैं, किन्तु अशोक के सदृश कोई नहीं हुआ। बौद्ध-साहित्य में अशोक को '**धर्माशोक**' कहा जाता है। अशोक ने इस नाम को चरितार्थ किया, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। आधुनिक विद्वानों ने अशोक की तुलना इतिहास के अन्य प्रतापी राजाओं से की है, किन्तु उन्हें यह मानना पड़ा है कि अशोक का चरित्र नितान्त अनूठा है और उसका नाम प्रतापी सम्राटों की ही नहीं, किन्तु धर्मधुरीण महात्माओं की नामावली में अग्रगण्य है। निःसन्देह संसार के इतिहास में वह सबसे बड़ा धर्म-प्रचारक, परोपकार-परायण और प्रजावत्सल सम्राट् था। उसमें न केवल राजोचित नीति-पटुता एवं बुद्धिमत्ता थी किन्तु महात्माओं की सी पवित्रता और धर्मनिष्ठता कूट-कूटकर भरी हुई थी। भारत के नर-रत्नों के गणना-प्रसङ्ग में बुद्धदेव के अनन्तर अशोक का ही नाम लिया जा सकता है।

अशोक की तुलना जगत् के प्रसिद्ध सम्राटों के साथ की जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि अशोक रोम के सम्राट् कांस्टेंटाइन (Constantine) के सदृश था। अशोक बौद्ध-धर्म का महान् संरक्षक था और कांस्टेंटाइन ईसाई धर्म का। किन्तु कांस्टेंटाइन ने तो ईसा के धर्म को उस समय अपनाया था जब उसका खूब प्रचार हो चुका था, परन्तु अशोक ने बौद्ध-धर्म को ऐसी दशा में अपनाया तथा उन्नत किया था जब कि उस धर्म का प्रभाव अत्यन्त सङ्कीर्ण प्रदेश में मर्यादित था। अशोक बौद्ध-धर्म का केवल आश्रय-दाता ही न था बल्कि उसके सिद्धान्तों का सच्चा अनुयायी था। अहिंसा, मैत्री और लोक-सेवा के उत्तम आदर्शों को अपने व्यक्तिगत और राजनीतिक जीवन में चरितार्थ करने का उसने सतत यत्न किया था। कांस्टेंटाइन में ये सब गुण इतनी अधिक मात्रा में न थे। अशोक की तुलना रोम के सम्राट **मार्कस ओरिलियस** (Marcus Aurelius) से की गई है। वास्तव में अशोक की अपेक्षा मार्कस ओरिलियस अधिक प्रगल्भ तत्त्वचिन्तक था, किन्तु परमोत्तम आदर्शों को लक्ष्य में रखकर जिस महान् उत्साह, शक्ति और त्याग से अशोक ने उनका अनुसरण किया उन गुणों का शतांश भी मार्कस ओरिलि-

यस में न था। मार्कस ओरिलियस अपनी जाति और देश का अभिमानी था। उसने ईसाइयों पर अत्याचार किये थे। किन्तु अशोक जाति, देश और कुल का अभिमानी न था, बल्कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इस ध्येय को सामने रख उसने सदा सभी के ऐहिक और पारत्रिक कल्याण के लिए उद्योग किया था। अशोक का सादृश्य अकबर बादशाह से बतलाया जाता है। अकबर सचमुच पर-धर्म-सहिष्णु और तत्त्वान्वेषक था; किन्तु न तो वह त्यागी था, न तपस्वी। वह सांसारिक विषयों में लिप्त था। उसने अपना धर्म—'दीन इलाही'—यश और आत्म-गौरव पाने की इच्छा से चलाया था। अशोक उससे कहीं बड़ा धर्मात्मा था। निःसन्देह सिकन्दर, सीज़र और नेपोलियन आदि बड़े वीर और विजयी सम्राट् थे, परन्तु अशोक से उनकी भी तुलना नहीं की जा सकती। अपनी सारी प्रजा के और जगत् के प्राणियों के हित-साधन की जैसी चेष्टा अशोक ने की वैसी इनमें किसी से न बन पड़ी। महाशय एच० जी० वेल्स का कहना है कि इतिहास के पृष्ठों में भरे हुए हज़ारों सम्राटों और महाप्रतापी चक्रवर्तियों के नामों में अशोक का नाम, एकाकी देदीप्यमान तारे के सदृश, अपनी अपूर्व ज्योति से जगमगाता है।*

अशोक की मृत्यु—राजर्षि अशोक ने लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया और ई० पू० २३२ में अपनी जीवन-लीला संवरण की। अशोक का उत्तराधिकारी उसका पुत्र **कुनाल** हुआ। काश्मीर की कथाओं में अशोक के एक पुत्र का नाम **जलौक** मिलता है। सम्भवतः उसने काश्मीर पर अधिकार कर लिया हो। कुनाल के पीछे उसका पुत्र **दशरथ** राजा हुआ।

दशरथ के शिलालेख गया के निकट नागार्जुनी गुफा में खुदे हुए हैं। ये गुफाएँ आजीवकों को दे दी गई थीं। इस सम्प्रदाय के साधु नग्न और

---

*"Amidst the tens and thousands of names of monarchs, that crowd the columns of History, Their Majesties and Graciousnesses and Serenities and Royal Highnesses and the like, the name of Asoka shines, and shines almost alone a star."—H. G. Well's—Outline of History.

एकान्त में रहते थे। कुछ विद्वान् इन्हें वैष्णव और कुछ इन्हें जैन साधु बतलाते हैं। जैन ग्रन्थों में अशोक के पौत्र का नाम **सम्प्रति** मिलता है। इससे अनुमान होता है कि मौर्य-साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों पर दशरथ और पश्चिमी प्रान्तों पर सम्प्रति का अधिकार रहा होगा। सम्प्रति जैन-धर्म का संरक्षक था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। कहा जाता है कि उसने अनेक जैन मन्दिर और विहार बनवाये थे।

मौर्य-वंश की राज्यावधि—पुराणों में मौर्य-वंश का राज्य-काल १३७ वर्ष लिखा है। यदि चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक ई० स० ३२२ वर्ष पूर्व माना जाय तो इस वंश की समाप्ति ई० स० १८५ वर्ष पूर्व हुई। पुराणों के अनुसार दशरथ के बाद **इन्द्रपालित, सोमशर्मा, शतधन्वा** और **बृहद्रथ** मगध के राजा हुए। बृहद्रथ मौर्य-वंश का अन्तिम राजा था जिसे उसके ब्राह्मण सेनापति ने मार डाला था। 'सेना के दिखाने के बहाने से नीच सेनापति पुष्यमित्र ने प्रतिज्ञा में दुर्बल अपने स्वामी बृहद्रथ को मार डाला,' महाकवि बाण ने इन शब्दों में इस घटना का उल्लेख अपने 'हर्षचरित' में किया है जो पुराणों के कथन की पुष्टि करता है।

मौर्यकालीन कला का महत्त्व—मौर्य-वंश की छत्रच्छाया में सुरक्षित रहकर भारतवासियों ने विद्या, कला और उद्योग-धन्धों में अपूर्व उन्नति की थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि देश में राजनीतिक शान्ति और सुप्रबन्ध के रहने पर ही लोग विद्या, कला और विज्ञान के क्षेत्रों में उन्नति कर पाते हैं। कवि, पण्डित और कला-चतुर पुरुषों की प्रतिभा राज्य के आश्रय के बिना प्रायः प्रस्फुट नहीं होती। 'शस्त्र-द्वारा रक्षित राष्ट्र में शास्त्र-चिन्ता प्रवृत्त होती है', इस उक्ति में परम तथ्य है।* सम्राट् अशोक का कीर्तनीय युग साहित्य और कला की उन्नति के लिए बहुत अनुकूल था। भारत में उस समय सर्वत्र शान्ति थी, सुप्रबन्ध के कारण प्रजा राष्ट्रीय जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उन्नति कर रही थी। उस समय के भग्नावशेषों के देखने से स्पष्ट प्रकट होता है कि भारतीय प्रजा का जीवन सुखमय और विभवपूर्ण था।

* 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र-चिन्ता प्रवर्तते'—हितोपदेश।

भारतीय कलाओं के इतिहास का श्रीगणेश—यूनानी इतिहासकारों ने अपने ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त मौर्य के पाटलिपुत्र के विशाल राजभवनों की सुन्दरता और सजावट की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वे सब नष्टप्राय हो गये और उनके बहुत कम अवशेष हमें मिले हैं। वस्तुतः भारतीय कलाओं का विशद इतिहास अशोक के समय से ही आरम्भ होता है। उस युग में हमारी शिल्प-कला उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में चीनी यात्री फ़ाहियान ने पाटलिपुत्र में अशोक के भव्य राजभवनों को देखकर बड़ा ही आश्चर्य प्रकट किया था। चीनी यात्रियों ने अशोक की बनवाई हुई अनेक कृतियों के उल्लेख किये हैं। उसने अपने साम्राज्य में, अनेक स्थलों में, स्तूपों, विहारों और स्तम्भों का निर्माण कराया था।* अशोक के पूर्व-युगों की भारतीय कला के अधिक अवशेष न मिलने के कारण हम उसके विकास-क्रम का ठीक-ठीक निदर्शन नहीं कर सकते।

सारनाथ का सिंह शीर्षक स्तम्भ—अशोक के बनवाये हुए स्तम्भ अधिक संख्या में मिलते हैं। इनमें से अनेक ऐसे भी मिले हैं जिन पर लेख खुदे हुए हैं। अशोक-कालीन कला का सर्वाङ्गसुन्दर नमूना काशी के समीप सारनाथ के स्तम्भ का 'सिंह-शीर्षक' है। इसमें चार सिंह एक दूसरे से पीठ में पीठ भिड़ा कर खड़े हैं। उन पर एक पत्थर का **'धर्मचक्र'** था जिसके कुछ टुकड़े सारनाथ के अजायबघर में रखे हैं। उस धर्मचक्र से सूचित होता है कि जहाँ वह स्तम्भ स्थापित किया गया था वहाँ बुद्ध ने अपने धर्म का पहले-पहल उपदेश किया और 'धर्मचक्र' का प्रचालन किया। स्तम्भ के शीर्ष पर इन सिंहों की आकृतियाँ इतनी सजीव और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सुन्दर हैं कि उस समय के शिल्पियों की कारीगरी को देखकर हमें अचरज होता है। ईरान और यूनान की कारीगरी के नमूनों से यह भारत की प्राचीन कला का विचित्र टुकड़ा कहीं बढ़कर है।† मौर्य शिल्पियों की रचनाएँ अत्यन्त सजीव

---

* 'स्तूपैर्विचित्रैर्गिरिश्रृङ्गकल्पैः'—दिव्यावदान।

† "These sculptures are masterpieces in point of both style and technique—the finest carving, indeed, that India
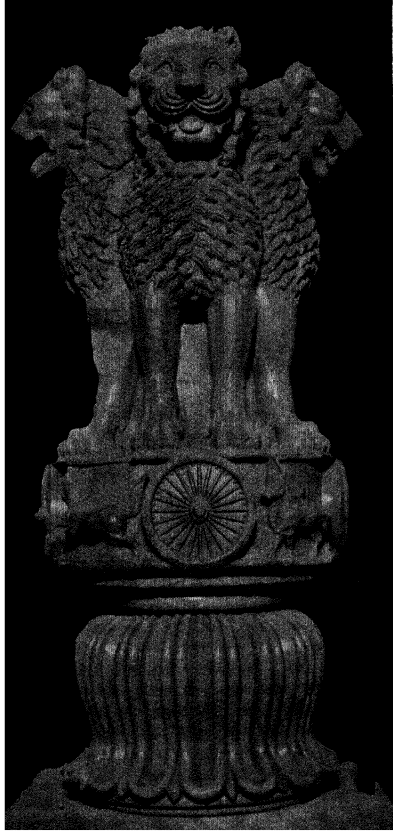
अशोक के सारनाथवाले स्तम्भ का सिंहाकृतियुक्त शीर्षक

और सर्वाङ्गसुन्दर होती थीं। उस समय के सङ्गतराशों की कारीगरी की जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी थोड़ी है।

अशोक के गुफा-मन्दिर—कड़े से कड़े पत्थरों पर वज्रलेप करने का हुनर उस समय इतना बढ़ा-चढ़ा था कि आज उसका अनुकरण करना भी असम्भव है। गया के समीप बाराबर की पहाड़ी में खोदी हुई गुफाओं की दीवारें वज्रलेप के कारण शीशे की तरह चमकती हैं। उन शिल्पियों ने दुर्भेद्य पत्थरों की एक ही शिला से काटकर चालीस से पचास फ़ुट लम्बे स्तम्भ सुचारु रूप से बनाये थे। उनकी छैनी की काट और तराश में कहीं भी कुछ त्रुटि नहीं मिलती। बाराबर पहाड़ी में खोदी हुई गुफा **लोमश ऋषि की गुफा** के नाम से प्रसिद्ध है। उस गुफा को अशोक ने आजीवक नाम के संन्यासियों को दान में दिया था। उसकी दीवार, छत और फ़र्श बिलकुल चिकने और साफ़ हैं और उन पर बहुत ही सुन्दर पालिश है। आगामी युगों में बनाये हुए सुन्दर गुफा-मन्दिरों की निर्माण-शैली का सम्राट् अशोक ने ही आविष्कार किया था।

दिल्ली का अशोक-स्तम्भ—अशोक का दिल्लीवाला स्तम्भ, जो 'फ़ीरोज़ की लाट' के नाम से प्रसिद्ध है, बढ़िया पालिश के कारण इतना चमकीला है कि दर्शक उसे धातु का बना समझते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में क्रेट टाम कोरियेट ने दिल्ली के स्तम्भ को पीतल का गढ़ा हुआ समझा और १९वीं सदी में बिशप हेबर को भी इसे देखकर ऐसा ही भ्रम हुआ। अशोक के समय की पत्थर की पच्चीकारी का काम बहुत साफ़-सुथरा है। उसके बहुत से शिला-लेख भी चारु रूप से खोदे हुए अक्षरों में लिखे गये हैं। डाक्टर स्पूनर का कथन है कि चन्द्रगुप्त के समय के कुम्रहार की लकड़ी के तख़्तों पर की गई तक्षकों की कारीगरी अत्यन्त सुन्दर है।

---

has yet produced, and unsurpassed, I venture to think, by anything of their kind in the ancient world."

Sir John Marshall
[A. S. R. 1904-5]

मौर्यकालीन यन्त्र-विज्ञान—मौर्य-युग के इञ्जीनियर भी अपने-अपने काम में बड़े निपुण थे। ऊँचे-ऊँचे स्तम्भों का निर्माण कराकर और दूर-दूर प्रदेशों में उन्हें ले जाकर स्थापित करना बड़े हुनर और साहस का काम था। इस बात का विचार करने पर आश्चर्य होता है कि किस प्रकार इतने ऊँचे और विशाल स्तम्भ बनाये और दूर-दूर ले जाये गये। इन स्तम्भों की दुर्भेद्य शिलाएँ चुनार की पहाड़ियों से खोदकर निकाली गई थीं और वहां से गढ़कर वे स्तम्भ सैकड़ों मील की दूरी पर लगाये गये थे। इन्हीं इञ्जीनियर लोगों के निरीक्षण में बड़े-बड़े स्तूप, बौद्ध-विहार, राज-प्रासाद, गिरनार के 'सुदर्शन' नाम के सरोवर से निकाली हुई नहरें, लम्बी-चौड़ी सड़कें, पान्थ-शालाएँ और चिकित्सालय बनाये गये थे। सांची और बरहुत के शिलाओं पर उत्कीर्ण चित्र, जो अशोक-युग के माने जाते हैं, तत्कालीन भारतीयों की जीवन-चर्या पर विशद प्रकाश डालते हैं। मौर्य युग का जीवन अपूर्व उत्साह, आनन्द, कर्मण्यता और आनन्द से भरपूर था। चतुर शिल्पियों ने पत्थरों पर सजीव चित्रों की रचना कर और अपनी कमनीय कला से उन्हें सजाकर हमें भारत के उस समय के रहन-सहन और धार्मिक विचारों का विशद परिचय दिया है।

शिक्षा-प्रचार—बौद्ध-धर्म के सार्वजनिक प्रचार एवं लोक की नीति-शिक्षा के उद्देश्य से सम्राट् अशोक ने, जहाँ जैसी भाषा बोली जाती थी और जहाँ जिस प्रकार की लिपि का उपयोग होता था, उनमें अपनी धर्म-लिपियाँ शिलाओं पर खुदवाकर प्रकाशित की थीं। इनसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि मौर्य-प्रजा में शिक्षा का प्रचार व्यापक था, अन्यथा वह अशोक की धर्म-लिपियों को कैसे समझ पाती! भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में मिले हुए अशोक के शिलालेखों की भाषा और उच्चारण जुदी-जुदी रीति के हैं। भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में, अशोक के समय में, खरोष्ठी लिपि का प्रचार था और अन्यत्र ब्राह्मी लिपि का उपयोग होता था। अशोक ने धर्म के सार्वजनिक प्रचार के लिए जहाँ जो बोली और जो लिपि अपेक्षित थीं उनका ही विवेकपूर्वक प्रयोग किया। अशोक सार्वजनिक शिक्षा का पक्षपाती
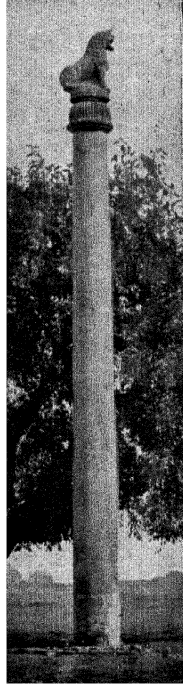
लौरिया नन्दनगढ़ का अशोक-स्तम्भ

था। धर्म के अनुशीलन और शिक्षा का सबको समान रूप से अधिकार है, वह यह मानता था। क्या महात्मा, क्या क्षुद्र मनुष्य सभी को उसने अपना सन्देश सुनाया था।* अतएव, सभी की शिक्षा का आयोजन उसने किया था। अशोक के समय में प्रजा साक्षर और शिक्षित थी और भाषा और लिपि का ज्ञान प्रायः सार्वदेशिक था। अशोक ने सारे शिलालेखों के स्थान भी चुन-चुनकर निश्चित किये थे। जहाँ लोग विशेष रूप से एकत्रित होते थे अथवा तीर्थयात्रा आदि के प्रसङ्ग से पहुँचते थे, उन्हीं स्थलों में अशोक के शिलालेख मिलते हैं। यदि भारतीय प्रजा अशोक के आदेशों और उपदेशों को न पढ़ सकती थी, तो स्तम्भों और शिलाओं पर स्थायी रूप में उनके खुदवाने में जो उसने राष्ट्र के विपुल धन का व्यय किया था, वह बिलकुल ही निष्फल था। मितव्ययी होना अशोक की नीति थी, किन्तु अपनी इस नीति के विरुद्ध उसने सोच समझकर इन कार्यों पर इतना द्रव्य खर्च किया इससे अनुमान होता है कि वह उन शिला-लेखों को लोकोपयोगी और धर्म-प्रचार के लिए आवश्यक मानता था। बौद्ध-संघ भी उस समय शिक्षा का खूब प्रचार करते थे। पढ़े-लिखे लोगों की प्रतिशत संख्या उस समय आजकल की अपेक्षा अधिक थी। **ब्राह्मी** लिपि, जिसमें ये लेख लिखे गये हैं, हमारी राष्ट्रीय लिपि थी जो बाईं ओर से दाहिनी ओर लिखी जाती है, किन्तु पश्चिमोत्तर प्रान्त में '**खरोष्ठी**' लिपि का प्रचार था जो दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। लेखों की भाषा में भी विभिन्न प्रान्तों के अनुसार अनेक प्रकार के शब्दों के भेद प्रायः दृष्टिगोचर होते हैं।

---

* (१) 'धमलिबि अत अथि सिलाथंभानि वा सिलाफलकानि वा तत कटविया एन एस चिलठितिके सिया।'—स्तम्भलेख ७।

(२) 'प्रक्रमस्य हि इदं फलम्। नहीदं शक्यं महात्मनैव प्राप्तुम्। कामं तु खलु क्षुद्रकेणापि प्रक्रममाणेन विपुलः स्वर्गः शक्य आराधयितुम्। ।एतस्मायर्थाय श्रावणं श्रावितम्। क्षुद्राश्च महात्मानश्चेमं प्रक्रमेरन्।' सिद्धपुर, गौण, शि० ले०।

[संस्कृत अनुवाद]

मौर्यकाल का साहित्य और लेख-शैली—अशोक के शिलालेखों की शैली ओजपूर्ण और सारगर्भित है। वह उपनिषदों की साहित्यिक शैली से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। कुछ लेख तो सम्राट् अशोक ने स्वयं प्रणयन कर लिखवाये होंगे, यह उनके पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है। इनमें उसके हृदय के सच्चे भावों का उद्गार और उसके ही स्वर की ध्वनि सुनाई पड़ती है। अशोक के प्रज्ञापनों की लेख-शैली का कौटिल्य के अर्थशास्त्र के उस प्रकरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसमें राजकीय शासन और लेख-शैली के नियम वर्णित किये गये हैं। नीति-वाक्यों का संग्रह जो '**चाणक्य-शतक**' के नाम से प्रथित है, कदाचित् चाणक्य ने मौर्य-काल मे बनाया हो। जर्मनी और भारत के संस्कृतज्ञ विद्वानों का कथन है कि कौटिल्य के **अर्थ-शास्त्र** की रचना भी मौर्य-युग में हुई। संस्कृत-साहित्य के किन-किन ग्रन्थों का प्रणयन इन शतकों में हुआ, यह जानना कठिन है। किन्तु मौर्य-काल में जब भारतीय सभ्यता उन्नति के शिखर पर विराजमान थी, उस समय संस्कृत-साहित्य की प्रगति रुक गई हो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। अर्थ-शास्त्र से पता चलता है कि उस समय की अध्येय विद्याओं में '**आन्वीक्षिकी**' (दर्शन-शास्त्र), **त्रयी** (वेद), **वार्ता** (अर्थशास्त्र) और **दण्ड-नीति** (राजनीति) मुख्य थीं। **सांख्य, योग** और **लोकायत** (प्रकृतिवाद) ये आन्वीक्षिकी के सम्प्रदाय थे। कौटिल्य के पूर्व हिन्दू राजनीति के अनेक विचारक हो चुके थे, जिनके विभिन्न सिद्धान्तों का कौटिल्य ने उल्लेख किया है। कौटिल्य ने लिखा है कि **पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र** और **अर्थशास्त्र**—ये विषय राजा को अवश्य श्रवण करने चाहिएँ। निःसन्देह, अशोक के समय तक साहित्य, कला और विज्ञान सभी प्रौढ़ अवस्था तक पहुँच चुके थे, यह अर्थशास्त्र, पतञ्जलि-कृत महाभाष्य और बौद्ध-ग्रन्थों से प्रमाणित होता है।

मौर्य-भारत पर ईरान का प्रभाव—सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व ईरान का भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर अधिकार स्थापित हुआ था। दोनों देशों में परस्पर सम्पर्क बहुत प्राचीन काल से रहता था। इससे

अनुमान किया जाता है कि निकटता के कारण ईरान के साम्राज्य का प्रभाव भारतवर्ष पर अवश्य पड़ा होगा। खरोष्ठी लिपि का प्रचार, जो दाहिनी ओर से बाईं ओर लिखी जाती है, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में बहुत काल तक रहा। ईरान में प्रान्तीय शासक की उपाधि 'क्षत्रप' हुआ करती थी, जिसका प्रयोग भारतवर्ष में भी चिरकाल तक होता रहा। अशोक ने ईरान के बादशाह डेरियस की भाँति अपनी धर्म-लिपियाँ और प्रज्ञापन चट्टानों पर खुदवाये थे। मौर्य-काल की शिल्प-कला में भी ईरान की शैली का अनुकरण पाया जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य की राज-सभा में कुछ ईरानी रीति-रवाज प्रचलित थे। ईरानियों की भाँति मौर्य राजा अग्नि-पूजक था और उसके अभिषेक के उपलक्ष में बड़ा उत्सव मनाया जाता था, जैसा कि ईरानी राजा अपनी वर्षगाँठ के उपलक्ष में किया करते थे। इन उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत पर ईरान के आचार-विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा था और ईरानी सभ्यता से हिन्दुओं ने बहुत सी बातें ग्रहण की थीं।

पाश्चात्य विद्वानों की उक्त कल्पना निराधार ही नहीं बल्कि दूषित है। ईरान का यत्किञ्चित् प्रभाव भारत के पश्चिमी सीमान्त-प्रदेशों तक ही मर्यादित रहा। भारत ने खरोष्ठी लिपि को कदापि नहीं अपनाया। अशोक के समय यह लिपि सिर्फ पञ्जाब से गान्धार प्रदेश तक प्रचलित थी। भारतवर्ष में अन्यत्र ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था, जो भारतीय आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार था। यह भारत की आदर्श लिपि है जिसमें प्रत्येक उच्चारण के लिए असन्दिग्ध सङ्केत हैं जिनसे जो बोला जाता है वह ठीक वैसा ही लिखा और पढ़ा जाता है। ईरान की 'क्षत्रप' उपाधि का प्रयोग केवल शक, पह्लव आदि विदेशी राजा किया करते थे, किन्तु भारतीय राजाओं ने इसका प्रयोग कहीं नहीं किया। अशोक ने शिलालेखों की शैली ईरान के राजाओं से सीखी हो, यह कल्पना भी दुरूह प्रतीत होती है। अशोक ने अपनी धर्म-लिपियाँ बड़े विचारपूर्वक चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाई थीं, जिसमें वे चिरस्थायिनी हों तथा उसकी प्रजा और

अधिकारीवर्ग को सदा उपदेश और अनुशासन देती रहें। * जिसने धर्म के प्रचार के लिए अनेक मौलिक उपाय और आयोजन स्वयं आविष्कृत किये थे, जो कल्पान्त तक धर्माचरण का उपदेश करना चाहता था, उसे यह विचार सहज ही स्फुरित हुआ होगा कि वह अपने उपदेशों और अनुशासनों को शिलाओं पर उत्कीर्ण करावे।† मौर्य-काल की स्थापत्य और शिल्प-कलाओं पर ईरान का प्रभाव पड़ा हो, यह सन्देहात्मक है। एक यवन लेखक का कहना है कि चन्द्रगुप्त के महल ईरान के सुसा और एक्बटाना के राजभवनों से सज-धज में कहीं अधिक भव्य और सुन्दर हैं। अशोक के विशाल स्तम्भ, उन पर किया हुआ चमकीला वज्रलेप, उनके सिंहादि मूर्तियों से विभूषित शीर्षक, साँची और बरहुत के स्तूप और पर्वतों में खोदकर बनाई हुई भव्य गुफाएँ अशोक-कालीन भारत के विस्मयकारक कला-कौशल का हमें विशद परिचय देती हैं। इनके निर्माण करने में भारतीयों ने ईरानियों का यदि अनुकरण किया था तो यह समझ में नहीं आता कि अनुकरण करनेवालों ने कैसे इतनी अनोखी और अनुपम कृतियाँ गढ़ डालीं! अग्नि-पूजा और बाल धोने की प्रथा (अभिषेक) भारतवर्ष में वैदिक युग से प्रचलित थीं। ईरान और भारत के लोग समान आर्य-संस्कृति के उत्तराधिकारी थे। अतएव, उनके आचार-विचारों में बहुत सी समानताएँ थीं। दोनों में भेद केवल इतना ही था कि भारतीय आर्यों ने अपनी प्राचीन संस्कृति को रक्षित कर उसकी बराबर उन्नति की, किन्तु ईरान के आर्य ऐसा न कर सके थे।‡

पाश्चात्य विद्वानों का सदा यह सिद्ध करने का प्रयत्न रहता है कि भारत ने पश्चिम के देशों से सभ्यता सीखी और भारतीय इतिहास में जो-जो उन्नति या प्रगति हुई उसकी प्रेरणा भारतीयों को बाहर से मिली। उनके मत के अनुसार हिन्दू-जाति में आविष्कारक-बुद्धि का सर्वथा सदा से अभाव था।

---

* 'इयं धम्मलिपि लेखिता। चिलथितिक्या (चिरस्थितिका) हेतु तथा च मे पजा अनुवतंतु'—शि० ले० ५।

† शि० ले० ४।

‡ देखिए विंसेंट स्मिथ—ऑक्सफ़र्ड हिस्टरी आव इंडिया—पृ० ७६।
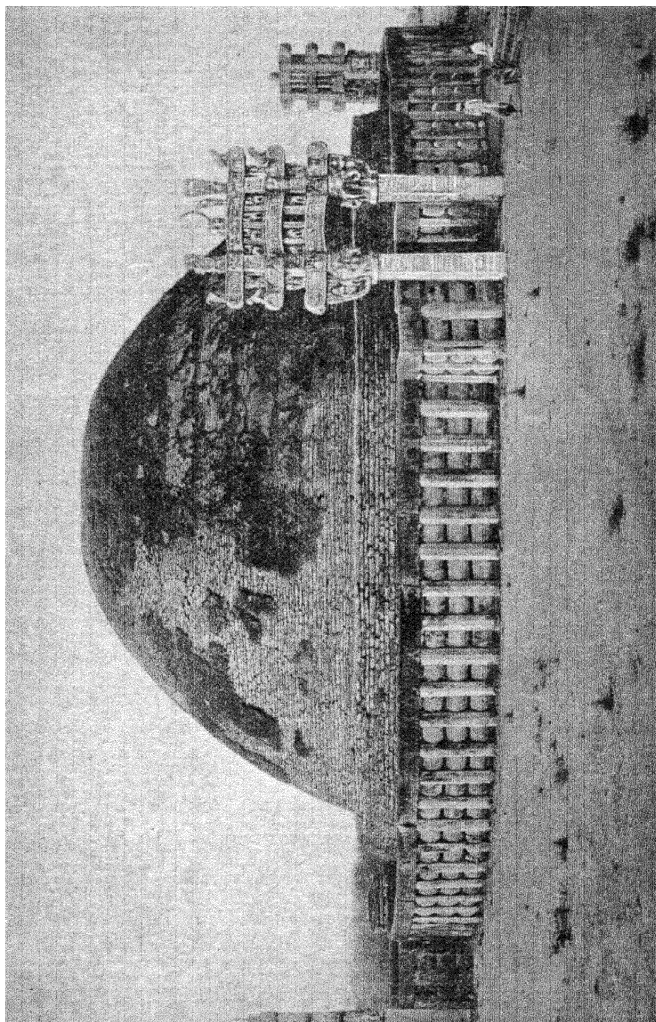
साँची का स्तूप

परन्तु प्राचीन भारत के इतिहास का व्यापक और पक्षपात-शून्य दृष्टि से आलोचन करने से यह सप्रमाण सिद्ध होता है कि हिन्दू सभ्यता का विकास निराले ही ढङ्ग पर हुआ है। उस पर विदेशों के प्रभाव की छाया भी नहीं पड़ी और हिन्दुओं ने जो कुछ बाहर से सीखा था उसे प्रारम्भ से ही सर्वथा आत्मसात् कर लिया था।

ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति—पुरातत्त्वज्ञ बूह्लर ने लिखा है कि ब्राह्मी-लिपि पश्चिम एशिया की सेमेटिक लिपि से निकली है। वह इसे भी हिन्दुओं का स्वतन्त्र आविष्कार नहीं मानते। किन्तु दोनों लिपियों की तुलना करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्राह्मी और सेमेटिक लिपियों में दिन-रात का सा अन्तर है। ब्राह्मी में स्वर और व्यञ्जन पूरे हैं और स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ तथा अनुस्वार और विसर्ग के लिए उपयुक्त सङ्केत जुदे-जुदे हैं। व्यञ्जन भी उच्चारण के स्थानों के अनुसार वैज्ञानिक क्रम से जमाये गये हैं। संयुक्ताक्षर और मात्राओं के चिह्न ब्राह्मी-लिपि की विशेषताएँ हैं। आर्य-भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए ब्राह्मी में किसी प्रकार के संशोधन की अपेक्षा नहीं है। वैदिक और संस्कृत के ६४ मूल उच्चारणों के लिए केवल १८ उच्चारणों के प्रकट करनेवाले २२ सङ्केतों की दरिद्र सेमेटिक लिपि कैसे पर्याप्त होती! सेमेटिक लिपियों में स्वर और व्यञ्जन पृथक्-पृथक् नहीं है। स्वरों में ह्रस्व दीर्घ का भेद नहीं। न उसमें मात्रा के सङ्केत हैं और न संयुक्त ध्वनि के लिए वर्णों का संयोग है। स्वर भी अपूर्ण हैं। "ऐसी अपूर्ण और क्रमरहित लिपि को लेकर, उसकी लिखावट का रुख पलटकर, वर्णों को तोड़-मरोड़कर, केवल १८ उच्चारणों के चिह्न उसमें पाकर बाक़ी उच्चारणों के सङ्केत स्वयं गढ़कर, स्वरों के लिए मात्रा-चिह्न बनाकर, अनुस्वार और विसर्ग की कल्पना कर, स्वर-व्यञ्जनों को पृथक् कर, उन्हें उच्चारण के स्थान और प्रयत्न के अनुसार नये क्रम से सजाकर सर्वाङ्गपूर्ण लिपि बनाने की योग्यता जिस जाति में मानी जाती है, क्या वह इतनी सभ्य नहीं रही होगी कि केवल अठारह अक्षरों के सङ्केतों के लिए दूसरों का मुँह न ताककर उन्हें स्वयं ही अपने लिए बना ले?"*

* गौ० ही० ओझा—प्राचीन लिपि-माला, पृ० २४।

मौर्य-साम्राज्य के ह्रास का कारण--अशोक की छत्रच्छाया में मगध-साम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत से तामिल राज्यों की सीमा तक फैला हुआ था। तत्कालीन विदेश के राष्ट्रों से उसका घनिष्ठ मित्रता का सम्बन्ध था। अशोक की मृत्यु होते ही उसका विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। एक-एक करके उसके साम्राज्य के प्रदेश स्वाधीन होने लगे। दक्षिण में आन्ध्र देश और महानदी और गोदावरी के बीच का कलिङ्ग देश दोनों ही शीघ्र मौर्य-साम्राज्य से अलग हो गये। अशोक के बाद पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवनों के निरन्तर आक्रमणों से मौर्य-साम्राज्य की शक्ति बहुत शिथिल हो गई। बहुत से पुराने गण-राज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये। भारत की राजनीति मे 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' यह कहावत चरितार्थ होने लगी। अशोक के उत्तराधिकारियों मे पतनोन्मुख साम्राज्य की रक्षा करने की कुछ भी योग्यता न थी। यद्यपि बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के उपरान्त अशोक बड़ा ही शान्ति-प्रिय और 'धर्म-विजयी' हो गया था, तथापि उसने जीवन-पर्यन्त अपूर्व शक्ति और उत्साह से राज-काज का सम्पादन किया था। किन्तु उसके बाद के मौर्य-राजा उसकी नीति के किसी अङ्ग को पुष्ट न कर सके। वे सीमान्त देशों की रक्षा न कर सके। उनकी दुर्बलता के कारण मौर्य-साम्राज्य का सङ्गठन शिथिल हो गया। अशोक भारत के धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति बड़ी ही अनुकरणीय सहिष्णुता, समदर्शिता और उदारता से व्यवहार करता था। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी उसके कृपा-पात्र थे। परन्तु, उसके उत्तराधिकारी दशरथ, सम्प्रति आदि बौद्ध और जैन सम्प्रदाय पर विशेष पक्षपात करने लगे जिससे भारत के सम्प्रदायों में परस्पर धार्मिक विद्वेष बढ़ा। अशोक के पश्चात् मौर्य-वंशियों के पारस्परिक गृह-कलह के कारण मौर्य-शक्ति और भी शिथिल हो गई। जलौक ने कश्मीर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और कन्नौज तक का देश जीत लिया। ई० पू० १८५ के लगभग पुष्यमित्र शुङ्ग के राजविद्रोह के बहुत पहले ही मौर्य-साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। कुछ विद्वानों का मत है कि मौर्य-वंश के अधःपतन का कारण ब्राह्मण-धर्म के अनुयायियों का बौद्ध लोगों के प्रति विद्वेष था।

ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने अन्तिम मौर्य-राजा बृहद्रथ को मार डाला। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित पुष्यमित्र द्वारा किये गये अत्याचारों की कथाएँ इस बात में कोई सन्देह नहीं रहने देतीं कि इस काल में ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध तथा जैन-धर्मों में परस्पर विरोध हो गया था। इस धार्मिक विरोध ने भी मौर्य-साम्राज्य के पतन में सहायता दी।

मौर्य-वंश-वृक्ष

पिप्पलीवन के मौर्य
- चन्द्रगुप्त [३२२–२९८ ई० पू०]
  - बिन्दुसार [२९८–२७२ ई० पू०]
    - सुषीम
    - अशोकवर्धन [२७२–२३२ ई० पू०]
      अशोक = (१) असन्धिमित्रा, (२) कारुवाकी, (३) तिष्यरक्षिता
      - कुनाल (सुयशः) [२३२–२२४ ई० पू०]
        - दशरथ (बन्धुपालित) [२२४–२१६ ई० पू०]
        - सम्प्रति (इन्द्रपालित) [२१६–२०७ ई० पू०]
          - शालिशूक [२०७–२०६ ई० पू०]
            - देववर्मा [२०६–१९९ ई० पू०]
              - शतधनुष [१९९–१९१ ई० पू०]
              - बृहद्रथ [१९१–१८४ ई० पू०]
      - जलौक
      - तिवार
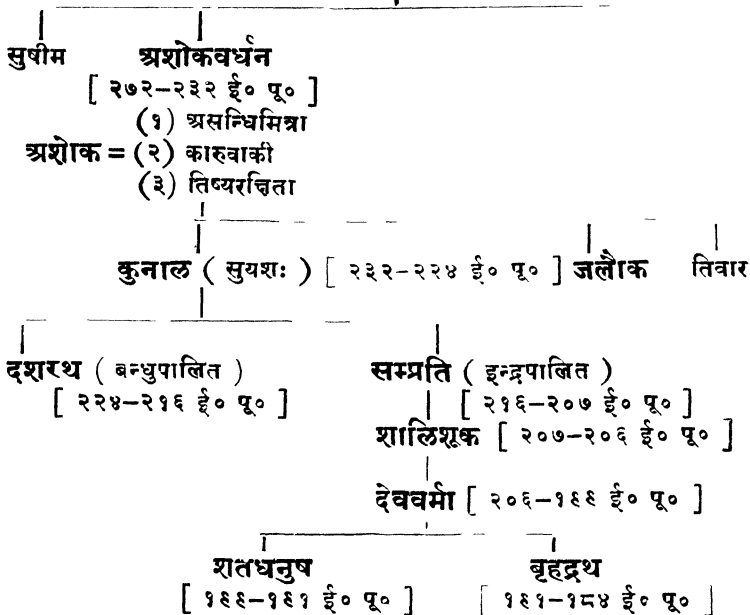
मौर्य-युग की घटनाओं का तिथि-क्रम

[निम्नलिखित तालिका की अनेक तिथियाँ अनुमान पर निर्भर हैं और लगभग ठीक हैं]

ई० पू०

३२६–३२५ सिकन्दर का भारत पर आक्रमण और चन्द्रगुप्त मौर्य का पञ्जाब में उससे मिलना।

३२४ सिकन्दर के शासन के विरुद्ध पञ्जाब में विद्रोह आरम्भ हुआ।

३२३ सिकन्दर की मृत्यु हुई।

३२३–३२२ यूनानियों की सेनाएँ चन्द्रगुप्त मौर्य और कौटिल्य के नेतृत्व में पश्चिमोत्तर प्रदेशों से निकाल बाहर की गईं।

३२२ चन्द्रगुप्त ने मगध के नन्द-वंश का नाश किया। तत्पश्चात् उसका राज्याभिषेक हुआ।

३१२ सैल्यूकस ने बैबिलोन पर अधिकार प्राप्त किया और अपने नाम का संवत् चलाया।

३०५ सैल्यूकस ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया और पराजित हुआ।

३०४ सैल्यूकस ने चन्द्रगुप्त को सन्धि की शर्तों के अनुसार हिन्दूकुश पर्वत तक का प्रदेश दे दिया।

३०२ मैगस्थनीज़ सैल्यूकस का राजदूत बनकर पाटलिपुत्र में आया।

२९८ बिन्दुसार (अमित्रघात) का मगध में राज्याभिषेक हुआ। डाईमेकस मैगस्थनीज़ के स्थान पर राजदूत बनकर आया।

२८० सैल्यूकस की मृत्यु हुई। ऐंटियोकस उसका उत्तराधिकारी हुआ।

२७३ सम्राट् अशोक राजगद्दी पर बैठा।

२६९ अशोक का राज्याभिषेक हुआ।

२६१ कलिङ्ग-युद्ध में विजय पाकर अशोक ने धर्म-विजय स्थापित करने का निश्चय किया।

ई० पू०

२५६ अशोक ने धर्म-महामात्र नियुक्त किये। उसने शिकार करने की राज-प्रथा को बन्द किया।

२५७—५६ चतुर्दश शिलालेख और दो कलिङ्ग-लेख खुदवाये गये।

२५२ बौद्ध-धर्म की प्रसिद्ध महासभा मोद्गलिपुत्र तिष्य की अध्यक्षता में हुई।

२५१—५० महेन्द्र और सङ्घमित्रा लङ्का में धर्म-प्रचार के लिए गये।

२४६ अशोक ने बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों के लिए तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की।

२४८ बैक्ट्रिया और पार्थिया सिरिया के साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गये।

२४२ सप्त स्तम्भ-लेख प्रकाशित किये गये।

२३२ अशोक की मृत्यु हुई। कुनाल राजगद्दी पर बैठा। जलौक ने काश्मीर में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया।

२३० सीमुक सातवाहन ने आन्ध्र देश में स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया।

२२४ अशोक का पौत्र दशरथ मगध के सिंहासन पर बैठा और सम्प्रति उज्जैन का राजा हुआ।

१८४ सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग ने अन्तिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मारकर मगध पर अधिकार कर लिया।

बारहवाँ परिच्छेद

शुङ्ग, कलिङ्ग और आन्ध्र राजवंश

मौर्य-साम्राज्य का ह्रास तथा पतन—अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्य-साम्राज्य का ह्रास होना शुरू हुआ। साम्राज्य के दूरवर्ती प्रान्त स्वाधीन राज्य बन गये। दक्षिणापथ में आन्ध्र या सातवाहन वंश का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। कलिङ्ग-देश भी, जिसे अशोक ने रक्त की नदियाँ बहाकर जीता था, मौर्य-साम्राज्य से स्वाधीन होने का उद्योग करने लगा। पश्चिमोत्तर प्रान्त भी, जो पञ्जाब से काबुल, कन्दहार और हिरात तक फैले हुए थे, विदेशियों के अधिकार में आ गये। यवन, शक, पह्लव, कुशन आदि विदेशी जातियाँ, एक के बाद दूसरी, पश्चिमोत्तर सीमाओं को लाँघकर भारत में आने लगीं। मौर्य-नरेश सजग रहकर साम्राज्य की सीमाएँ विदेशियों के आक्रमण से सुरक्षित न रख सके। मौर्य-साम्राज्य की ऐसी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में ई० स० पूर्व १८४ के लगभग सेनापति पुष्यमित्र ने अपने स्वामी बृहद्रथ मौर्य को मारकर अवशिष्ट मौर्य-राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। उसने एक नये राजवंश की नींव डाली, जो इतिहास में शुङ्ग-वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

शुङ्ग-वंश की उत्पत्ति—शुङ्गवंशी वैदिक ऋषि भरद्वाज के गोत्र के ब्राह्मण राजा थे। साहित्य और शिला-लेखों में उज्जैन प्रान्त की विदिशा नगरी से इन शुङ्गों का घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि शुङ्ग-वंशी राजा ईरानी थे, क्योंकि उनके नाम के साथ 'मित्र' जुड़ा रहता है। अर्थात् वे ईरानी देवता 'मिथ्' (सूर्य) के उपासक थे। परन्तु यह मत सर्वथा भ्रान्त है। शुङ्ग भरद्वाज-गोत्र के ब्राह्मण थे। 'शौङ्गी-पुत्र' (शुङ्ग कुल की बेटी का पुत्र) उपनिषद् के एक प्रसिद्ध
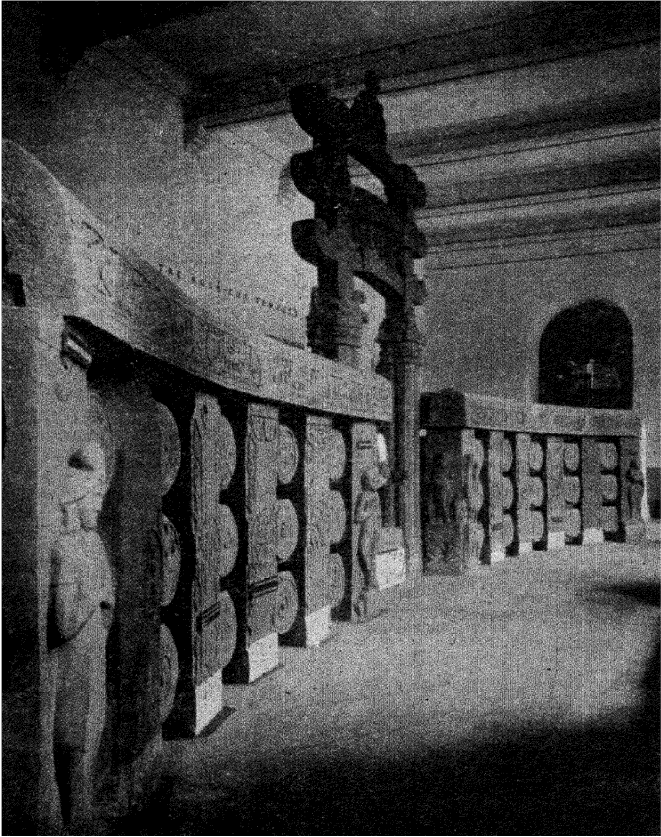
भरहुत स्तूप का द्वार और पाषाण-वेष्टिनी (कलकत्ते के अजायबघर में)

विद्वान् का नाम था।* महाभारत के ब्राह्मण सेनापति द्रोण, कृप और अश्वत्थामा की भाँति पुष्यमित्र भी मौर्य राजा का सेनापति था। जैसे ब्राह्मण कौटिल्य ने नन्द राजा के अत्याचारों से और यवनों के अधिकार से देश का उद्धार किया था इसी प्रकार 'दुर्बल' मौर्य राजा के अधिकार से और तत्कालीन यवनों के आक्रमणों से ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र ने अपने देश की रक्षा की और ब्राह्मण-धर्म का उद्धार किया था।† आर्य-जाति के इतिहास में ब्राह्मण का राज्य पर अधिकार करने का कदाचित् शुङ्ग-वंश ही पहला उदाहरण है। यह तो क्षत्रियों का ही धर्म था। अनुमान यह होता है कि ब्राह्मण नेता दुर्बल और स्वेच्छाचारी क्षत्रिय राजाओं से कभी-कभी देश और धर्म की रक्षा के लिए राज्य तक अपने हाथ में ले लेते थे।‡

महाकवि कालिदास के '**मालविकाग्निमित्र**' नाटक से शुङ्ग-वंश का विशेष परिचय मिलता है। उसमें लिखा है कि जिस समय **पुष्यमित्र** ने अश्वमेध-यज्ञ किया, उस समय उसका पुत्र **अग्निमित्र** विदिशा§ में शासन करता था। पुष्यमित्र ने अग्निमित्र को यज्ञ में उपस्थित होने के लिए निमन्त्रण-पत्र भेजा था, जिसका उल्लेख कालिदास ने निम्न-लिखित रीति से किया है—

"यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिङ्गन के पश्चात् विदिशा-स्थित कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय-यज्ञ की दीक्षा लेकर सैकड़ों राजपुत्रों के साथ **वसुमित्र** की संरक्षकता में एक वर्ष में लौट आने के नियम के अनुसार यज्ञ का अश्व बन्धन से मुक्त कर दिया। सिन्धु नदी के दक्षिण तट पर विचरते हुए उस अश्व को यवनों ने पकड़ लिया, जिससे दोनों सेनाओं में घोर युद्ध हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने शत्रुओं को परास्त कर मेरा

---

* हेमचन्द्र राय चौधरी—प्रा० भा० का राजनीतिक इतिहास, पृ० २३५।

† 'प्रतिज्ञादुर्बलं निष्पिपेष सेनानी बृहद्रथम्।'—बाण, हर्षचरित।

‡ सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ मनुस्मृति, १२, १००।

§ विदिशा = भेलसा।

उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमान् के द्वारा वापिस लाये हुए अश्व से राजा सगर ने यज्ञ किया वैसे मैं भी अपने पौत्र द्वारा रक्षा किये हुए अश्व से यज्ञ करूँगा। अतएव तुम्हें यज्ञ-दर्शन के लिए वधू-जन-समेत शीघ्र आना चाहिए।" [मालविकाग्निमित्र अंक ५]

यवनों का आक्रमण—पुष्यमित्र शुङ्ग के समय में यवनों के आक्रमण पश्चिमोत्तर भारत पर शुरू हुए। उन्होंने मथुरा पर अधिकार कर साकेत* को जा घेरा और चित्तौड़ के समीप माध्यमिका पर हमला किया, परन्तु अन्त में उन्हीं को हारकर लौटना पड़ा। यवनों के द्वारा साकेत, मथुरा, पाञ्चाल और पाटलिपुत्र पर आक्रमण किये जाने का उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में भी पाया जाता है।† तिब्बत देश के इतिहास-कार तारानाथ ने लिखा है कि पुष्यमित्र के राज्य-काल में भारत पर सबसे पहले विदेशी जाति का आक्रमण हुआ था। परन्तु यवनों के ये हमले निष्फल हुए। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र नाटक में लिखा है कि सिन्धु नदी (राजपूताने की काली सिन्ध) पर यवन घुड़सवार सेना से पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र की मुठभेड़ हुई ; वसुमित्र अश्वमेध के लिए छोड़े हुए घोड़े की रक्षा के लिए नियुक्त था जिसने यवनों को परास्त कर घोड़े को छुड़ा लिया।‡

खारवेल का मगध पर आक्रमण—ई० पू० १६५ के लगभग कलिङ्ग के जैन राजा खारवेल ने मगध पर आक्रमण किया। खारवेल के शिलालेख से पता लगता है कि उसने पुष्यमित्र पर दो बार चढ़ाई की किन्तु उसके इन हमलों से शुङ्ग-राज्य की सीमाओं में कुछ क्षति नहीं हुई।

पुष्यमित्र का अश्वमेध-यज्ञ—पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने, जो विदिशा का शासक था, इसी समय के लगभग विदर्भ (बरार) के राजा पर

---

* साकेत = अवध।

† ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मथुरां तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥—बृहत्संहिता, ३७।

‡ "इह पुष्यमित्रं याजयामः"—महाभाष्य।

विजय प्राप्त की। इधर यवन परास्त किये गये। अतएव, इन सब विजयों के उपलक्ष में और चक्रवर्ती सम्राट् की पदवी पाने की इच्छा से उसने अश्वमेध-यज्ञ आरम्भ किया। अयोध्या के एक मन्दिर के द्वार पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है, जिसमें सेनापति पुष्यमित्र के दो बार अश्वमेध करने का उल्लेख है। व्याकरण के महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस यज्ञ का उल्लेख इस प्रकार किया है—"यहां हम पुष्यमित्र का यज्ञ कराते हैं।" इस अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान से यह अनुमान पुष्ट होता है कि ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान शुङ्ग-समय से प्रारम्भ हुआ जो अशोक के समय से राज्य-धर्म के पद से गिरने के कारण हीन अवस्था को प्राप्त हो चुका था। अशोक ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान बन्द कर दिया था। यह प्रतीत होता है कि पुष्यमित्र ब्राह्मण-धर्म का संरक्षक बनकर मौर्य-वंश के नाश का कारण हुआ; क्योंकि ब्राह्मण लोग इस वंश से बहुत कुछ उदासीन हो गये थे।

शुङ्ग-राज्य की सीमाएँ—शुङ्ग-राज्य में मौर्य-साम्राज्य के मध्यवर्ती सभी प्रान्त शामिल थे। इस वंश की राजधानी पाटलिपुत्र ही रही और इसका अधिकार दक्षिण में नर्मदा तक था। बिहार, तिरहुत और संयुक्त-प्रान्त भी शुङ्ग-राज्य में सम्मिलित थे। पञ्जाब का पश्चिमोत्तर भाग कदाचित् उनके राज्य के बाहर था। अयोध्या, विदिशा, बरहुत आदि शुङ्ग-राज्य के बड़े नगर थे।

बौद्धों पर पुष्यमित्र के अत्याचार—बौद्ध-ग्रन्थों से सूचित होता है कि पुष्यमित्र ने बौद्धों पर बड़े अत्याचार किये। 'कुक्कुटाराम' नाम के विहार को, जिसे अशोक ने पाटलिपुत्र के समीप एक सहस्र बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनवाया था, उसने नष्ट करने का विचार किया था। तारानाथ ने पुष्य-मित्र के राजपुरोहित होने का उल्लेख किया है और उसे बौद्धों का कट्टर शत्रु बतलाया है। उसने लिखा है कि मगध से शाकल (स्यालकोट) तक उसने अनेक बौद्ध विहारों को जलवा दिया और अनेक भिक्षुओं को मरवा डाला।*

* दिव्यावदान, ४३३-३४

उत्तरकालीन बौद्ध लेखकों के इन कथनों में अतिशयोक्ति अवश्य है, पर कुछ सार भी होगा। सार केवल इतना ही है कि पुष्यमित्र ने ब्राह्मण-धर्म का पुनरुद्धार उत्साहपूर्वक किया होगा और पञ्जाब तक उसने अपना आधिपत्य स्थापित किया होगा।

पुष्यमित्र को 'अनार्य', स्वामिघाती और राज्यापहारी कहा जाता है। परन्तु उस समय की राजनैतिक और धार्मिक परिस्थिति देखते हुए उसके चरित्र पर इस प्रकार के दोषारोपण करना उचित नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मण-धर्म की बौद्ध और जैन-धर्मावलम्बी मौर्य नरेशों से की गई अवहेलना को तथा विदेशी यवनों द्वारा स्वदेश पर किये गये आक्रमणों को और मौर्य नरेशों की देश-रक्षा के प्रति उदासीनता को वह कदाचित् सहन न कर सका होगा। कविवर बाण ने इस घटना का निर्देश करते हुए लिखा है कि सेना के समक्ष पुष्यमित्र ने अपने स्वामी को मारा।* इससे जान पड़ता है कि मौर्य-सेना भी उसके राजविद्रोह में शामिल थी।

पुष्यमित्र के वंशज—विष्णुपुराण में लिखा है कि मौर्यों के पश्चात् दस शुङ्ग राजा होंगे। सेनापति पुष्यमित्र अपने स्वामी (अन्तिम मौर्य) बृहद्रथ को मारकर राज्य करेगा। पुराणों के अनुसार पुष्यमित्र का राज्य-काल ३६ वर्ष और समस्त शुङ्ग-वंश का ११२ वर्ष तक रहा।† पुष्यमित्र के पश्चात् अग्निमित्र राज-सिंहासन पर बैठा और उसने आठ वर्ष तक राज्य किया। उसके अनन्तर उसका भाई सुज्येष्ठ राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। सुज्येष्ठ के पश्चात् वसुमित्र ने मगध पर शासन किया। अपनी युवावस्था में उसने यवनों को परास्त कर यज्ञ के अश्व की रक्षा की थी। बाण ने हर्षचरित में

---

* "प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम्।" हर्षचरित, ६ उच्छ्वास

† एवं मौर्या दशभूपतयो भविष्यन्ति अब्दशतं सप्तत्रिंशदुत्तरं ते पृथिवीं भोक्ष्यन्ति।
ततः पुष्यमित्रः सेनापतिः स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति॥
—विष्णुपुराण ४, २३।

लिखा है कि मित्रदेव ने नटों के मध्य छिपकर नाट्य-कला में अत्यासक्त अग्निमित्र के पुत्र सुमित्र का सिर काट डाला।*

वसुमित्र के पश्चात् ओद्रक राजा हुआ जिसका उल्लेख कौशाम्बी के पास पभोसा के शिलालेख में आता है। शुङ्ग-वंश का नवाँ राजा भागवत या भागभद्र था जिसके राज्य-काल के १४ वें वर्ष में तक्षशिला के यवन राजा अन्तिअलकिदस का दूत हेलियोदोरस विदिशा में आया था, जहाँ उसने वासुदेव के आराधनार्थ गरुड़ध्वज स्थापित किया था। सम्भवतः यह घटना ई० स० पू० ९० के आसपास हुई हो। इस वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। विष्णुपुराण में लिखा है कि दुश्चरित्र शुङ्ग राजा देवभूति को उसका मन्त्री कण्ववंशी वसुदेव मारकर स्वयं राज्य पर अधिकार कर लेगा।†

शुङ्ग-काल का धर्म, कला और साहित्य—शुङ्ग-वंशी सम्राटों का शासन-काल मध्य-भारत के इतिहास में बड़े महत्त्व का है। ब्राह्मण-धर्म के उत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य की उन्नति के लक्षण इस समय दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत-व्याकरण के पारदर्शी विद्वान् महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन थे और उसके अश्वमेध यज्ञ के अनुष्ठान में उपस्थित थे। भारत उनके समय में यवनाक्रान्त हो रहा था, इसका स्पष्ट उल्लेख महाभाष्य में मिलता है।‡ शुङ्ग नरेशों ने यवनों के प्रबल आक्रमणों को रोका और आर्यावर्त के मर्मस्थल की रक्षा की। शुङ्ग-राज्य की प्रबल शक्ति के कारण यवन लोग भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से गङ्गा-यमुना के प्रदेश में बढ़ने का साहस न कर सके। तक्षशिला के यवन राजा ने अपना राजदूत विदिशा

---

* अतिदयितलास्यस्य च शैलूषमध्यमध्यास्य मूर्द्धानमसिलतया मृणालमिव अलुनात् अग्निमित्रात्मजस्य सुमित्रस्य मित्रदेवः।—हर्षचरित, ६।

† 'अतिस्त्रीसङ्गरतं अनङ्गपरवशं शुङ्गामात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहिता देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्'—हर्षचरित, ६।

‡ 'अरुणद्यवनः साकेतम्'—'अरुणद्यवनो मध्यमिकाम्'—महाभाष्य।

पतञ्जलि ने लिखा है कि 'यवनों ने अयोध्या और चितौड़-प्रदेश को घेरा।'

(भिलसा) के राजा के दरबार में भेजा। इससे अनुमान होता है कि धीरे-धीरे यवन राजा हिन्दू नरेशों से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने लगे थे। संस्कृत-साहित्य, कला और ब्राह्मण-धर्म की शुङ्ग-काल में अपूर्व उन्नति हुई। विदिशा के समीप साँची के प्रसिद्ध स्तूप के सुन्दर द्वारों के कारीगर शुङ्ग-राज्य के विदिशा के हाथी-दाँत के काम करनेवाले थे। विदिशा और घोसण्डी (राजपूताना) के शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि वैष्णव-धर्म का प्रचार और अभ्युदय उस समय हो रहा था। तक्षशिला के राजा का यवन-दूत हेलियोदोरस भारतीय संस्कृति के प्रभाव-वश भागवत-धर्म का अनुयायी हो गया था। यद्यपि शुङ्ग राजा ब्राह्मण-धर्म के पोषक थे तथापि उन्होंने बौद्धों पर अत्याचार नहीं किया, अन्यथा शुङ्गों के राज्य-काल में साँची और बरहुत के बौद्ध स्तूप न बनाये जाते। बरहुत (बुन्देलखण्ड) के स्तूप के चारों ओर एक सुन्दर पाषाणवेष्टनी (Railing) शुङ्गों के राज्यकाल में बनाई गई थी, जिस पर अनेक प्राचीन बौद्ध गाथाएँ चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। साँची और बरहुत की कला-कृतियों ने शुङ्ग-काल की कीर्ति अमर कर दी है।

इस युग के प्रतिभाशाली विद्वान्, पाणिनीय व्याकरण के भाष्यकार पतञ्जलि मध्य-भारत में गोनर्द नामक नगर के रहनेवाले थे। पतञ्जलि-कृत महाभाष्य संस्कृत-व्याकरण का परम प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। जिस भाषा के परिज्ञानार्थ ऐसे बृहत् और विशिष्ट भाष्य के रचने की आवश्यकता जिस काल में हुई उस समय उसका साहित्य भी अत्यन्त उन्नत दशा में होगा इसमें सन्देह नहीं। पतञ्जलि के महाभाष्य के एक दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि उस समय चित्रकार ऐसे मनोहर चित्र बनाते थे कि उनमें अङ्कित दृश्य दर्शकों को सजीव और वास्तविक प्रतीत होते थे। पतञ्जलि ने उदाहरण के रूप में लिखा है कि चित्रों में कृष्ण और कंस के प्रहार ऊँचे उठे हुए और नीचे गिरते हुए देख पड़ते हैं।*

---

* 'चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसस्य कृष्णस्य च।'

—महाभाष्य ३-१, २६।
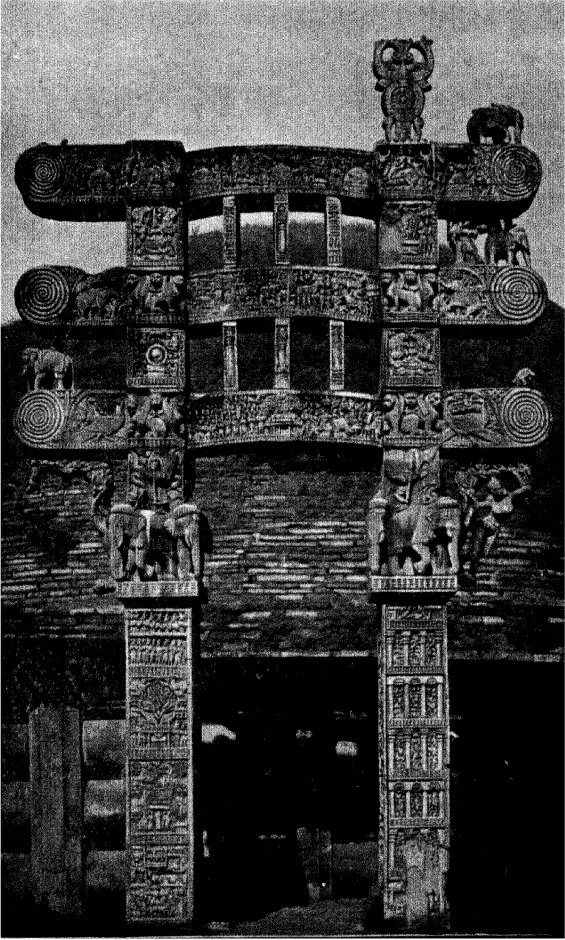
साँची

काव्य, आख्यान, आख्यायिका, इतिहास-पुराणों पर पुस्तकें बनी हुई थीं।* पतञ्जलि के समय में नाटक खेलने का भी बड़ा प्रचार था। संस्कृत-साहित्य की उन्नति इस युग में बराबर जारी थी। महाभाष्य, मनुस्मृति और महाभारत ये हिन्दू-साहित्य और धर्म के तीन विशिष्ट ग्रन्थ शुङ्ग-युग में रचे गये थे। ब्राह्मण लोग षडङ्ग वेद का अनुशीलन करना अपना निष्कारण धर्म समझते थे।† उस समय आर्यावर्त के उन्हीं ब्राह्मणों को 'शिष्ट' कहा जाता था जो निर्लोभ रहकर किसी एक विद्या में पारगामी होते थे।‡

शुङ्ग-वंशावली

राजा का नाम	राज्य-वर्ष	टिप्पणी
(१) पुष्यमित्र	३६	पुराणों के अनुसार शुङ्ग-वंश का कुल राज्य-काल ११२ वर्ष तक था। ई० सन् पूर्व ७२ के आस-पास इस वंश की समाप्ति हुई।
(२) अग्निमित्र	८	
(३) सुज्येष्ठ	७	
(४) वसुमित्र (सुमित्र)	१०	
(५) आद्रक (अन्धक)	७	
(६) पुलिन्दक	३	
(७) घोष	३	
(८) वज्रमित्र	९	
(९) भागवत	३२	
(१०) देवभूति	१०	

* 'आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च।'—महाभाष्य ४-२, ६०।

† 'ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।'—महाभाष्य १-१-१।

‡ एतस्मिन्नार्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपाः अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः।

—महाभाष्य ६-३-१०-९।

काण्व-वंश—शुङ्ग-वंश के अन्तिम राजा देवभूति को मारकर उसके मन्त्री वसुदेव ने ई० पू० ७२ के लगभग काण्व-राजवंश की स्थापना की। इस वंश के राजा भी शुङ्गों की भाँति ब्राह्मण थे। इन शताब्दियों में भारत का शासन-सूत्र ब्राह्मणों ने अपने हाथ में ले रखा था। इस राजवंश में कुल चार राजा हुए और उन्होंने केवल ४५ वर्ष तक राज्य किया। पुराणों में लिखा है कि इस वंश के अन्तिम राजा सुशर्मा को मारकर उसका आन्ध्रवंशी सेवक राजा होगा।* तत्पश्चात् आन्ध्र-वंश में उसका भाई कृष्ण और शातकर्णि क्रम से राज्य करेंगे। पुराणों के अनुसार आन्ध्र-वंश की स्थापना काण्व-वंश (ई० पू० २७) के पश्चात् हुई, किन्तु वास्तव में स्वतन्त्र आन्ध्र-वंश की स्थापना अशोक की मृत्यु के उपरान्त ई० पू० २२० के आसपास हुई थी जैसा कि ऐतिहासिक शोधों से सिद्ध होता है। अतएव काण्व-वंशी सुशर्मा को आन्ध्र-वंश के संस्थापक राजा सिमुक ने नहीं मारा था, बल्कि अन्य किसी आन्ध्र राजा ने उसे मारा होगा। काण्व-वंश की समाप्ति ई० पू० २७ के लगभग हुई थी, किन्तु आन्ध्र-वंश इस घटना के लगभग दो शताब्दी पूर्व स्थापित हो चुका था। इस प्रसङ्ग में पुराणों का वंश-क्रम कुछ अस्त-व्यस्त प्रतीत होता है।

कलिङ्ग के जैन-सम्राट् खारवेल—सम्राट् अशोक की मृत्यु के पश्चात् कलिङ्ग-देश भी स्वाधीन हो गया। कलिङ्ग के जैन राजा खारवेल का शिलालेख उड़ीसा के भुवनेश्वर तीर्थ के पास उदयगिरि पर्वत की एक गुफा पर खुदा हुआ मिला है। यह 'हाथीगुफा-लेख' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रतापी राजा खारवेल के जीवन-वृत्तान्तों का उल्लेख है। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने मगध पर दो बार चढ़ाई की और वहाँ के

---

* 'हत्वा कण्वं सुशर्माणं तद्भृत्यो वृषलो बली।
गां भोक्ष्यत्यंध्रजातीयः .... ॥
कृष्ण नामाथ तद्भ्राता भविता पृथिवीपतिः।
श्रीशातकर्णिस्तत्पुत्रः..................... ॥—भागवत १२, १।

राजा 'बहसतिमित्र' को उसने पराजित किया। पुरातत्त्व-वेत्ता श्रीयुत काशी-प्रसाद जायसवाल ने पुष्यमित्र और बहसतिमित्र का एक होना अनुमान किया है। शुङ्ग-वंशी अग्निमित्र के सिक्के की तरह ठीक उसी रूप का सिक्का बहसतिमित्र का मिलता है। दक्षिण का आन्ध्र-वंशी राजा शातकर्णि खारवेल का समकालीन था। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि शातकर्णि के बल की कुछ परवा न करते हुए खारवेल ने दक्षिण में एक बड़ी सेना भेजी जिसने दक्षिण के कई राज्यों को अपने बल से त्रस्त किया। सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा के यहाँ से खारवेल के पास बहुमूल्य उपहार आते थे। सारे भारतवर्ष में उत्तर से दक्षिण तक उसकी प्रताप-पताका फहराई। इस शिलालेख से जान पड़ता है कि इस समय के आक्रमणकारी यवन राजा डिमित (डीमेट्रियस) भी खारवेल के पराक्रम से डर गया था। कलिङ्ग के राजा का प्रताप उस समय के सभी राज्यों पर छा गया था।

खारवेल चेदि-वंश में हुआ था। अशोक द्वारा विजित होने पर कलिङ्ग का पूर्व राजवंश उच्छिन्न हो गया था। अशोक की मृत्यु के उपरान्त, कलिङ्ग पर चेदि-वंश का अधिकार हो गया था। इस शिलालेख में लिखा है कि खारवेल एक वर्ष विजय के लिए प्रस्थित होता था तो दूसरे वर्ष महल आदि बनवाता, दान देता और प्रजा-हित का काम करता था। उसने अपनी ३५ लाख की जन-संख्यावाली प्रजा पर बहुत से अनुग्रह किये। उसने अपनी विजय-यात्रा के पश्चात् राजसूय यज्ञ किया और ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिये। जैन-धर्म का कलिङ्ग-देश में प्रचार था। इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि जिन की मूर्ति को, जो मगध का नन्द राजा कलिङ्ग से ले आया था, खारवेल ने फिर से वापस ले लिया। नन्द-संवत् का इस शिलालेख में उल्लेख है। अलबेरूनी के अनुसार विक्रम-संवत् में ४०० जोड़ देने से नन्द-संवत् निकल आता था, अर्थात् वह विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व चला था। यह समय नन्दवर्धन का है जो नन्द-वंश का संस्थापक पहला राजा हुआ था। उस संवत् के एक सौ तीसरे वर्ष में एक नहर खोदी गई थी। इस नहर को बढ़ाकर खारवेल कलिङ्ग की राजधानी में ले आया। खारवेल जैन था,

क्योंकि वह जिन की मूर्ति अपने यहाँ ले आया था। ई० स० ४५८ वर्ष पहले जैन-धर्म का प्रचार उड़ीसा में हो चुका था। *

दक्षिण भारत के सातवाहन-वंश का इतिहास

आन्ध्र या सातवाहन-वंश—अशोक की मृत्यु के पश्चात् आन्ध्र या सातवाहन-वंश ने दक्षिणापथ में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया था। आन्ध्र-जाति का उल्लेख पहले-पहल ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है, जिसमें उसकी गणना पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि आर्यावर्त के बाहर रहनेवाली दस्यु जातियों में की गई है। आन्ध्र लोगों का निवास-स्थान कृष्णा और गोदावरी के मध्यवर्ती प्रदेशों में था। अशोक के शिलालेखों से पाया जाता है कि आन्ध्र-जाति उसके आधिपत्य को मानती थी और उसके धर्मानुशासन का पालन करती थी। मैगस्थनीज़ का कथन है कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय आन्ध्रों की सेना मौर्य-सेना को छोड़कर सबसे बड़ी गिनी जाती थी। इनके राज्य में शहरपनाह से रक्षित ३० नगर थे। इनकी राजधानी का नाम 'श्रीकाकुलं' था जो कृष्णा के तीर पर बसा था।

सिमुक, कृष्ण और शातकर्णि—दक्षिण के समस्त प्रदेश मैसोर पर्यन्त अशोक के अधीन थे। मौर्य-साम्राज्य के अङ्ग-भङ्ग होते समय आन्ध्र लोग भी स्वाधीन हो गये। लगभग ई० पू० २४० के सिमुक या शिशुक ने आन्ध्र-राज्य की स्थापना की। पुराणों की आन्ध्र-वंशावली में **राजा सिमुक** का नाम सबसे प्रथम है। इस नवीन वंश का राज्य पूर्व से पश्चिमी समुद्र-तट तक शीघ्र फैल गया। सिमुक का भाई कृष्ण (कन्ह) आन्ध्र-राज्य का द्वितीय राजा हुआ। नासिक के एक शिलालेख में सातवाहन कुल के राजा कन्ह (कृष्ण) के समय में एक गुफा के बनाये जाने

---

* श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल के लेख, जर्नल बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी में, देखिए—'कलिङ्ग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण'—का० ना० प्र० पत्रिका भाग ८ अंक ३।

का उल्लेख है। इससे सिद्ध होता है कि नासिक-पर्यन्त कृष्ण के समय तक आन्ध्र-वंश का अधिकार स्थापित हो गया था। पूना और नासिक के बीच नानाघाट की गुफा में एक लेख और एक मूर्ति खुदी है। उस मूर्ति पर '**राया सिमुक सातवाहनो**' लिखा है और उक्त लेख का आशय यह है कि सिमुक के पुत्र शातकर्णि ने अनेक विजय प्राप्त की और दो बार अश्वमेध यज्ञ किये। उसकी स्त्री का नाम नागनिका था, वह एक महारथी की पुत्री थी, शक्तिश्री और वेदश्री नामक उसके दो पुत्र थे, शातकर्णि की मृत्यु होने पर अपने पुत्र वेदश्री की बाल्यावस्था में राज्य-प्रबन्ध स्वयं नागनिका ने अपने हाथ में ले रखा था। इन पूर्वोक्त लेखों से पुराणोक्त वंश-क्रम की पुष्टि होती है जिसमें सिमुक और कृष्ण के पश्चात् शातकर्णि के राजा होने का उल्लेख है। यह शातकर्णि कलिङ्ग के जैन राजा खारवेल का समकालीन था। खारवेल के शिलालेख से पाया जाता है कि 'पश्चिम के स्वामी शातकर्णि के बल की अवहेलना कर खारवेल ने अपनी सेना उसके अधीन देशों में भेजी थी'। दक्षिण भारत में शातकर्णि का प्रताप बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसने दो अश्वमेध-यज्ञ किये थे। खारवेल और नानाघाट के लेखों की लिपियाँ एक ही समय की मालूम होती हैं जिससे अनुमान होता है कि खारवेल के लेख का शातकर्णि और नानाघाटवाला शातकर्णि एक ही व्यक्ति है। शातकर्णि के बाद आन्ध्र-वंश के इतिहास में कुछ काल तक न तो किसी राजा का लेख और न तो सिक्का ही मिला है। केवल पुराणों से उनकी नामावली मिलती है। मत्स्यपुराण में इस वंश के २६ राजाओं के नाम दिये हैं और उनका राज्यकाल ४६० वर्ष लिखा है। ई० पूर्व २२० के आसपास यह वंश स्थापित हुआ और ई० स० की तीसरी शताब्दी के दूसरे चरण के लगभग इसका अवसान हुआ।

साँची के प्रसिद्ध स्तूप के तोरण पर लिखा है कि राजा शातकर्णि के शिल्पकार ने उस पर उत्कीर्ण मूर्ति का निर्माण किया था। यह कौन शातकर्णि था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये नाम अनेक आन्ध्र-वंशी राजाओं के थे। किन्तु यह तो साँची के इस लेख से निर्विवाद सिद्ध है कि एक समय आन्ध्र-वंश का साम्राज्य विदिशा तक फैल गया था और भारत के

प्रसिद्ध साँची के स्मारक उसके राज्य-काल में बने थे। विदिशा पर शुङ्ग-वंशियों का अधिकार बराबर अन्त (ई० पू० ७२) तक रहा। शुङ्ग-काल के उपरान्त किसी शातकर्णि ने उज्जैन और विदिशा तक विजय प्राप्त की होगी।

शकों का दक्षिण भारत में आन्ध्र-वंशियों से युद्ध—आन्ध्र-वंशी राजाओं का शक और पह्लव आदि विदेशी जातियों से बराबर घोर युद्ध होता रहा। कुछ काल के लिए क्षहरात वंश के शकों का आन्ध्र-राज्य के कुछ प्रदेशों पर आधिपत्य भी हो गया था। सिक्कों और शिलालेखों से पता चलता है कि 'महाक्षत्रप' उपाधिधारी **नहपान** का राज्य दक्षिण में नासिक और पूना से लगाकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताने में पुष्कर तक फैला हुआ था। विंसेंट स्मिथ का अनुमान है कि नहपान का राज्य-काल ई० स० की प्रथम शताब्दी के मध्य भाग में संभवतः होना चाहिए। अन्त में सातवाहन-वंश के राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि ने क्षहरात वंश को नष्ट कर नहपान के राज्य का बड़ा हिस्सा अपने राज्य में मिला लिया।

गौतमीपुत्र शातकर्णि—आन्ध्र-वंश का २३वाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि परम प्रतापी था। द्वितीय शताब्दी के आरम्भ में ई० सन् ११९ के आस-पास उसने अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर और नहपान के सिक्कों को एकत्र कर उन्हें अपनी राज-मुद्राओं से फिर अङ्कित कराये थे। नासिक की एक गुफा से गौतमीपुत्र शातकर्णि की राज-माता **गौतमी बालश्री** का एक लेख मिला है जिसमें उसने अपने पुत्र के प्रखर प्रताप और पराक्रम का बड़ा बखान किया है। इस लेख में शोक-सन्तप्त माता ने अपने प्रतापी पुत्र के अत्यन्त वियोग में अपने हृदय के उद्‌गार प्रकट किये हैं। उस लेख का आशय यह है कि **'राजाधिराज' गौतमीपुत्र** ने क्षत्रियों का मान मर्दन किया था; **शक, यवन** और **पह्लव** लोगों को परास्त किया था; क्षहरात वंश नष्ट कर डाला था और सातवाहन-वंश की विजय-वैजयन्ती प्रतिष्ठापित की थी और वर्णाश्रम-धर्म की पुनः स्थापना की थी।* उस लेख से प्रकट होता है कि

* "खतिय दपमान मदनम सकयवनपह्लवनिसूदनस खखरात वमनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरम"

कार्ली की चैत्य-गुफा

शातकर्णि ने गुजरात, सुराष्ट्र, मालवा का पूर्व भाग, मध्यभारत, बरार, कोंकन और नासिक से उत्तर का देश अपने राज्य में मिला लिया था। पहले इन्हीं देशों पर नहपान का अधिकार था। *

श्रीपुलुमावी—ऐसा मालूम होता है कि गौतमीपुत्र के पूर्व 'छहरात' वंश के विदेशी शत्रुओं ने आन्ध्र-राज्य के बहुत से हिस्सों पर अपनी सत्ता स्थापित कर दी थी, किन्तु इस वीर सातवाहन राजा ने फिर से अपने वंश का यश स्थापित किया और स्वदेश की शत्रुओं से रक्षा की। गौतमीपुत्र शातकर्णि का पुत्र वाशिष्ठीपुत्र **श्रीपुलुमावी** ई० स० १३० के लगभग उसका उत्तराधिकारी हुआ। **महाक्षत्रप रुद्रदामा** के समय के गिरनार के एक शिलालेख से पाया जाता है कि 'उसने दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार परास्त किया, किन्तु उससे निकट का सम्बन्ध होने के कारण उसको मारा नहीं।'† इस लेख से स्पष्ट है कि रुद्रदामा ने ई० स० १५० के पूर्व पुलुमावी को हराकर फिर से क्षत्रप-वंश का प्रताप पश्चिमी भारत के अनेक प्रान्तों में फैला दिया था। आन्ध्र देश, मध्यभारत और कोरोमण्डल से पुलुमावी के सिक्के और अमरावती, नासिक और कन्हेरी से उसके लेख मिले हैं। अतएव, यह अनुमान होता है कि इन प्रदेशों पर उसका अधिकार बना रहा। मत्स्य-पुराण के अनुसार वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी के पश्चात् **शिवश्री** राजा हुआ जिसके सिक्के भी मिलते हैं। आन्ध्र-वंश के अन्तिम राजाओं में **यज्ञश्री शातकर्णि** का राज्य-काल प्रतापशाली प्रतीत होता है।

यज्ञश्री शातकर्णि—नासिक की एक गुफा, कन्हेरी का एक चैत्य और उसके राज्य-काल के २७वें वर्ष के लेख सहित कृष्णा नदी के मुहाने पर मिला हुआ एक स्तम्भ का टुकड़ा—ये सब स्मारक इसके दीर्घकालीन शासन और प्रताप के सूचक हैं। उसके सुराष्ट्र (काठियावाड़) के चाँदी के सिक्कों से प्रतीत होता है कि उसने भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर फिर अपने वंश का

---

* बूहर, आ० स० वे० इं०, जिल्द ५, पृ० ६६।

† एपि० इं० ८—७३ और ६०।

अधिकार जमा दिया था। इससे अनुमान होता है कि यज्ञश्री ने पश्चिमी भारत के क्षत्रपों को हराकर उनके सिक्कों पर अपना नाम खुदवाकर फिर से उन्हें चलाया था। क्षत्रपों के सिक्कों का ढङ्ग तद्वत् रखकर उन पर उसने अपना नाम अङ्कित करा दिया था। विंसेंट स्मिथ ने यज्ञश्री का समय ई० स० १६६ से १९६ तक अनुमान किया है। यज्ञश्री के पश्चात् **श्रीचन्द्र** के कुछ सिक्के मिलते हैं। ई० स० २२५ के आस-पास आन्ध्र-वंश के इतिहास का पर्यवसान होता है। आन्ध्र-वंश की पुराणोक्त वंशावली उसके राज्य-काल के सिक्कों और शिलालेखों से प्रामाणिक सिद्ध होती है। किन कारणों से इस राज-वंश का पतन हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। ई० स० की तृतीय शताब्दी के दक्षिण भारत के इतिहास की घटनाएँ हमारी दृष्टि से प्रच्छन्न हैं।

सातवाहन युग का दक्षिण भारत--पश्चिम भारत के शिलालेखों से आन्ध्र-वंशियों के राज्य-काल की दक्षिण प्रान्तों की सामाजिक और आर्थिक दशा का बहुत कुछ पता चलता है।* आन्ध्र-वंश के राज्यकाल में दक्षिण भारत में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही धार्मिक सम्प्रदाय उन्नत अवस्था में थे। बौद्ध भिक्षुओं के रहने के लिए गुफाएँ कई स्थानों में खोदी गई थीं। उनके भरण-पोषण के लिए गाँवों की आमदनी का विनियोग कर दिया जाता था और दातव्य धन श्रेणियों के कोष में रख दिया जाता था जिसके ब्याज से उन्हें भोजन-वस्त्र दिये जाते थे। राजा लोग अनेक अश्वमेध आदि यज्ञ करके ब्राह्मणों को विपुल दक्षिणा देते थे। **शैव-धर्म** भी लोकप्रिय था। **सङ्कर्षण** और **वासुदेव** के नाम से **कृष्ण** की भी पूजा प्रचलित थी। **इन्द्र** और **धर्म** की भी पूजा लोगों में प्रचलित थी। बौद्ध और हिन्दू-धर्मों में परस्पर कोई द्वेष-भाव न था। हिन्दू-धर्मावलम्बियों ने बौद्धों के लिए अनेक गुफाएँ बनवाई थीं। विदेशी शक, यवन आदि इस समय स्वेच्छा से बौद्ध और हिन्दू-धर्म के अनुयायी हो गये थे।

---

* डी० आर० भण्डारकर—'सातवाहन-युग का दक्षिण भारत', इं० एं०, १९१८।

समाज, व्यापार और व्यवसाय—सातवाहन-काल में दक्षिण की प्रजा चार वर्गों में विभाजित थी। सबसे उच्च श्रेणी में 'महारथी', 'महाभोज' और 'महासेनापति' आदि उपाधियाँ धारण करनेवाले सरदार थे, जो राष्ट्रों (ज़िलों) के शासक थे। दूसरे वर्ग के पदाधिकारियों में अमात्य, महामात्र और भाण्डागारिक (कोषाध्यक्ष) थे। इसी वर्ग में नैगम (व्यापारी), सार्थवाह (सौदागर) और श्रेष्ठी (सेठ) भी अन्तर्गत थे। तीसरे वर्ग में लेखक, वैद्य, कृषक, सुवर्णकार और गान्धिक (गन्धी) थे। चौथे वर्ग में बढ़ई (वर्धकि), माली (मालाकार), लुहार और मछुए शामिल थे।

उस समय श्रमजीवियों की श्रेणियाँ बनी हुई थीं। तेली, कुम्हार, गन्धी, जुलाहे, अन्न बेचनेवाले, सार्थवाह (व्यापार करनेवाले), पीतल के बर्तन बनानेवाले इत्यादि श्रेणियों में सङ्गठित थे। लोग इनके कोष में अपना धन ब्याज के लिए जमा करा देते थे। दाताओं के दान-पत्र 'निगम-सभा' (नगर-सभा) की पत्रिकाओं में लिखे जाकर जनता में प्रकाशित कर दिये जाते थे। विदेशों से बराबर व्यापार होता था। भड़ौच, सोपारा, कल्याण और मलाबार के बन्दरगाहों द्वारा विदेशों से व्यापारिक वस्तुओं का ख़ूब आदान-प्रदान होता था। पैठान और तगर नाम के नगर दक्षिण के मध्यवर्ती व्यापार के बड़े केन्द्र थे।

साहित्य—इस युग में कई प्राकृत के ग्रन्थ भी रचे गये। आन्ध्र-वंशी राजा **हाल** ने श्रृङ्गार-रस की 'गाथा-सप्तशती' की रचना की थी। **गुणाढ्य** की बृहत्कथा भी दक्षिण में ही लिखी गई थी जिसके आधार पर अनेक 'कथा-कोष' और कथासरित्सागर आदि ग्रन्थ संस्कृत में आगे चलकर रचे गये थे।

तेरहवाँ परिच्छेद

भारत पर विदेशियों का आक्रमण

भारतीय यवनों का इतिवृत्त—जब अशोक का प्रताप समस्त भारत में छा रहा था, जब उसकी कीर्ति-पताका देश देशान्तरों में फहरा रही थी, उसी समय लगभग ई० स० के २५० वर्ष पूर्व पश्चिमी एशिया के यूनानी साम्राज्य के अन्दर दो क्रान्तिकारी घटनाएँ हुईं जिनके कारण उस साम्राज्य के दो बड़े प्रान्त स्वतन्त्र हो गये। इन स्वतन्त्र हुए प्रदेशों को **बैक्ट्रिया** तथा **पार्थिया** कहते थे। हिन्दूकुश पर्वत तक तो मौर्य-साम्राज्य फैला ही हुआ था। अतएव, हिन्दूकुश के समीपवर्ती प्रान्तों में होनेवाली क्रान्तिकारी घटनाओं का असर भारत के इतिहास पर होना अवश्यम्भावी था।

बैक्ट्रिया—चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन **सैल्यूकस** की मृत्यु ई० पू० २८० में हुई थी। उसके पौत्र **एंटियोकस थियोस** के शासन-काल में बैक्ट्रिया और पार्थिया पश्चिमी एशिया के सीरियन साम्राज्य से निकल गये। हिन्दूकुश और आक्सस नदी के बीच का प्रदेश, जो बैक्ट्रिया या बाह्लीक कहलाता था, बहुत सभ्य और धन-सम्पन्न था। उसमें एक सहस्र नगर बसे हुए थे। बैक्ट्रिया की राज्य-क्रान्ति का नेता वहाँ का प्रान्तीय यवन शासक **डियोडोटस** था। बैक्ट्रिया यूनानी सभ्यता का केन्द्र था। वहाँ के सिक्के यूनानी शैली के थे, उन पर यवनों के देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हुई थीं और राजाओं की मूर्तियाँ ऐसे सुचारु रूप से अङ्कित की गई थीं कि वे सिक्के यूनानी कला के उत्तम निदर्शन समझे जाते हैं। बैक्ट्रिया का यूनानी राज्य चिरस्थायी न हो सका। इस देश में अशान्ति और हलचल बराबर जारी रही। ई० पू० २३० के लगभग बैक्ट्रिया के राजा डियोडोटस के वंश को **यूथिडिमस** ने राज्य-भ्रष्ट कर दिया और तत्पश्चात् दोनों के वंशजों में निरन्तर युद्ध होते रहे।

पार्थिया—कास्पियन समुद्र के दक्षिण-पूर्व के प्रदेश पार्थिया में भी **आर्सेकस** ने ई० पू० २५० के आस-पास स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जिस पर उसके वंश ने क़रीब ५०० वर्ष तक राज्य किया।

ऐंटियोकस और डिमेट्रियस के भारत पर आक्रमण—ई० पू० २०६ में सिरिया के सम्राट् ऐंटियोकस ने हिन्दूकुश पारकर भारत पर हमला किया। गान्धार के राजा **सुभागसेन** के साथ उसका युद्ध हुआ और फिर उन दोनों में आपस में सन्धि हो गई। इस आक्रमण के बाद बैक्ट्रिया के चौथे यवन राजा **डिमेट्रियस** ने काबुल और पञ्जाब पर ई० पू० १९० के आस-पास अपना अधिकार जमाया। यवन लोगों के आक्रमणों से मौर्य-साम्राज्य की जड़ हिल गई। प्राचीन ज्योतिष के एक ग्रन्थ गार्गी-संहिता से पता चलता है कि यवनों ने न केवल साकेत (अयोध्या), पाञ्चाल और मथुरा पर आक्रमण किये थे, किन्तु वे पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे। परन्तु ये यवन अधिक दिन तक भारत के मध्यदेश में न ठहर सके; उनमें परस्पर गृहयुद्ध उठ खड़ा हुआ। अपने आपस के युद्धों के कारण वे भारत से लौट गये।* यवन लोगों के साकेत और माध्यमिक (चित्तौड़) तक आक्रमण करने का उल्लेख पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में किया है।† ऐसी भयानक परिस्थिति में भारत के भीतर के प्रदेशों में यवनों के प्रवाह को वीर सेनानी पुष्यमित्र शुङ्ग ने कुछ काल तक रोका था। किन्तु इस समय तक यवनों का अधिकार भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में धीरे-धीरे दृढ़ हो चुका था। यवनों में डेमेट्रियस प्रताप-शाली राजा था। उसने सिन्ध और अफ़ग़ानिस्तान में अपने नाम के अनेक नगर स्थापित किये थे। पतञ्जलि ने सौवीर (सिन्ध) में '**दात्तामित्री**' नाम के नगर

---

* "ततः साकेतमाक्रम्य पाञ्चालान् मथुरां तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्॥
मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदाः।
तेषामन्योन्यसंभावा (?) भविष्यन्ति न संशयः॥
आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणम्।—बृहत्संहिता, १—३८।

† "अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनो मध्यमिकाम"—महाभाष्य।

का उल्लेख किया है, जिसे सम्भवतः उसी ने बसाया हो। डेमेट्रियस ने भारत में एक नया राज्य प्राप्त किया था किन्तु बैक्ट्रिया का राज्य उसके हाथ से निकल गया। उसके प्रतिस्पर्धी **यूक्रेटिडस** ने उसके राज्य पर बराबर हमले जारी रखे। इस समय के बाद यवनों के दो राजवंशों का पता भारत के इतिहास से चलता है। उन यवन-राजाओं का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। न तो उन यवन-राजाओं का वंश-क्रम, न उनके परस्पर का सम्बन्ध और न ठीक-ठीक राज्य-काल ही निश्चित किया जा सकता है। उनका परिचय अधिकतर उनके चलाये हुए सिक्कों ही से मिलता है। भारत में मिले हुए उनके सिक्कों से चालीस के क़रीब यवन-राजाओं की नामावली का पता चला है। वे बैक्ट्रिया और भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में लगभग ई० पू० २५० से ई० पू० २५ तक राज्य करते रहे। जब तक उनका बैक्ट्रिया पर अधिकार रहा उनके सिक्के यूनानी शैली और तौल के अनुसार ढाले गये थे, किन्तु जब उन्होंने भारतवर्ष में पदार्पण किया तब से उनके सिक्कों का रङ्ग-ढङ्ग बदल गया। यवनों के भारतीय सिक्कों पर यूनानी और प्राकृत भाषाओं के लेख उत्कीर्ण किये जाने लगे और वे ईरान की तौल के अनुसार बनाये जाने लगे। उनके ये सिक्के पश्चिमोत्तर भारत की विजय के सूचक हैं।

भारतीय यवन राजाओं के सिक्कों की एक ओर प्राचीन यूनानी लिपि और भाषा का लेख और दूसरी ओर उसी आशय की खरोष्ठी लिपि और प्राकृत भाषा का लेख है।* इनमें राजा का नाम और उसकी उपाधियाँ

---

* यूनानी राजाओं के सिक्कों पर निम्नलिखित प्रकार के लेख खोदे हुए पाये जाते हैं—

(१) डिमेट्रिअस—'महारजस अपरजितस डेमेत्रियस'।

(२) मिनैंडर—'महारजस ध्रमिकस मेनद्रास'।

'महारजस त्रतारस मेनन्द्रस'।

(३) यूक्रेटिडस—'महारजस रजदिरजस इवुक्रतिदस'।

(४) एंटिअल्किडस—'माहारजस जयधरस अंति अलिकिदस'।

(५) एपोलोडोटस—'महारजस अपलदतस त्रदतस'।

उत्कीर्ण रहती हैं। उदाहरणार्थ, हेलिओक्लीज़ के सिक्कों पर प्राकृत का लेख—'**माहारजस ध्रमिकस हेलियक्रेयस**'—खुदा रहता है। इस प्राकृत के लेख के प्रयोग से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये सिक्के हिन्दुस्तान में ही प्रचारार्थ बनवाये गये होंगे। उनमें खरोष्ठी लिपि के प्रयोग से अनुमान होता है कि काबुल और पञ्जाब में, जहाँ अशोक ने भी खरोष्ठी लिपि में अपने शिलालेख खुदवाये थे, उन यवनों का राज्य होगा।

यवनों के भारत के आभ्यन्तर प्रदेशों पर आक्रमण—पतञ्जलि ने व्याकरण-महाभाष्य में अपने समय की भूतकालिक घटनाओं के उदाहरण देते हुए किसी यवन राजा का '**माध्यमिका**' और '**साकेत**' पर आक्रमण करने का उल्लेख किया है।* माध्यमिका† नामक प्राचीन नगर चित्तौड़ के निकट था और साकेत अयोध्या का नाम था। महाकवि कालिदास-रचित '**मालविकाग्निमित्र**' नाटक से पाया जाता है कि शुङ्गवंश के संस्थापक पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े को सिन्धु (राजपूताने की काली सिन्ध) नदी के तट पर यवनों ने पकड़ लिया था, जिसको कुमार वसुमित्र लड़कर छुड़ा लाया था। ये घटनाएँ कदाचित् यवन-राजा **मिनेन्द्र** के समय की हों। मिनेन्द्र के दो चाँदी के सिक्के माध्यमिका से मिले हैं जो इस अनुमान की पुष्टि करते हैं।‡ स्ट्राबो ने भी लिखा है कि **मिनेन्द्र** ने सिन्ध, सुराष्ट्र और सागरद्वीप (कच्छ) तक अधिकार कर लिया था। गार्गी संहिता में भी—"दुष्टात्मानो विक्रान्ताः यवनाः"—दुष्ट और विक्रान्त यवनों के साकेत, मथुरा, पाञ्चाल और पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने

---

* 'अरुणद्यवनो माध्यमिकान्—अरुणद्यवनः साकेतम्'।

† 'राजपूताने में सब से पुराने लेखवाले सिक्के 'माध्यमिका' नामक प्राचीन नगर से मिले हैं, जिन पर '**मझमिकाय शिबिजनपदस**'—शिबि देश के माध्यमिका नगर का सिक्का—लेख है। ये सिक्के वि० सं० के पूर्व के तीसरी शताब्दी के आस-पास के हैं, यह उनकी लिपि से अनुमान होता है। ओझा—राज० का इति० पृ० ३४,

‡ ओझा—वही पृष्ठ ९८

का उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये सब प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख मिनेन्द्र के आक्रमण के सूचक हों।

मिनेन्द्र—यवन राजाओं में मिनेन्द्र बड़ा प्रतापी था। काबुल में उसका शासन ई० स० पूर्व १६० से १४० तक रहा। उसके अनेक प्रकार के सिक्कों से सूचित होता है कि वह अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर शासन करता था। स्ट्रैबो ने भी लिखा है कि मिनेन्द्र ने सिकन्दर से भी आगे बढ़कर व्यास नदी के पार के देशों पर आक्रमण किये थे। वह राजा **श्रमण नागसेन** के उपदेश से बौद्ध हो गया था। **'मिलिन्द पन्हो'** नामक पाली के ग्रन्थ में मिनेन्द्र और नागसेन का निर्वाण-सम्बन्धी संवाद मिलता है। उक्त ग्रन्थ से पता चलता है कि उसकी राजधानी पञ्जाब में 'साकल' नगर थी, जो उस समय बहुत समृद्धिशाली था। प्लूटार्क ने लिखा है कि मिनेन्द्र ऐसा न्यायप्रिय और लोकप्रिय राजा था कि उसका देहान्त होने पर अनेक शहरों के लोगों ने उसके भस्मावशेष आपस में बाँट लिये और अपने-अपने स्थानों में ले जाकर उन पर स्तूप बनवाये। मिनेन्द्र का नाम कुछ सिक्कों पर 'मेनन्द्र' लिखा मिलता है। पेरिप्लस के लेखक के समय में (ई० स० २४०) एँपोलोडॉटस और मिनेन्द्र के सिक्के भड़ौच में शायद प्रचलित थे।

शाकल नगर का वैभव—मिनेन्द्र की राजधानी सागल (स्यालकोट) के वैभव का वर्णन पाली भाषा के मिलिन्द-पन्हो में इस प्रकार किया गया है—'यह नगर व्यापार का बड़ा केन्द्र है। प्रत्येक देश के मनुष्य इसके बाज़ारों में मिलते हैं। बनारस के व्यापारी, यूनान, अरब और चीन के जल और स्थल मार्गों द्वारा व्यापार करनेवाले यहाँ एकत्रित होते हैं। इसमें उपवन, वाटिकाएँ, झील और तालाब आदि बहुत अधिकता से हैं। इसके चारों ओर बहुत से दृढ़ दुर्ग और बुर्ज़ हैं। इसमें गलियों और हाटों की भली भाँति रचना की गई है। इसमें विशाल प्रासाद और भवन हैं जो हिमालय के शिखर की भाँति ऊँचे हैं। इसके राजमार्ग ब्राह्मणों, धनवानों, शिल्पियों, सेवकों और सभी तरह के लोगों से भरे रहते हैं। इसकी हाटों में असंख्य बहुमूल्य द्रव्य अच्छी तरह सजाये हुए हैं जिनसे दूकानें भरी पड़ी हैं इत्यादि।' उक्त वर्णन से प्रकट होता है कि

पाटलिपुत्र के सदृश पश्चिमोत्तर भारत में इस समय शाकल भी प्रसिद्ध और विभवशाली नगर था।*

ऐंटियाल्किडस—यवनों में दूसरा उल्लेख करने योग्य **ऐंटियाल्किडस** नामक तक्षशिला का राजा था। उसके भेजे हुए राजदूत **हेलियोडोरस** का एक स्तम्भ-लेख भेलसा के समीप बेसनगर से मिला है। वह तक्षशिला के राजा का दूत बनकर विदिशा के राजा **भागभद्र** के दरबार में आया था। वहाँ उसने 'देवदेव वासुदेव का गरुड़ध्वज स्तम्भ' बनवाया। उस पर उत्कीर्ण लेख में हेलियोडोरस ने अपने आप को 'भागवत'-वैष्णव-धर्म का अनुयायी कहा है। यह लेख भक्ति-सम्प्रदाय के इतिहास के लिए बड़े महत्त्व का है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ई० स० के पूर्व दूसरी शताब्दी में यवन राजाओं का यवन राजदूत हिन्दू-धर्म की भक्ति-सम्प्रदाय का अनुयायी हो गया था। इससे वैष्णव-धर्म की प्राचीनता और उसके प्रचार की व्यापकता प्रमाणित होती है, क्योंकि विदेशी यवन लोग भी इस सम्प्रदाय में ग्रहण कर लिये जाते थे।† काल की बड़ी महिमा है कि जो मिनेन्दर के सदृश विजयी यवन भारत पर शासन करने आये थे, वे भारत के ऊर्जित धर्म से प्रभावित होकर उसके अनुयायी हो गये।

डाक्टर वि० स्मिथ का कथन है कि बजाय इसके कि भारत के राजा और प्रजा यवन लोगों का अनुकरण करें उस समय भारत में आकर बसनेवाले

---

* के० पी० जायसवाल—हिन्दू राज्यतन्त्र, पृ० १५०-१५१।

† भागवत-धर्म या भक्ति-मार्ग सब के लिए खुला था। इसमें ऊँच-नीच या जाति-पाँति के भावों की पहले ही से अवहेलना की गई थी। श्रीमद्भागवत में इस धर्म को 'पतितपावन' कहा गया है :—

"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसाः आभीरकङ्काःयवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥"—भागवत।

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः।"

—भगवद्गीता।

यवनों की, चाहे वे राजा हों या साधारण मनुष्य, हिन्दुत्व ग्रहण करने की ओर प्रवृत्ति रहती थी। अशोक-काल के एक साँची के लेख में भी यवन धर्मरक्षित के कोंकण (महाराष्ट्र) में बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ भेजे जाने का उल्लेख है।

बेसनगर का स्तम्भ-लेख—बेसनगर के स्तम्भ-लेख से अनेक ऐतिहासिक तर्कनाएँ और अनुमान फलित होते हैं।* बौद्ध-धर्म की भाँति हिन्दुओं का भक्ति-सम्प्रदाय सार्वजनिक था, जिसमें जाति-भेद, वर्ण-भेद और देश-भेद की उपेक्षा की जाकर सभी लोग दीक्षा लेने के अधिकारी माने जाते थे। हेलियोडोरस यवन-राजदूत था, यूनान की उत्कृष्ट संस्कृति का वह प्रतिनिधि समझा जाना चाहिए। यदि उस पर हिन्दू-धर्म का गहरा प्रभाव पड़ा तो यह मानना चाहिए कि भारतीय धर्म या संस्कृति अन्य देशों के धर्म की अपेक्षा वास्तव में बहुत ही उत्कृष्ट थी। भागवत-धर्म की प्राचीनता इस शिलालेख से निर्विवाद सिद्ध है। इस शिलालेख के मिलने के पहले पाश्चात्य विद्वान् प्रायः यह मानते थे कि **भगवद्गीता** ईसा के पश्चात् रची गई थी और

---

* "देवदेवस वासुदेवस गरुडध्वजे अयं
कारिते इअ हेलिओदोरेण भागवतेन
दियसपुत्रेण तखसिलाकेन
योनदूतेन आगतेन महाराजस
अंतलिकितस उपंता सकासं रञो
कासिपुत्रस भागभद्रस त्रातारस
वसेन चतुदसेन राजेन वधमानस

देवदेव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज, तक्षशिला-निवासी, दियस के पुत्र, भागवत (धर्मानुयायी) हेलियोदोर ने बनवाया, जो तक्षशिला के महाराज अन्तलिकितस के यहाँ से यवन-दूत होकर राजा काशीपुत्र भागभद्र के समीप आया, जिसके वर्धिष्णु राज्य का १४ वाँ वर्ष था और जो 'त्राता' (कहलाता था) —बेसनगर का स्तम्भलेख
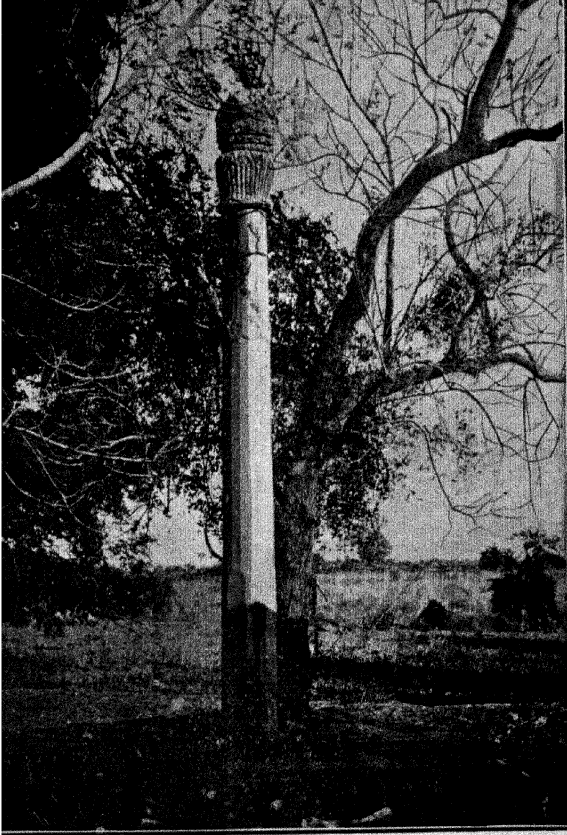
विदिशा (भिलसा) के समीप बेसनगर का गरुड़-ध्वज

उसमें बाईबिल के अवतरण निविष्ट कर दिये गये थे, किन्तु उक्त कल्पना नितान्त निर्मूल है।

ईसा के जन्म से लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व तक्षशिला का यवन-राजदूत **'देवदेव वासुदेव'** का उपासक था। गीता में भी **'वासुदेव'** परम उपास्य कहे जाते हैं।* हिन्दुओं के भागवत धर्म का इस समय भारत में व्यापक प्रभाव देख पड़ता है। बौद्ध-धर्म के अनीश्वरवाद के विरुद्ध इस धर्म ने भगवद्भक्ति, संयम, त्याग और अप्रमाद की लोगों को शिक्षा दी थी।†

हेलियोडोरस तक्षशिला से विदिशा के शुङ्ग-सम्राट् भागभद्र (भागवत) के पास राजदूत होकर आया था। इससे अनुमान होता है कि यवन राजा इस समय शुङ्ग-सम्राट् के साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इच्छुक थे। भागभद्र प्रतापशाली राजा था जैसा कि इस शिलालेख में दिये हुए विशेषणों से सूचित होता है।‡

अन्तिम यवन राजा हर्मिअस—सिक्कों और शिलालेखों से पता चलता है कि तक्षशिला और कपिशा (काबुल) के यवन-राज्य पर शकों ने अधिकार कर लिया। किन्तु काबुल की घाटी पर यवनों का अधिकार कुछ अधिक काल तक रहा। अन्त में कुशन सरदार कुजूल कदफिसस ने ई० स० २५ के आस-पास काबुल के यवन-राजा हर्मिअस को अपने अधीन कर धीरे-धीरे यवनों की राज-सत्ता नष्ट कर डाली।§

---

* 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'

† त्रिनि अमुत-पदानि [सु] अनुथितानि।

नयन्ति स्वग दम त्याग अप्रमाद'। बेसनगर का लेख।

‡ 'भागभद्रस त्रातारस......वधमानस' " " रैप्सन-ऐंशेंट इंडिया, पृ० १३३।

§ कुछ सिक्के ऐसे मिले हैं जिनमें एक ओर **हर्मिअस** का नाम ग्रीक अक्षरों में लिखा है और दूसरी ओर '**कुजुलकसस कुशनयवुगस ध्रमथिदस**' खरोष्ठी लिपि में खुदा है। इससे अनुमान होता है कि हर्मिअस प्रथम कदफिस का सामन्त हो गया था।

यवनों का प्रभाव—भारत का यवनों के साथ सिकन्दर के समय से ई० स० के आरम्भ तक बराबर सम्पर्क रहा। लगभग इन तीन सदियों तक उन्होंने समय-समय पर भारत पर आक्रमण किये। समय समय पर वे राजदूत होकर आये और अन्त में पश्चिमोत्तर भारत पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। ये यवन लोग यूरोप की विद्या, कला और विज्ञान के प्रवर्तक माने जाते हैं। पाश्चात्य सभ्यता में वे अग्रसर थे। एक विद्वान् का तो यहाँ तक दावा है कि प्रकृति की शक्तियों के सिवा संसार में कोई जङ्गम वस्तु नहीं जिसकी उत्पत्ति यूनान में न हुई हो।* क्या यह सम्भव है कि भारत के साथ यूनान का इतना दीर्घकालीन सम्पर्क रहते हुए भी उस पर यवनों की सभ्यता का असर न पड़ा हो? पाश्चात्य विद्वान् इस प्रश्न की मीमांसा प्रायः पक्षपातपूर्ण दृष्टि से करते हैं और युक्तियाँ देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि भारत की संस्कृति पर यूनानी सभ्यता की छाप लगी और हिन्दुओं ने यवनों से बहुत सी बातें सीखीं और वे विद्या, कला और विज्ञान के आविष्कारों के लिए उनके अत्यन्त ऋणी हैं। ऐतिहासिक रीति से इस प्रश्न पर विचार करने से कुछ और ही परिणाम निकलता है। पहले पहल सिकन्दर ने पञ्जाब पर आक्रमण किया। वह १८ महीने तक यहाँ ठहरा, किन्तु वह युद्ध में निरन्तर व्यस्त रहा। यूनान की संस्कृति का भारत पर ऐसी स्थिति में क्या असर पड़ सकता था! सिकन्दर के बाद मौर्य-साम्राज्य का उदय हुआ। मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त ने यवन-सम्राट् सेल्युकस को परास्त किया और सिन्धु नदी से हिन्दूकुश तक का प्रदेश उससे ले लिया। सेल्युकस के राजदूत मेगस्थनीज़ ने जो-जो बातें भारतीय समाज, राजनीति, धर्म और सभ्यता के विषय में अपने ग्रन्थ में लिखी हैं उनसे यूनानियों के सम्पर्क से भारतीयों का प्रभावित होना सिद्ध नहीं होता। हिन्दुओं ने यूनानियों से युद्ध-कला भी नहीं सीखी, जिसमें वे अधिक कुशल थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ज्ञात

---

* "Except the blind forces of nature nothing moves in this world, which is not Greek in its origin."—Sir Henry Maine.

होता है कि भारत के मौर्य-कालीन शासन, समाज, विद्या और कला पर यवनों का लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ा था। सम्राट् अशोक ने यवन और अन्य देशों में धर्म-प्रचारक भेजकर भारत को जगद्गुरु की आदरणीय पदवी पर अधिष्ठित किया था। उसके राज्य-काल में भला यह कब सम्भव था कि भारतीय यूनानियों से उनकी विद्या या विज्ञान को सीखते? अशोक के पश्चात् बैक्ट्रिया के यवन विजेताओं ने फिर पञ्जाब और सिन्ध पर आक्रमण-कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया, किन्तु उनकी मुद्राओं के सिवा उनके राज्य-काल के बहुत थोड़े अवशेष हमें उपलब्ध हुए हैं, जिनसे यही सिद्ध होता है कि वे भारतीय धर्मों के अनुयायी होकर हिन्दू-समाज में हिल-मिल गये थे। उनके सम्पर्क का लेशमात्र प्रभाव भारत की न तो सामाजिक और न राजनीतिक संस्थाओं पर देख पड़ता है। यवन राजाओं को अपने सिक्कों पर भारतीय भाषा और लिपि में लेख अङ्कित कराने पड़े, क्योंकि उनके राज्य में यूनानी भाषा का प्रचार न हो सका था। तक्षशिला के राजा एँटियाल्किडस ने अपने सिक्के भारतीय तौल के अनुसार बनवाये। नासिक, जुन्नर, कार्ली आदि दक्षिण की गुफाओं में उत्कीर्ण लेखों से प्रकट होता है कि भारतीय यवनों में बहुतों ने बौद्धमत ग्रहण कर लिया था।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में यवनों का उल्लेख आदर-सूचक शब्दों में प्रायः नहीं मिलता। 'यवनाः दुष्टविक्रान्ताः' यह वृद्ध गर्ग ने लिखा है। भारतीयों की दृष्टि में सिकन्दर या मिनन्दर निरे रणरसिक योद्धा थे, न कि किसी उत्तम संस्कृति के प्रचारक। वास्तव में यवन संस्कृति के प्रभाव का स्पर्श-मात्र भी भारतीयों को नहीं हुआ। उनके विचारों और उनकी संस्थाओं में यूनानियों के सम्पर्क से कोई परिवर्तन या संस्कार नहीं हुआ। वे अपने मौलिक स्वरूप में विद्यमान रहीं इसका इतिहास साक्षी है।

प्राचीन यवनों का कला-कौशल निःसन्देह आश्चर्यजनक था, किन्तु भारतीय उससे भी प्रभावित नहीं हुए। मौर्य और शुङ्ग-काल के शिल्प की कृतियों पर यूनानियों की कला की छाया बिलकुल भी दृष्टिगत नहीं होती। साँची के स्तूप के तोरण की सजावट 'विदिशा के हाथीदाँत के कारीगरों ने' की थी जैसा

कि उस पर खुदे हुए लेख से प्रकट होता है।* सारांश यह कि यूनान का प्रभाव भारतीय सभ्यता पर यत्किंचित् भी नहीं पड़ा, बल्कि इतिहास से यही सिद्ध होता है कि यवन लोग भारत में बसकर सर्वथा भारतीय हो गये।†

---

* 'वेदिसकेहि दन्तकारेहि रूपकम्म कतम्'—लूडर्स लिस्ट आव ब्राह्मी इंस्क्रिपशन्स, सं० ३४५।

† स्मिथ—ऑक्सफ़र्ड हि० आव् इं०—पृ० १३८-१४१।
" अर्ली हिस्टरी " " —पृ० २५१-२५६।

चौदहवाँ परिच्छेद

पह्लव और शक जातियों के आक्रमण

शकों का आक्रमण—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों पर यवनों के आक्रमण का इतिहास हम पहले लिख चुके हैं। उनके पश्चात् दो और जातियों ने उन्हीं प्रान्तों पर हमले किये। ये आक्रमणकारी भारतीय साहित्य और शिलालेखों में शक और पह्लव कहलाते थे। शक लोगों का टिड्डीदल कई सदी पहले चीन देश से निकल निकलकर पश्चिमी एशिया और यूरोप में फैल रहा था। इस असभ्य जङ्गली जाति के आक्रमणों से मध्य एशिया की तत्कालीन ईरानी और यूनानी सभ्यता पर घोर सङ्कट पड़े।

इन शकों का एक दल बैक्ट्रिया (बल्ख़) के उत्तर के प्रदेशों में और दूसरा दल पार्थियन-साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिम के प्रान्त में, जो आगामी काल में शक-स्थान (सीस्तान) के नाम से प्रसिद्ध हुआ, आकर बस गया। शक लोग इन सभ्य देशों में भी स्थिर न रह पाये। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य में इन पर यहूची नामक बर्बर जाति के झुण्ड के झुण्ड टूट पड़े औ उन्हें स्थान-भ्रष्ट कर दिया। नतीजा यह हुआ कि शकों ने घेरकर बैक्ट्रिया के यवन-राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। पार्थिया के राजा लोग ई० पू० १३८ से ई० पू० १२३ तक शकों के हमलों को रोकते रहे, परन्तु अन्त में शकों ने शकस्थान (सीस्तान) पर अधिकार जमा लिया। धीरे-धीरे इन शकों ने भारत में पदार्पण किया।

शकों के अलावा पार्थिया के लोगों ने भी भारत पर हमला किया था। भारतीय साहित्य में ये पह्लव कहलाते थे। इनका राज्य सीस्तान, कन्दहार और उत्तरी बलोचिस्तान के प्रदेशों पर था। ये प्रदेश पहले पार्थिया के साम्राज्य में शामिल थे, किन्तु मौक़ा पाकर इनके शासक पार्थिया से पृथक्

और स्वतन्त्र हो गये। धीरे-धीरे उन्होंने राजाधिराज की पदवी अपने सिक्कों पर अङ्कित करवाई। सिक्कों से वोनोनेज़ (Vononese) नाम के पहले पह्लव राजा का अस्तित्व ज्ञात होता है। उक्त पह्लव राजवंश के साथ भारत के आक्रमणकारी शकों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शक और पह्लव राजाओं ने अपने सिक्कों पर 'राजाधिराज' की उपाधि अङ्कित करवाई थी अर्थात् वे कई सामन्त राजाओं के अधिपति थे। भारतवर्ष में इस खिताब का प्रचार शक और पह्लवों ने ही किया था और इसका प्रयोग कुशन राजा भी करते रहे। ऐसे खिताब ईरान के प्राचीन बादशाह धारण किया करते थे। सीस्तान की तरफ़ से बलोचिस्तान के द्वारा बोलन की घाटी से शकों और पार्थियावालों ने साथ ही साथ सिन्ध और पञ्जाब पर चढ़ाई की और यूनानी राजाओं के अधिकृत प्रदेशों को जीतना शुरू किया। उन्होंने यूनानी राजाओं के ढङ्ग के सिक्के चलाये, जिन पर एक ओर ग्रीक भाषा का लेख और दूसरी ओर खरोष्ठी लिपि में उसका प्राकृत-भाषा में अनुवाद होता था। पश्चिमी पञ्जाब का पहला पह्लव राजा **मोअस** था।* तक्षशिला के क्षत्रप (शासक) **पाटिक** के ताम्रपत्र में महाराज मोगा के समय संवत् ७८ में बुद्ध की अस्थियों की स्थापना का उल्लेख है। निःसन्देह यह महाराज **मोगा** और **मोअस** एक ही व्यक्ति है। परन्तु इस ताम्रलेख के संवत् के विषय में अभी कोई मत निश्चित नहीं हुआ है। गान्धार की राजधानी कपिशा में भी क्षत्रपों का शासन था। गान्धार और पश्चिम पञ्जाब में शक-पह्लवों ने यूनानियों की सत्ता समूलोन्मूलित कर डाली थी।

मथुरा के शक-क्षत्रप—जिस समय पञ्जाब और गान्धार पर पह्लवों का अधिकार जमा था उसी समय शकों की एक शाखा ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था। मथुरा से लाल पत्थर की एक सिंह की मूर्ति मिली है जिस पर खरोष्ठी लिपि के लेख खुदे हैं। इस लेख में **महाक्षत्रप राजुल** और उसके

---

* इस राजा के सिक्कों पर 'रजदिरजस महतस मोअस' —'राजाधिराज महान् मोअ' लिखा रहता है।

पुत्र **षोडास** का उल्लेख है। इस शिलालेख से मालूम होता है कि मथुरा के क्षत्रप, कपिशा और तक्षशिला के क्षत्रपों की भांति, बौद्ध धर्मावलम्बी थे, क्योंकि इसमें लिखा है कि राजुल की पटरानी ने बुद्ध की अस्थियों पर एक स्तूप बनवाया था। राजुल या रज्जुबुल ने यवन राजाओं के ढङ्ग के सिक्के बनवाये थे। इससे सिद्ध होता है कि उसने पूर्ववर्ती यवन राजाओं की सत्ता मथुरा के प्रदेश से उखाड़ दी।

संवत्प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य—'कालिकाचार्य-कथा' नामक जैन-ग्रन्थ से पता चलता है कि मध्यभारत में भी शकों ने राज्य स्थापित किया था जिन्हें एक हिन्दू राजा ने परास्त किया था। उसमें लिखा है कि ई० पू० ५८ से प्रारम्भ होनेवाले विक्रम संवत् के प्रवर्तक उज्जैन के राजा विक्रमादित्य ने जैन-धर्म के संरक्षक शकों को मालवा में परास्त किया था। ई० स० ४०५ के मन्दसोर के शिलालेख में विक्रम संवत् का 'मालव संवत्' के नाम से उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि ई० पू० ५८ में इस संवत् का प्रचारक कोई राजा था जिसने, जैन और हिन्दू अनुश्रुतियों के अनुसार, शकों को परास्त किया था। उक्त जैन-कथा में यह भी लिखा है कि विक्रम संवत् १३५ वर्ष तक प्रयोग में आता रहा, किन्तु इस अवधि के पश्चात् दूसरे किसी शक-विजेता ने दूसरा संवत् चलाया। निःसन्देह यह दूसरा संवत् शक-संवत् ही था जो ई० स० ७८ में शुरू हुआ था और जिसका विक्रम संवत् से १३५ वर्षों का अन्तर था। जिन शकों का विक्रमादित्य से मालवा में युद्ध हुआ उनके राजा ने '**शहानुशाही**' अर्थात् राजाधिराज का विरुद धारण कर रखा था। इस बात का भी उस कथा में उल्लेख है जिसका समर्थन शक राजाओं के सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से पूरी तरह होता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उक्त कथानक का आधार ऐति-

---

"We are perhaps justified in concluding that the Vikramaditya legend is to some extent historical in character."

कैम्ब्रिज हिस्टरी, पृष्ठ १६७, १६८।

हासिक है। यह अधिक सम्भव है कि पश्चिम भारत की ओर बढ़ती हुई शकों की प्रचण्ड बाढ़ को रोकनेवाला, हिन्दू आख्यानों में प्रसिद्ध, वीर विक्रमादित्य ईसा के पूर्व पहली शताब्दी में हुआ था।

गोंडोफर्निस—हम पहले कह चुके हैं कि पह्लवों और शकों में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। वोनोनेज़ के वंशज बलोचिस्तान, कन्दहार और सीस्तान में राज्य करते थे और मोअस के वंशज सिन्ध और पश्चिमी पञ्जाब पर अधिकार कर बैठे थे। इन दोनों वंशों के राज्यों पर ई० स० १६ के लगभग पह्लव राजा **गोंडोफर्निस** ने पूरा-पूरा अधिकार जमा लिया। उसके समय में पह्लवों का प्रभुत्व पूर्व ईरान और पश्चिमोत्तर भारत पर फैल गया था। उसका राज्य-काल ई० स० ४५ में समाप्त हुआ माना जाता है। उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही भारतवर्ष में पह्लवों के शासन का अन्त हो गया। ईसा की पहली शताब्दी के प्रारम्भ-काल में कुशनों का अधिकार बैक्ट्रिया में स्थापित हो चुका था और वे क्रम से भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त राज्यों पर आक्रमण कर रहे थे। तक्षशिला की खुदाई में सर जोन मार्शल को २१ चांदी के सिक्कों का ढेर हाल ही में मिला था। उन सिक्कों में क्रम से **गोंडोफर्निस, पेकोरस**, और **कुशन वीमा कद्फिस** नाम के राजाओं के विरुद खुदे हुए हैं। इन सिक्कों से अनुमान होता है कि गोंडोफर्निस के कुछ समय के बाद ही कुशनों का अधिकार तक्षशिला में हो गया था। कुशनों के आक्रमण से यूनानियों का राज्य भी, जो अब तक काबुल की घाटी में बच रहा था, नष्ट-भ्रष्ट हो गया। सिक्कों से स्पष्ट प्रकट होता है कि किस प्रकार कुशन **कुजूल कद्फिस** ने काबुल के अन्तिम यवन राजा **हर्मियस** को अपने अधीन कर लिया था। ऐसे सिक्कों पर एक ओर हर्मियस का और दूसरी ओर कुशन कुजूल कद्फिस का नाम लिखा होने से अनुमान होता है कि कुशनों का काबुल पर अधिकार होने के बाद हर्मियस, प्रथम कद्फिस के सामन्त की हैसियत से, वहाँ का शासन करता रहा था। प्रथम कद्फिस के पश्चात् वीमा कद्फिस कुशन-राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। उसने ही पह्लवों की सत्ता नष्ट करके उत्तरी भारतवर्ष में कुशन-साम्राज्य की नींव डाली।

महाराष्ट्र देश का क्षत्रप वंश--ई० स० की पहली शताब्दी के प्रारम्भ में शक जाति का अधिकार पश्चिमी भारत के प्रदेशों पर स्थापित होने लगा था। मालूम होता है कि ये लोग सिन्ध और गुजरात से होते हुए पश्चिमी भारत में आये थे। सम्भवत: उस समय ये उत्तर-पश्चिमी भारत के पह्लव या कुशन राजाओं के सूबेदार रहे हों। सिक्के और शिलालेखों से पता चलता है कि दक्षिण और पश्चिम-भारत में शक जातीय क्षहरात-वंश का अधिकार हो गया था। उसने दक्षिण के सातवाहन राजाओं से महाराष्ट्र देश छीन लिया। महाराष्ट्र देश का पहला क्षत्रप राजा **भूमक** था। उसके ताँबे के सिक्कों पर उसे 'क्षहरात क्षत्रप' कहा गया है। भूमक का कोई शिलालेख या तिथि-सहित सिक्का नहीं मिला। इससे उसका ठीक काल-निर्णय करना कठिन है।

नहपान—भूमक के वंश का दूसरा राजा **नहपान** था। वह बड़ा प्रतापी क्षत्रप था। उसके समय के नासिक और कार्ली की गुफाओं में उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि नहपान का राज्य नासिक और पूना से लगाकर गुजरात, काठियावाड़, मालवा और राजपूताना में पुष्कर तक फैला हुआ था। नहपान की राजकुमारी दक्षमित्रा का विवाह शकजातीय **उषवदात** से हुआ था। उषवदात के एक लेख से मालूम होता है कि वह नहपान की आज्ञा से मालव लोगों से घिरे हुए उत्तमभाद्र नामक क्षत्रियों को छुड़ाने के लिए राजपूताना पहुँचा और उन्हें भगाकर उसने अजमेर के पास पुष्कर-तीर्थ में स्नान किया और वहाँ तीन हज़ार गौओं और एक गाँव का दान किया। नहपान का राज्य चिरस्थायी न हुआ। उसके राज्य-काल के अन्तिम समय में आन्ध्रवंशी **गौतमीपुत्र शातकर्णि** ने महाराष्ट्र प्रान्त में शकों के क्षहरात-वंश का समूल नाश कर दिया और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम उत्कीर्ण करा दिया।* महाराष्ट्र के क्षत्रप भी हिन्दू धर्म को मानने लग गये थे।

उज्जैन का शक-राजवंश—ईसा की पहली शताब्दी के अन्तिम चरण में उज्जैन में शक-राजवंश स्थापित हुआ था जिसका पश्चिमी-भारत के प्रान्तों

---

* "राज्ञो गोतमीपुत्रस सिरि सातकणिस" सिक्कों पर लिखा है।

पर लगभग ३०० वर्ष तक अधिकार जमा रहा। वे राजा 'क्षत्रप' और 'महाक्षत्रप' के खिताब धारण करते थे। इन खिताबों का प्रयोग ईरान देश में हुआ करता था। इससे अनुमान होता है कि उज्जैन के क्षत्रप भी बाहर से आनेवाली शक-जाति के ही थे। इस शक-वंश में **चष्टन** पहला महाक्षत्रप हुआ। उसके पिता का नाम **सामोतिक** था जो शकों का सा नाम मालूम होता है। चष्टन के कुछ सिक्के क्षत्रप और कुछ महाक्षत्रप पदवीवाले मिले हैं। यूनान के भूगोल-लेखक टालेमी (Ptolemy) ने अपने ग्रन्थ में चष्टन का उल्लेख किया है। उसने यह पुस्तक ई० स० १३० के लगभग लिखी थी। उसने इसमें लिखा है कि चष्टन की राजधानी उज्जैन (ओज़ीन) थी। शक संवत् ५२ (ई० स० १३०) में महाक्षत्रप चष्टन ने अपने पौत्र रुद्रदामा को क्षत्रप नियुक्त कर रखा था और उसके साथ-साथ स्वयं राज्य का शासन कर रहा था। नहपान के समय में आन्ध्रवंश के गौतमी-पुत्र शातकर्णि ने जो शकों की शक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला था उसे चष्टन ने फिर से स्थापित किया। चष्टन के सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि का प्रयोग होने से और उसका क्षत्रप की उपाधि धारण करने से विद्वानों ने अनुमान किया है कि चष्टन कदाचित् कुशन सम्राटों का सूबेदार होगा। वह कदाचित् सम्राट् कनिष्क का सम्बन्धी था, क्योंकि मथुरा में जहाँ कनिष्क की पत्थर की मूर्ति मिली है वहाँ एक दूसरी मूर्ति पर चष्टन (शस्तन) का नाम खुदा होने से प्रकट होता है कि कनिष्क और चष्टन के निकट सम्बन्धी होने के कारण उनकी प्रतिमाएँ एक ही देवकुल में रखी गई थीं। चष्टन के राजवंश में लगातार बहुत से क्षत्रप हुए जो गुप्त राजाओं के समय तक पश्चिम-भारत में राज्य करते रहे।

रुद्रदामा—यह चष्टन का पौत्र था। चष्टन के वंश में यह बड़ा प्रतापी राजा हुआ। इसने पश्चिमी-भारत के कई देशों पर अधिकार करके एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। इसके समय का एक शिलालेख काठियावाड़ में गिरनार पर्वत की उसी चट्टान पर खुदा हुआ है जिस पर अशोक की धर्म-लिपि उत्कीर्ण थी। यह शिलालेख शक संवत् ७२ (ई० स० १५०) में खुदवाया गया था। शुद्ध संस्कृत के उत्तम गद्य में यह लेख निबद्ध किया

गया है। इसके पहले के जितने शिलालेख मिले हैं वे सब प्राकृत भाषा के हैं, विशुद्ध संस्कृत के नहीं। इसलिए संस्कृत भाषा और साहित्य के इतिहास के लिए यह शिलालेख बड़े महत्त्व का है। इस शिलालेख में रुद्रदामा के कारनामों का उल्लेख है। इसमें लिखा है कि रुद्रदामा ने अपने पराक्रम से ही महाक्षत्रप की उपाधि प्राप्त की और मालवा, गुजरात, सुराष्ट्र, मारवाड़, कच्छ, सिन्ध, राजपूताना, कोंकण आदि देशों पर अधिकार कर लिया।* उसने दो बार दक्षिण के राजा शातकर्णि को परास्त किया और यौधेय नामक वीर क्षत्रियों को हराया। 'धर्म पर उसे रुचि थी। वह व्याकरण, साहित्य, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् था और आलङ्कारिक गद्य और पद्य का सिद्धहस्त लेखक था।' इस शिलालेख में लिखा है कि रुद्रदामा ने गो-ब्राह्मणों के हितार्थ और अपनी धर्म-कीर्ति के बढ़ाने के लिए नगर और देश में बसनेवाली प्रजा को—कर, बेगार और चन्दों से—पीड़ित न कर अपने ही कोष के विपुल धन से, अतिवृष्टि के कारण गिरनार की 'सुदर्शन' नामक झील के टूटे हुए बन्द को पहले से तिगुना मज़बूत बनवा दिया। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज-काल में उसके पश्चिमी प्रदेश के राष्ट्रपति वैश्य पुष्यगुप्त ने सुवर्णसिकता और पलाशिनी आदि पर्वतीय नदियों में बाँध बाँधकर यह सुदर्शन झील बनवाई थी और अशोक मौर्य के समय में यवन राजा तुषास्फ ने इस झील से नहरें निकलवाई थीं।

उक्त शिलालेख से पता चलता है कि रुद्रदामा ने पश्चिम-भारत के अधिकांश भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था। उसके शासन में प्रजा सन्तुष्ट थी, उसके योग्य और गुणी मन्त्री ('मति-सचिव') और कर्मचारी ('कर्म-सचिव') थे जो उसे शासन-कार्य में सहायता देते थे और उसने पौर और जानपद (नगर और देशनिवासी प्रजा) के पालन के लिए शासक नियुक्त कर रखे थे। वे प्रजा के हितार्थ अर्थ, धर्म और व्यवहार-सम्बन्धी कार्यों में सदा तत्पर रहते थे। रुद्रदामा के इस लेख से प्रमाणित होता है कि शक लोग हिन्दू सभ्यता से खूब प्रभावित हो गये थे, उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृत विद्या को

---

* एपि० इं० जिल्द ८।

अपना लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि विदेशी शक-राजाओं ने देश की शासन-पद्धति में हिन्दू-नीति-शास्त्रों का अनुसरण किया था। रुद्रदामा ने दक्षिण के राजा शातकर्णि को हराकर उसके राज्य का थोड़ा हिस्सा उत्तरी कोंकण (अपरान्त) अपने राज्य में मिला लिया था और अपनी कन्या का उससे विवाह-सम्बन्ध कर उससे मित्रता कर ली थी। क्षत्रियों में वीर कहलानेवाली यौधेय जाति को, जो इस समय भरतपुर के आस-पास बसी हुई थी, पराजित कर उसने बड़ी कीर्ति प्राप्त की थी। रुद्रदामा के लेख शक संवत् ५२ से ७२ तक के (ई० स० १३०—१५०) मिले हैं।

रुद्रदामा के वंशज—रुद्रदामा के वंशजों के शिलालेख बहुत कम मिले हैं परन्तु उनके सिक्के बहुत मिलते हैं। इन सिक्कों पर बहुधा शक संवत् और 'क्षत्रप' या 'महाक्षत्रप' की उपाधि के साथ राजा और उसके पिता का नाम रहता है जिससे उनका वंश-क्रम निश्चित हो जाता है। उज्जैन के क्षत्रप-वंश में २२ राजाओं की नामावली मिलती है और उनका राज्य-काल शक-संवत् के प्रारम्भ (ई० स० ७८) से ई० स० की चौथी शताब्दी पर्यन्त रहा, यह उनकी तिथियुक्त मुद्राओं से स्पष्ट ज्ञात होता है।

उज्जैन के क्षत्रपों का अधःपतन गुप्त-साम्राज्य के उत्थान के समय से शुरू हुआ। प्रयाग के समुद्रगुप्त के लेख से पता चलता है कि शक लोगों ने भी समुद्रगुप्त के आधिपत्य को स्वीकृत कर लिया था। उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने ई० स० ३८८ के लगभग शकों को परास्त कर मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य में मिला लिये। स्वामी रुद्रसिंह उज्जैन के शकवंश का अन्तिम राजा था। उसके सिक्के ई० स० ३८८ तक के मिले हैं। ई० स० की चौथी शताब्दी का अन्त होने पर पश्चिम-भारत में शक-राज्य की इतिश्री हो गई।

शक-पह्लव राजाओं का तिथिक्रम

यह सारा तिथिक्रम अनुमान पर आश्रित है।

ई० पू० १३५ बैक्ट्रिया पर शकों का आक्रमण।

ई० पू० ७५ से पश्चिमोत्तर भारत पर शकों का आक्रमण।

ई० पूर्व ५८ विक्रम-संवत् का प्रथम वर्ष। मालवा में शकों पर विजय पाने के उपलक्ष्य में उज्जैन के 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी किसी राजा ने इस संवत् को प्रचलित किया था।

५० ई० सन् पर्यन्त पञ्जाब और गान्धार के यवन राजाओं को परास्त कर शकों ने इन प्रदेशों पर अपना अधिकार जमा लिया। 'राजाधिराज' का विरुद धारण कर शक-जातीय मोअस अथवा मोगा ने तक्षशिला में अपना राजवंश स्थापित किया। उसके पश्चात् प्रथम एज़स, एज़िलिसस और द्वितीय एज़स क्रम से राजा हुए।

२१ ई० स० से ५० पर्यन्त पह्लव-वंशी गोंडोफर्निस ने पश्चिमोत्तर-भारत पर अधिकार कर लिया। ईरान के पूर्वी प्रान्त, कन्दहार और तक्षशिला उसके नियत किये हुए शासकों के अधीन थे। उसके बाद पह्लवों का ह्रास आरम्भ हुआ और उनका राज्य कुशन राजा ने हस्तगत कर लिया।

ई० पूर्व २५ कुशन राजा कुजूल कद्फिस ने काबुल की घाटी पर अपनी सत्ता स्थापित की। उसके सिक्कों से अनुमान किया जाता है कि कुजूल कद्फिस रोम के सम्राट् आगस्टस का (ई० पू० २७ से सन् १४) समसामयिक था। उसने काबुल-नदी के तटस्थ यवन-राज्य को जीतकर बैक्ट्रिया से भारत की सीमा तक अपना राज्य विस्तृत किया। काबुल में उसका अधिकार होने के समय, गान्धार, पञ्जाब और सिन्ध पह्लवों और शकों के अधीन थे।

ई० सन् ३० कुशन राजा विम कद्फिस का राज्यारोहण-काल। उसके राज्य-काल में कुशन-राज्य काबुल से उत्तरी-भारत में फैला।

चौदहवाँ परिच्छेद

कुशन-साम्राज्य

मध्य एशिया की बर्बर जातियों के आक्रमण—जब मध्य एशिया की पशु-चारण करनेवाली असभ्य जातियों के देशान्तरों में आक्रमण और आन्दोलन शुरू हुए तभी से भारत के पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेशों में हलचल मच गई। चीन देश के इतिहास से पता चलता है कि ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में बैक्ट्रिया (वाह्लीक) पर आक्रमण करनेवाली बर्बर जाति का नाम यूची था। यह जाति पहले चीन देश की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर रहा करती थी। इसके पास ही हिंग-नू नामक एक और खाना-बदोश जाति रहती थी जो परवर्ती काल में हूण नाम से प्रसिद्ध हुई थी। ईसा से पूर्व १६५ में हिंग-नू जाति ने यूची जाति को परास्त किया और उसे अपने पुराने निवास-स्थान से बहिष्कृत कर दिया। यूची लोगों ने पश्चिम की ओर भागकर वंक्षु (ऑक्सस) नदी के किनारे अपना अधिकार जमा दिया। थोड़े ही दिनों बाद पर्यटनशील यूची लोगों ने दूसरी बर्बर जातियों के हमलों से पीड़ित होकर वंक्षु नदी को पार करके यवनों के वाह्लीक देश पर अधिकार कर लिया। वहाँ उन लोगों ने अपने भ्रमणशील स्वभाव को धीरे-धीरे छोड़ दिया और पाँच शाखाओं में विभक्त होकर वहीं बस गये। इस घटना के प्रायः सौ वर्ष बाद यूची जाति की कुशन शाखा के एक सरदार ने यूची जाति की पाँचों शाखाओं को सङ्गठित करके काबुल और हिन्दूकुश के निकट के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। यह कुशन-वंश का मुखिया **कुजूल कदफिस** था। उसने ई० सन् ४० के लगभग काबुल के अन्तिम यवन राजा हर्मिअस को हराकर वहाँ पर अपना राज्य स्थापित किया था।

कुजूल कदफिस—कुजूल कदफिस के सिक्के अधिकतर काबुल की ही घाटी में मिले हैं। उसके कई सिक्कों में एक ओर यूनानी अक्षरों में हर्मिअस का नाम और दूसरी ओर खरोष्ठी अक्षरों में कुजूल कदफिस का नाम अङ्कित है।* इससे अनुमान होता है कि हर्मिअस को अपने राज्य-काल में कुशन राज्य की अधीनता स्वीकृत करने के लिए बाध्य होना पड़ा था। इसी प्रकार कुशन-वंश का उदय होने पर पश्चिमोत्तर प्रदेश के पह्लव राजा भी अस्त होने लगे थे। कुजूल कदफिस के कुछ सिक्के रोम के सम्राट् आगस्टस (Augustus) के सिक्कों के सदृश हैं और कुछ सिक्कों पर अभय वा वरद मुद्रा में बैठे हुए बुद्ध की और दूसरी ओर ज्युपिटर की मूर्तियाँ अङ्कित हैं। उसका राज्य ईरान की सीमा से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। बुखारा और सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान उसके राज्य में शामिल थे।

विम कदफिसस—अस्सी वर्ष की अवस्था में कदफिस (प्रथम) का राज्य-काल समाप्त हुआ। ई० स० ७८ के लगभग इसका पुत्र **विम कदफिसस** (द्वितीय) उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह राजा अपने पिता की भाँति साहसी और महत्त्वाकांक्षी था। यूची राज्य का विस्तार करने में दत्तचित्त होकर उसने उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया और अपने सेनापतियों को भिन्न-भिन्न प्रदेशों पर शासन करने के लिए नियुक्त किया। सम्भवतः सिन्धु नदी के मुहाने तक उसका राज्य विस्तृत हुआ जिससे उन प्रदेशों के छोटे-छोटे पह्लव राजा अस्त हो गये। उसके बहुत से सिक्के काबुल की घाटी से बनारस तक और कच्छ तथा काठियावाड़ तक मिले हैं जिससे उसके साम्राज्य के विस्तार का अनुमान किया जा सकता है।†

---

* खरोष्ठी अक्षरों में—"**महरजसरजतिस सर्वलोक ईश्वरस महिश्वरस विम कठफिसस**"—यह लेख इसके सिक्कों पर मिलता है। इसके कुछ ताँबे के सिक्कों पर एक ओर पगड़ी और लम्बा चोगा पहने हुए राजा की मूर्ति और दूसरी ओर त्रिशूल लेकर खड़े हुए शिव की मूर्ति है।

† कुजूल कदफिस के सिक्कों पर "**कुजूल कसस कुशन यवुगस ध्रमठिदस**"—धर्म में स्थित कुशन-वंश का मुखिया कुजूल कदफिस का सिक्का—यह लेख खुदा रहता है।

चीन-साम्राज्य से संघर्ष—ईसा की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण में चीन साम्राज्य की सेनाएँ पश्चिमी एशिया के प्रदेशों पर अपनी विजय-पताकाएँ उड़ा रही थीं। खोतान, काशगढ़ आदि प्रदेश चीन के अधीन हो गये। चीनियों की इस विजय-यात्रा से व्यग्र होकर वीर विम कद्फिसस ने अपने दूत द्वारा चीन के सम्राट् को सन्देश भेजा कि अपनी राजकुमारी का विवाह उसके साथ कर दे। लेकिन चीन के सेनापति **पनचश्रो** ने उसके दूत को अपमानित कर निकाल दिया। इस पर उसने ७०००० सवारों की सेना चीन पर चढ़ाई के लिए भेजी। पर दुर्गम पहाड़ों के मार्ग के सङ्कटों से उसकी सेना इतनी विशीर्ण हो गई थी कि पनचश्रो ने उसे शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। अन्त में कद्फिसस को चीन का करद होकर उसकी अधीनता स्वीकृत करनी पड़ी।

भारत का रोम और चीन देशों से व्यापार—कुशन-काल में भारत का सम्पर्क **चीन** और **रोम** के साम्राज्यों से प्रारम्भ हुआ था। भारत से राजदूत चीन और रोम को भेजे जाते थे। रोम-सम्राट् ट्राजन के दरबार में ९९ ई० सन् के लगभग भारतीय राजदूत पहुँचे थे जो कदाचित् कद्फिसस द्वितीय के भेजे हुए थे। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि इस समय रोम के साथ भारत का व्यापार स्थल-मार्ग से शुरू हो चुका था और यहाँ के रेशमी वस्त्र, हीरे, मोती, रङ्ग, मसाले आदि के बदले रोम-साम्राज्य से भारत में सुवर्ण आने लगा था। रोम-साम्राज्य के सोने के सिक्कों को देखकर और उनकी तौल और स्वच्छता का अनुकरण करते हुए विम कद्फिसस ने सुवर्ण के सिक्के चलाये थे। उसके समय के पश्चात् भारत में सोने के सिक्के बहुत अधिक संख्या में पाये गये हैं। उसी युग में दक्षिण भारत का भी रोम-साम्राज्य से जल-मार्ग द्वारा बड़ा व्यापार होता था। रोम देश के सुवर्ण के सिक्कों के अनेक ढेर दक्षिण में मिले हैं। रोम के इतिहास-वेत्ता प्लिनी (Pliny) ने अत्यन्त खेद से लिखा है कि भारत में, हमारे साम्राज्य से विलासिता की वस्तुओं के विनिमय में, प्रभूत धन प्रतिवर्ष चला जाता है और हमें यहाँ उन वस्तुओं का मूल्य सौगुना देना पड़ता है जिसका परिणाम यह है कि अपनी विलासिता के कारण हम कितना ही धन खो बैठते हैं।

सम्राट कनिष्क—अनेक पुरातत्त्ववेत्ताओं के मतानुसार कनिष्क विम कदफिसस का उत्तराधिकारी था। उसके पिता का नाम वझेष्क था। भारत के अनेक स्थानों में कनिष्क के राज्य-काल के खुदे हुए शिलालेख* और ताम्रपत्र मिले हैं। बौद्ध ग्रन्थों में कनिष्क का उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है, परन्तु अब तक कोई ऐसा विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिला जिससे उसका समय निर्दिष्ट हो सकता हो। कनिष्क के अभिषेक काल के सम्बन्ध में अब पुरातत्त्वविदों में दो मत प्रचलित हैं—(१) कनिष्क ई० सन् ७८ में गद्दी पर बैठा था, इस मत का कुछ विद्वानों ने समर्थन किया है। (२) दूसरा मत यह है कि कनिष्क का राज्याभिषेक ई० सन् १२० के आसपास हुआ था।

कनिष्क का राज्य-विस्तार—चीनी यात्री हुएन्त्संग ने लिखा है कि 'जिस समय कनिष्क कन्दहार में राज्य करता था उस समय उसकी सत्ता समीपवर्ती राज्यों पर प्रतिष्ठित हुई और उसका प्रभाव दूर-दूर के देशों तक फैल गया। सारा पश्चिमोत्तर भारत, दक्षिण में विन्ध्य तक का देश और सिन्ध उसके अधिकार में थे। इन देशों में कनिष्क के भिन्न-भिन्न प्रकार के सोने और तांबे के बहुत से

---

* 'कनिष्क के नाम का एक शिलालेख रावलपिण्डी के पास मणिक्याला नामक स्थान में एक स्तूप में मिला है। बहावलपुर के पास सूईविहार नामक स्थान में कनिष्क के नाम का एक ताम्रपट्ट और पेशावर में एक बड़े स्तूप के ध्वंसावशेष में धातु का बना हुआ एक शरीर-निधान मिला है। मथुरा में मिली हुई बहुत सी बौद्ध और जैन मूर्तियों के पाद-पीठ पर जो लेख अङ्कित हैं, उनमें कनिष्क का नाम और राज्याङ्क दिया हुआ है। ये सब मूर्तियाँ कनिष्क के पाँचवें से लेकर दसवें राज्याङ्क के बीच में प्रतिष्ठित हुई थीं। कनिष्क के तीसरे राज्याङ्क में सारनाथ में प्रतिष्ठित एक बोधिसत्त्व-मूर्ति के पाद-पीठ पर खुदे हुए लेख से सिद्ध होता है कि उस समय वाराणसी (बनारस) कनिष्क के साम्राज्य में थी। बौद्ध-धर्म के महायान मत के ग्रन्थों में और चीन तथा तिब्बत के इतिहासों में कई स्थानों पर कनिष्क का उल्लेख मिलता है।' प्राचीन मुद्रा, पृष्ठ ११२।

सिक्के मिले हैं। कनिष्क ने कश्मीर पर अपना अधिकार जमाया था जहाँ उसने बहुत से बौद्ध विहार और स्तूप बनवाये और नगर बसाया। कल्हण ने राजतरङ्गिणी में लिखा है कि 'अपने-अपने नामों पर तीन नगर बसानेवाले हुष्क, जुष्क और कनिष्क नाम के तीन राजा हुए और उनके राज्य-काल में कश्मीर देश में बौद्धों ही का प्राधान्य था।' *

बौद्ध-ग्रन्थों से पता चलता है कि उसने मगध में पाटलिपुत्र पर्यन्त अधिकार कर लिया था और वहाँ से बौद्ध भिक्षुक अश्वघोष को वह अपने साथ ले आया था। यदि कुशन-वंश का काल-क्रम ठीक वैसा ही है जैसा इस पुस्तक में अनुमान किया गया है तो कनिष्क का अधिकार पश्चिमी भारत पर भी अवश्य होगा। विंसेंट स्मिथ का अनुमान है कि महाराष्ट्र का चहरात-वंशी **नहपान** और उज्जैन का क्षत्रप **चष्टन** कदाचित् कनिष्क के सामन्त हों।

पुरुषपुर—कनिष्क की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। वहाँ उसने बहुत से विशाल स्तूप, चैत्य और विहार बनवाये थे। उनमें एक आश्चर्य-जनक चैत्य १३ मञ्ज़िल ऊँचा था। उसका निर्माण किया हुआ विहार नवीं शताब्दी तक एक विद्या का प्रसिद्ध केन्द्र रहा। कनिष्क के स्मारकों के भग्नावशेष तक्षशिला, पेशावर आदि स्थानों में मिले हैं।

कनिष्क विदेशी राष्ट्रों से भी लड़ा और विजयी हुआ। उसने पार्थिया पर भी आक्रमण किया। विम कदफिसस के अपमान का बदला लेने के लिए उसने चीन के अधीन तुर्किस्तान के काशगढ़, यारकन्द और खोतान नामक प्रान्तों पर हमला किया। ये प्रदेश तिब्बत के उत्तर और पामीर के पूर्व में थे।

---

* 'अथाभवन् स्वनामाङ्कपुरत्रयविधायिनः।
हुष्कजुष्ककनिष्काख्यास्त्रयस्तत्रैव पार्थिवाः॥
प्राज्ये राज्यक्षणे तेषां प्रायः कार्श्मीरमण्डलम्।
भोज्यमास्ते स्म बौद्धानां प्रव्रज्योर्जितचेतसाम्॥'

—राजतरङ्गिणी।

सम्राट् कनिष्क।

कनिष्क ने इन देशों पर विजय प्राप्त की, चीन को कर देना बन्द किया और ज़मानत के तौर पर वहाँ के राजपरिवार के कुछ लोगों को वह अपने साथ ले आया।

कनिष्क के धार्मिक विचार—बौद्ध-धर्म के इतिहास में अशोक के पश्चात् कनिष्क ही इस धर्म का परम उत्साही और उदार आश्रयदाता प्रसिद्ध है। किन्तु बौद्ध होते हुए भी कनिष्क भिन्न-भिन्न जातियों के देवी-देवताओं का आदर करता था, यह उसके सिक्कों में अङ्कित मूर्तियों के देखने से स्पष्ट प्रमाणित होता है। सिक्कों पर भिन्न-भिन्न जातियों के देवताओं का ऐसा अपूर्व समावेश कदाचित् पहले कभी नहीं देखा गया था। ईरान और यूनान के देवताओं के साथ-साथ हिन्दुओं के शिव आदि देवताओं की वह पूजा करता था। वह हवन करता था। बुद्ध (बोडो) की भी मूर्ति उसके सिक्कों पर अङ्कित है। सम्भवतः कनिष्क बौद्ध-धर्म के ग्रहण करने के बाद अन्य धर्मों के देवताओं को मानता रहा हो। कनिष्क और हुविष्क के सिक्कों से पता चलता है कि इस युग में बौद्ध-धर्म बहुत परिवर्तित हो गया था और उस पर अन्य सम्प्रदायों का बड़ा प्रभाव पड़ने लगा था।

कनिष्क के समय की बौद्ध-महासभा—बौद्ध-ग्रन्थों में लिखा है कि बौद्ध-धर्म के विवादास्पद सिद्धान्तों का निर्णय करने के लिए अशोक की भाँति कनिष्क ने बौद्ध-संघ एकत्र किया था। इस महासभा का अधिवेशन उसकी कश्मीर की राजधानी में हुआ। वसुमित्र और अश्वघोष इस सभा के क्रम से सभापति और उपसभापति नियत हुए थे। इसमें ५०० विद्वान् उपस्थित थे। इस विद्वन्मण्डली द्वारा बौद्ध-धर्म के त्रिपिटक पर प्रामाणिक भाष्य रचे गये, जिन्हें कनिष्क ने ताम्र-पत्रों पर खुदवाकर और पत्थर के सन्दूक में रखवाकर उस पर एक स्तूप बनवाया था। सम्भव है कि बौद्ध-धर्म के ये अनर्घ ग्रन्थरत्न पुरातत्त्वान्वेषियों को भाग्यवश कभी मिल जायँ। वास्तव में यह संघ प्राचीन बौद्ध मतावलम्बियों का था जो हीनयान पंथ कहलाता था और जिसके अनुयायी इस देश में बहुत थोड़े थे। दूसरा पंथ महायान कहलाता था जिसका भारत में इस समय व्यापक प्रचार था।

बौद्ध-धर्म का रूपान्तर—प्राचीन बौद्ध अपने धर्म-गुरु की प्रतिमा का निर्माण न करते थे। साँची और बरहुत के शिल्प-चित्रों से पुराने बौद्धों के धार्मिक विचार स्पष्ट प्रकट होते हैं। जब वे किसी दृश्य में बुद्धदेव को उपस्थित करना चाहते थे तब वे उनका अस्तित्व कुछ चिह्नों से अभिव्यक्त करते थे, जैसे धर्मचक्र, बोधिवृक्ष, अथवा चरणचिह्न। मौर्य-काल में बुद्ध की मूर्ति कहीं अङ्कित की हुई नहीं मिलती। किन्तु कुशन-युग से बुद्ध की प्रतिमा-पूजा बड़े समारोह से होने लगी और बुद्ध के पूर्व-जन्मों के और अन्तिम जीवन के वृत्तान्तों का चित्रण अनेक प्रकारों से किया जाने लगा।

बौद्ध-धर्म में विकास-क्रम और महायान-पंथ का उदय—बुद्ध के निर्वाण-काल से ही बौद्ध-धर्म में परिवर्तन होने लगा था। धर्म-विषयक मतभेद के कारण बौद्ध-धर्म में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बन गये थे। इन सम्प्रदायों का मतभेद दूर करने और धर्म के सिद्धान्तों का निर्णय करने के लिए कई बार बौद्ध भिक्षुओं की महासभाएँ हुईं, परन्तु बौद्धों के ज्ञान-स्रोत का गति-रोध न हुआ और उनके धार्मिक और दार्शनिक विचार बराबर बदलते रहे। बौद्ध-धर्म के विकास-क्रम का एकमात्र कारण यही था कि उसका ब्राह्मण-धर्म से निरन्तर संघर्ष इन शताब्दियों में होता रहा। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'—इस विचार-संघर्ष के नियमानुसार बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों में आचार-विचारों का परस्पर आदान-प्रदान धीरे-धीरे होता रहा और उन दोनों के सिद्धान्तों में अव्यक्त रूप से रूपान्तर होता रहा। अतएव, बौद्ध-धर्म के महायान-पंथ पर ब्राह्मण-धर्म का पूर्ण प्रतिबिम्ब झलकता है। प्राचीन बौद्धों का ईश्वर के विषय में अकिञ्चित्कथन और उनके ज्ञान तथा संन्यास-मार्ग की प्रधानता के कारण भारत की विचार-प्रवृत्ति धीरे-धीरे भिन्न मार्ग में होने लगी। जब तक बुद्ध की भव्य आकृति और पावन चरित्र लोगों को प्रत्यक्ष होते रहे तब तक उन्हें किसी अन्य उपास्य देव की अपेक्षा न थी, किन्तु बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् लोग भक्ति-मार्ग की ओर झुकने लगे और बुद्ध ही को परमात्मा मानने लगे। महायान-पंथ का धीरे-धीरे विकास हुआ, जिसमें भक्ति और सर्वभूतदया का उपदेश किया गया। महायान-धर्म में करुणा और भक्ति को 'सम्यक्

संबोधि' का साधन माना है। बुद्ध के चरित्र का सार एवं सर्वस्व सर्वभूत-दया ही है, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने बोधिवृक्ष के तले संबोधि (ज्ञान) प्राप्त कर लोक-कल्याणार्थ धर्मोपदेश किया। महायान धर्म में अनेक **बोधिसत्त्वों** की कल्पना की गई। जो बोधिसत्व हैं—बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् हैं—उन्हें 'षट् पारमिता'—अर्थात् दान, शील, शान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा इन गुणों में पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। इन उपर्युक्त गुणों का जब तक पूर्ण विकास न हो तब तक संबोधि प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव, महायान-पंथ में बुद्ध और बोधिसत्त्वों की पूजा होने लगी। महायान पंथ पर हिन्दुओं के 'भागवत धर्म' का बड़ा प्रभाव पड़ा था। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ प्रायः संस्कृत भाषा में हैं जो ब्राह्मणों के धर्म-ग्रन्थों की भाषा है। हीनयान-पंथ के ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थ तथा अशोक की धर्मलिपियाँ पाली भाषा में हैं किन्तु महायान ग्रन्थकारों के संस्कृत भाषा के उपयोग से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण धर्म का अधिकाधिक आधिपत्य महायान सम्प्रदाय पर होता जाता था। प्राचीन हीनयान में वैराग्य और ज्ञान की प्रधानता थी, किन्तु नवीन महायान में भक्ति और भूतदया का सविशेष प्रतिपादन किया गया था। *

साहित्य और कला—कनिष्क के समय में विद्या और शिल्प-कला की बड़ी उन्नति हुई। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् **नागार्जुन, अश्वघोष** और **वसुमित्र** उसके समकालीन थे। प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य **चरक** कनिष्क के ही राजवैद्य

* विंसेंट स्मिथ का मत है कि जब से बौद्ध-धर्म भारत की सीमा पार करके दूसरे देशों में गया तभी से उसके प्राचीन रूप में परिवर्तन होने लगा और उसमें भिन्न-भिन्न धर्मों के तत्त्व आ मिले। पर यह मत ठीक नहीं है। महायान-पंथ का उदय कनिष्क के बहुत पहले हो चुका था। निग्लीव के स्तम्भलेख से पाया जाता है कि अशोक ने कनकमुनि बुद्ध (जो बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार २२ वें बुद्ध थे) के स्तूप का दर्शन करने के लिए यात्रा की थी। इससे स्पष्ट है कि पूर्वकालीन बुद्धों की पूजा बहुत प्राचीन समय से प्रचलित थी। जनार्दन भट्ट—अशोक, ३८६।

थे। नागार्जुन महायान धर्म के अद्वितीय पण्डित और प्रवर्तक थे। 'बुद्ध-चरित' के रचयिता कवि अश्वघोष बड़े ही शास्त्रार्थ-पटु, विद्वान् और सङ्गीत-कुशल थे। वे यम-नियम के पालन करनेवाले कट्टर बौद्ध भिक्षुक थे। अशोक की भाँति कनिष्क ने भी नगर, स्तूप, विहार आदि बनवाये। उसके संरक्षण में वास्तु-विद्या और शिल्पकला की उन्नति हुई। पेशावर, तक्षशिला, कश्मीर और मथुरा में कनिष्क और उसके उत्तराधिकारियों ने अनेक उत्तम विहार और सुचारु शिल्प की कृतियाँ निर्माण करवाई थीं। मथुरा के समीप कनिष्क की एक शीर्ष-रहित मूर्ति है जहाँ उसके वंश के और भी राजाओं की मूर्तियाँ मिली हैं। कुशन-वंशी राजाओं का एक 'देवकुल' मथुरा के पास था। वहाँ पर एक शिलालेख में लिखा है कि 'सत्यधर्मस्थित महाराज राजातिराज देवपुत्र हुविष्क के दादा का यहाँ देवकुल था'। इससे स्पष्ट है कि कुशन-वंशियों में भी शिशुनागवंशी राजाओं के समान देवकुल बनाने की प्रथा थी जहाँ राजाओं की मृत्यु के पीछे उनकी मूर्तियाँ रक्खी जाती थीं।

कुछ दन्त-कथाओं के आधार पर कहा जाता है कि कनिष्क जब दूर-दूर देशों में युद्ध करता था तब उसकी युद्धप्रियता और लड़ाइयों से तङ्ग आकर उसके सेनापतियों ने आपस में षड्यन्त्र रचकर उसे मार डाला। कनिष्क का राज्य-काल लगभग ४५ वर्ष तक रहा और ई० सन् १६० के आस-पास समाप्त हुआ।

कनिष्क के लेख ३ से ४१ वर्ष तक के, वासिष्क के लेख २४ से २६ वर्ष और हुविष्क के लेख ३३ से ६० वर्ष तक के मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जब कनिष्क युद्ध में लगा रहता था तब प्रथम वासिष्क और फिर हुविष्क, पिता की अनुपस्थिति में, भारत में उसके प्रतिनिधि के तौर पर शासन करते थे। वासिष्क की मृत्यु कनिष्क के पहले हुई। अतएव, कनिष्क के पश्चात् हुविष्क कुशन-राज्य का स्वामी हुआ।

हुविष्क—हुविष्क के साम्राज्य में काबुल, कश्मीर और मथुरा निःसन्देह सम्मिलित थे। मथुरा में हुविष्क के नाम का एक विशाल बौद्ध-मठ था। कश्मीर में उसने 'हुविष्कपुर' नामक नगर बसाया था। उसके सिक्के कनिष्क के सिक्कों

से कहीं अधिक संख्या में पाये गये हैं। उन सिक्कों पर भी यूनानी, ईरानी और भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ अङ्कित हैं। हुविष्क के राज्य-काल की घटनाओं का कुछ पता नहीं चलता, पर यह निर्विवाद है कि कुशन साम्राज्य उसके समय में सुरक्षित रहा। उसने कदाचित् १६० से १८२ ई० तक राज्य किया।

वासुदेव—हुविष्क के बाद **वासुदेव** कुशन-साम्राज्य का अधिपति हुआ। सके समय के शिलालेख ७४ से ९८ वर्ष तक के मिले हैं। अतएव उसका राज्य-काल लगभग १८२-२२० ई० तक होता है। उसका नाम वासुदेव था, जिससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि कुशन राजा हिन्दू-धर्म के अनुगामी हो गये थे। उसके सिक्कों से भी यही प्रमाणित होता है, क्योंकि उन पर नन्दी समेत त्रिशूलधारी शिव की मूर्त्ति अङ्कित है। उसके नाम से सूचित होता है कि वह कदाचित् वैष्णव था।

कुशन-साम्राज्य का ह्रास—वासुदेव के समय से कुशन-साम्राज्य का अङ्ग-भङ्ग होने लगा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत से एकच्छत्र शासन उठ गया और सामन्त राजा स्वतन्त्र हो गये। कुशन-साम्राज्य का अधःपतन किन कारणों से और किस प्रकार हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण में उत्तर में कुशन-साम्राज्य का और दक्षिण में आन्ध्र-साम्राज्य का साथ ही साथ अधःपतन हुआ। विष्णुपुराण में लिखा है कि आभीर, गर्दभिल्ल, शक, यवन, वाह्लीक आदि विदेशी जातियों ने आन्ध्रों के बाद भारत पर अपना अधिकार जमा दिया। पर इनका शृङ्खलाबद्ध वृत्तान्त नहीं मिलता। वस्तुतः, तीसरी शताब्दी के भारत का इतिहास बिलकुल तिमिराच्छन्न है। चौथी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य के उदय होने तक भारतीय इतिहास का ठीक-ठीक पता नहीं चलता।

गान्धार शिल्प-कला—प्राचीन काल में भारत अपने शिल्प के अनुपम सौन्दर्य्य और भव्यता के लिए विख्यात था। अशोक के विशाल स्तम्भ, उन पर की चिकनी चमकीली पालिश, उनके सिंहादि आकृतिवाले शीर्षक, साँची और बरहुत आदि के स्तूप, पहाड़ों को काट-काटकर बनाई हुई भव्य गुफाएँ,

अनुपम सौन्दर्य्य को प्रकट करनेवाले गान्धार-शैली की तक्षण-कला के भिन्न-भिन्न भग्नावशेष, अनेक भव्य मन्दिर और भावोद्बोधक मूर्तियाँ—उनके निर्माताओं के शिल्पज्ञान और अपूर्व हस्त-कौशल का परिचय देकर, कला-विशारदों को मुग्ध किये बिना नहीं रहते। कनिष्क के समय में 'गान्धार-शैली' की तक्षण-कला का विकास पश्चिमोत्तर प्रान्तों में हुआ था। इस शैली को 'ग्रीको बुधिस्ट' कहते हैं, क्योंकि बौद्ध विषयों के चित्रण में ग्रीक (यूनानी) शिल्प-शैली का उपयोग किया गया था। बुद्ध की प्रतिमाओं में यवन देवताओं की आकृति-विशेष का अनुकरण किया गया था। उन मूर्तियों पर वेश-भूषा और वस्त्र का संस्थान भी यवनों की प्रतिमाओं के सदृश था। गान्धार देश का यवन राष्ट्रों से सम्बन्ध दीर्घकालीन और घनिष्ठ था। अतएव यूनान की शिल्प-कला का असर इस प्रदेश पर बहुत था। महायान-पंथ में जब बुद्धदेव की साकार उपासना आरम्भ हुई तभी से बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ यूनान के प्रतिमा-निर्माण-कला के आदर्श पर गढ़ी जाने लगीं। गान्धार-कला की बुद्ध की प्रतिमाएँ कई मुद्राओं में पाई जाती हैं। 'ध्यान-मुद्रा' में सुखासीन बुद्ध की समाधिस्थ अवस्था दरसाई जाती है। 'धर्मचक्र-मुद्रा' में उनके दोनों हाथ छाती तक इस प्रकार उठे रहते हैं कि मानों वे उपदेश कर रहे हों। 'अभय-मुद्रा' में बुद्ध की मूर्ति ऐसी मालूम होती है, कि मानों वे जीवलोक को अभय-दान दे रहे हों। उनके सिर पर 'उष्णीष' (पगड़ी) के आकार की एक जटा रहती है। 'बोधिसत्त्व' की प्रतिमाएँ वस्त्र-मुकुट से सुशोभित कई रूप की हैं। 'अवलोकितेश्वर' की मूर्त्तियों में दक्षिण हस्त 'वरद-मुद्रा' में दरसाया गया है। 'मञ्जुश्री' दाहिने हाथ से तलवार उठाकर मानों अज्ञानान्धकार को काट रहे हैं। 'मैत्रेय' अभय-दान दे रहे हैं।

यूनान की और गान्धार की कला में चाहे जितना सादृश्य क्यों न हो और बुद्ध और बोधिसत्त्व की प्रतिमाओं के आकार-प्रकार में यवनों की कला की प्रतिच्छाया चाहे जितनी पड़ी हो, तथापि भारतीय कला का आदर्श यवनों से बहुत विभिन्न था। यवनों की कला का ध्येय केवल बाह्य सौन्दर्य्य का चित्रण मात्र था। वे अपनी मूर्तियों में सौष्ठव और यथाप्रमाण अङ्ग-विन्यास के

गान्धार शैली की बुद्ध-प्रतिमा

दिखाने में बड़े ही दक्ष थे। परन्तु इस देश की कला सर्वथा भावप्रधान थी, जिसमें यहाँ के आध्यात्मिक आदर्श ओत-प्रोत थे। अनेक मुद्राओं में खचित मूर्तियाँ निरे शारीरिक सौष्ठव मात्र का प्रदर्शन नहीं करतीं किन्तु मूर्तिकार की सात्त्विक भावनाओं का भी सङ्केत करती हैं।

कुशन राजवंश का आनुमानिक तिथि-क्रम

(१) कदफिसस प्रथम—ई० स० ४०—७८
|
(२) विम कदफिसस—ई० स० ७८–१२०
|
(३) कनिष्क — ई० स० १२०–१६०
|
(४) हुविष्क — ई० स० १६०–१८२
|
(५) वासुदेव — ई० स० १८२–२२०

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

गुप्त-साम्राज्य का इतिहास

गुप्त-वंश के इतिहास का महत्त्व—गुप्त-साम्राज्य का समय—ई० सन् की चौथी और पाँचवीं शताब्दी—भारत के इतिहास का 'सुवर्ण-युग' माना गया है। इस युग में बड़े प्रतापी और शक्तिशाली राजा हुए जिनकी सर्वतो-मुखी प्रभुता द्वारका से आसाम तक और हिमाचल से नर्मदा तक फैली और नर्मदा से दक्षिण के प्रदेशों में भी जिनकी प्रताप-पताका फहराई। इस ओजस्वी युग में भारतवर्ष विदेशीय जातियों की चिरकालीन पराधीनता से स्वाधीन हुआ। यह सारा देश एक विराट् साम्राज्य के सूत्र में बँध गया। मौर्य्य-युग के पश्चात् फिर से इस देश में एकच्छत्र शासन स्थापित हुआ। गुप्त-वंश के नरेशों की छत्रच्छाया में संस्कृत-भाषा और साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई और ब्राह्मण-धर्म का अभ्युत्थान हुआ। भारत के साहित्य, विज्ञान और कला की उन्नति भी पराकाष्ठा तक पहुँची। दूर-दूर के राष्ट्रों में इस देश की विद्या, सभ्यता और धर्म बड़ी आदरणीय दृष्टि से देखे जाने लगे।

गुप्त-युग का तिथि-क्रम—ई० स० चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक गुप्त-युग का अविच्छिन्न इतिहास बिना किसी बाधा के लिखा जा सकता है, क्योंकि इस युग का तिथि-क्रम यथावत् निर्धारित हो चुका है। गुप्त-वंशी राजाओं के शिलालेखों में गुप्त-संवत् के उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार पर उनका राज्य-काल निश्चित किया जा सकता है। विद्वानों का अनुमान ह कि गुप्त-वंश में पहले पहल चन्द्रगुप्त प्रथम प्रतापी राजा हुआ और उसके राज्याभिषेक के समय से गुप्त-संवत् चला था। यह गुप्त-संवत् ई० सन् ३१९ से शुरू हुआ और बहुत काल तक चलता रहा। गुप्त-वंश के अस्त होने पर वही संवत् काठियावाड़ में 'वलभी संवत्' के नाम से प्रसिद्ध

हुआ जिसका शक संवत् से अन्तर, अल्बेरुनी के कथनानुसार, २४१ वर्ष था। शक संवत् (ई० सन् ७८) में २४१ जोड़ देने से गुप्त-संवत् का प्रथम वर्ष ई० सन् ३१६-२० में पड़ता है।

गुप्त युग के ऐतिहासिक साधन—गुप्त-कालीन भारत के इतिहास के परिज्ञान के लिए हमें प्रचुर साधन मिलते हैं। गुप्त-राजाओं के उत्कीर्ण लेख, उनके अनेक प्रकार के सिक्के और राज-मुद्राएँ हमें पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जिनसे गुप्त-वंश के इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। गुप्तों के शिलालेखों की शैली दस्तावेज़ी है। उनमें प्रायः राजा का नाम, धाम, वंशानुक्रम, संवत् आदि के उल्लेख रहते हैं। कुछ उत्कीर्ण लेख सविस्तर प्रशस्ति के रूप में मिलते हैं जिनमें गुप्त-सम्राटों के चरित्र और उनके राज्य-काल की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है। गुप्त-वंशी राजाओं के सिक्कों पर गद्य एवं भिन्न-भिन्न छन्दों में भी लेख मिलते हैं जिनसे उन राजाओं के जुदे-जुदे विरुदों और कार्य्यों का पता चलता है। सिक्कों के सिवा कुछ राज-मुद्राएँ भी मिली हैं जिन पर गुप्तों की वंशावली उत्कीर्ण रहती है। ई० स० की पाँचवीं सदी के प्रारम्भ में बौद्ध-यात्री फ़ाहियान चीन से भारत में आया था और उसने अपनी भारतीय यात्रा का वृत्तान्त लिखा था, जो गुप्त-काल के इतिहास के निर्माण के लिए बड़ा उपयोगी है।

महाराज श्रीगुप्त—श्रीगुप्त या गुप्त इस वंश का संस्थापक था जिसके नाम से यह वंश प्रसिद्ध हुआ। गुप्त राजाओं के शिलालेखों में श्रीगुप्त के नाम के साथ केवल 'महाराज' की उपाधि मिलती है। इससे अनुमान होता है कि वह किसी अन्य बड़े राजा का सामन्त था। चीन देश के यात्री इत्सिङ्ग ने, जो भारत में सातवीं शताब्दी के अन्त में आया था, अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि महाराज श्रीगुप्त ने लगभग ५०० वर्ष पूर्व चीन के तीर्थ-यात्रियों के लिए मगध के मृगशिखावन में एक मन्दिर बनवाकर उसके खर्च के लिए २४ ग्राम दान में दिये थे। इस मन्दिर के अवशेष इत्सिङ्ग के समय में 'चीन के मन्दिर' के नाम से प्रसिद्ध थे। इत्सिङ्ग का श्रीगुप्त गुप्त-वंश का संस्थापक महाराज गुप्त ही प्रतीत होता है। चीनी यात्रियों के प्रति उसकी उपकार-

राष्ट्र स्वाधीनता खो बैठे थे। इसलिए बुद्ध के पश्चात् लिच्छवियों का कुछ भी इतिहास नहीं मिलता। ई० स० की चौथी सदी में उनका मगध पर राज्य था इस कल्पना की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य प्रयाग से पाटलिपुत्र तक था। वायुपुराण में गङ्गातट का प्रदेश, प्रयाग, अयोध्या तथा मगध का गुप्तवंशियों के अधीन होना लिखा है जो चन्द्रगुप्त के समय की राज्यस्थिति प्रकट करता है। * चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य-काल लगभग १५ वर्ष ई० स० ३२० से ३३५ तक अनुमान किया जाता है।

समुद्रगुप्त पराक्रमाङ्क—चन्द्रगुप्त प्रथम का उत्तराधिकारी उसका पुत्र समुद्रगुप्त हुआ। उसने अपने अतुल पराक्रम से भारतवर्ष में एक विराट् साम्राज्य का निर्माण किया। उसके राज्य-काल का सविस्तर इतिहास प्रयाग के क़िले में स्थित अशोक के लेखवाले विशाल स्तम्भ पर उत्कीर्ण संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य में रचित लेख से मिलता है। इस संस्कृत लेख की शैली बहुत ही प्राञ्जल और ओजपूर्ण है। इस स्तम्भ के लेख का समय निश्चित होने के कारण इस युग के संस्कृत-साहित्य और उसकी भाषा-शैली के विकास पर इससे बहुत विशद प्रकाश पड़ा है। समुद्रगुप्त की दिग्विजय का इसमें सविस्तर वर्णन है। समुद्रगुप्त ने अनेक राज्यों पर आक्रमण कर विजय प्राप्त की थी जिनका स्पष्ट उल्लेख इस प्रशस्ति में किया गया है। महाकवि हरिषेण ने इस प्रशस्ति को रचा था। समुद्रगुप्त के समय की घटनाओं और उसके जीवन-चरित का विशद विवरण देने के कारण यह प्रशस्ति भारतीय ऐतिहासिक लेखों में असाधारण महत्त्व की है। † इसके आधार पर हम समुद्रगुप्त के साम्राज्य की सीमाएँ निश्चित कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त प्रथम

---

* 'अनुगङ्गा प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा।
'एताञ्जानपदान्सर्वानि भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥'—वायुपुराण।

† "An Epigraphic record unique among Indian annals in its wealth of detail."—Allen's —"Gupta Coins," p. XX.

ने समुद्रगुप्त को ही अपने सब पुत्रों में योग्यतम समझा था और इसलिए उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था यह बात इस लेख से स्पष्ट होती है।

समुद्रगुप्त की विजय-यात्रा—समुद्रगुप्त 'पराक्रमाङ्क' की विजय-यात्रा का वृत्तान्त प्रयाग के स्तम्भ-लेख में इस प्रकार प्रारम्भ किया गया है। 'उसने सैकड़ों युद्धों में विजय प्राप्त की थी। उसका शरीर शस्त्रों से लगे हुए सैकड़ों घावों से सुशोभित था। वह अपने भुजबल पर ही भरोसा रखता था।'* प्रयाग के स्तम्भ-लेख में समुद्रगुप्त के युद्धों का वर्णन तिथि-क्रमानुसार नहीं वरन् जुदे-जुदे प्रदेशों के अनुसार किया गया है।

आर्यावर्त की विजय—उस समय के भारत की प्रायः सभी शक्तियों ने उसका लोहा माना। सम्भवतः उसने सबसे पहले आर्यावर्त के राजाओं को युद्ध के लिए ललकारा और उन्हें परास्त किया। मगध के निकटवर्ती राज्यों पर समुद्रगुप्त ने पहले-पहल अपना अधिकार जमाया होगा। आर्यावर्त के नौ राजाओं को नष्ट कर उसने अपना प्रभाव बढ़ाया। आर्यावर्त की विजय के पश्चात् उसने मध्य प्रदेश के जङ्गली हिस्सों के राजाओं से युद्ध कर उन्हें अपने अधीन किया।

दक्षिण भारत की विजय—सारे उत्तरापथ को जीतकर समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ को जीतने का बीड़ा उठाया और अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से चलकर मगध और उड़ीसा के बीच के वनमय प्रदेश के दो राजाओं को परास्त किया। इन दोनों में पहला दक्षिण कोशल† का राजा महेन्द्र और दूसरा महाकान्तार‡ या भीषण वन का अधिपति व्याघ्रराज था। इसके बाद

---

* 'तस्य विविधसमरशतावतरणदक्षस्य स्वभुजबलपराक्रमैकबन्धोः पराक्रमाङ्कस्य'।

† दक्षिण कोशल = मध्य प्रदेश के अन्तर्गत महानदी और गोदावरी के बीच का प्रदेश—विलासपुर और सम्बलपुर के ज़िले।

‡ महाकान्तार = मध्यप्रदेश का जङ्गल जो सोनपुर के दक्षिण में है।

कौराल*, पिष्टपुर†, गिरि-कोट्टुर‡, एरण्डपल्ल§, काञ्ची||, अवमुक्त¶, वेङ्गी=, पालक+, देवराष्ट्र×, आदि दक्षिणापथ के राज्यों के नरेशों को उसने क़ैद किया परन्तु फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति बढ़ाई।

सीमान्त राज्यों की विजय—सीमान्त-प्रदेश के राजाओं ने भी समुद्र-गुप्त के प्रभुत्व को स्वीकृत किया। समतट (दक्षिण बङ्गाल), दवाक (ढाका ?), कामरूप (आसाम), नेपाल, कर्तृपुर (कुमाऊँ और गढ़वाल) आदि पूर्व और उत्तर के प्रदेशों के 'प्रत्यन्त' नरेश उसके अधीन होकर उसे कर देने लगे।

गण-राष्ट्र—गुप्त-राज्य के पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम में अनेक ऐसी जातियाँ बसी हुई थीं जिनमें प्रजातन्त्र राज्य था जो 'गण' कहलाते थे। समुद्रगुप्त ने उन जातियों से भी कर वसूल किया। पञ्जाब, राजस्थान, मालवा और मध्य प्रदेश में बसी हुई मालव, अर्जुनायन, यौधेय, मद्रक, आभीर आदि गण-राज्य समुद्रगुप्त के करद और वशंवद बन गये।

विदेशी राज्य—समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में लिखा है कि उसने बहुत से राजाओं को जीतकर उन्हें फिर अपने-अपने राज्य पर स्थापित कर दिया था और "देवपुत्र-शाही-शहानुशाही" शक-मुरुण्ड तथा सिंहल आदि सब द्वीप-

---

* कौराल = उड़ीसा के समुद्र-तट पर।

† पिष्टपुर = मद्रास प्रान्त के गोदावरी ज़िले में।

‡ गिरिकोट्टुर = गञ्जाम ज़िले में कोठर।

§ एरण्डपल्ल = मद्रास प्रान्त में चिकाकोल के निकट।

|| काञ्ची = काञ्जीवरम्।

¶ अवमुक्त = राज्य का ठीक पता नहीं चला।

= वेङ्गी = पूर्व समुद्र-तट पर गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का प्रदेश।

+ पालक = कृष्णा नदी के दक्षिण का प्रदेश।

× देवराष्ट्र = मद्रास प्रान्त के विजगापट्टम् ज़िले का एक विभाग। देखिए गौ० ही० ओझा, राजपूताने का इतिहास, पृ० ११६–११७।

निवासी उसके समक्ष बहुमूल्य भेंट लेकर उपस्थित होते और अपने-अपने प्रदेशों के शासन करने की उससे आज्ञा माँगते थे। 'देवपुत्र-शाही-शहानुशाही' ये कुशन-वंशी कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव की उपाधियाँ थीं। ई० सन् की तीसरी शताब्दी में कनिष्क के साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे जिन पर समुद्रगुप्त के समय में उसके वंशज पश्चिमोत्तर पञ्जाब से आक्सस नदी पर्य्यन्त शासन कर रहे थे। बहुत सम्भव है कि वे कुशन राजा इन पूर्वोक्त उपाधियों को धारण किये हुए थे। 'शहानुशाही'—शाहंशाह—यह ईरान में राज्य करनेवाले किसी कुशन-वंशी राजाधिराज का खिताब होना चाहिए, जो कदाचित् भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से लेकर आक्सस नदी तक राज्य कर रहा था। शक-जाति के क्षत्रप गुजरात और सुराष्ट्र में शासन करते थे। पुराणों में मुरुण्ड-वंश को म्लेच्छ लिखा है। जैन-ग्रन्थों में उल्लेख है कि मुरुण्ड-राज कन्नौज का राजा था और पाटलिपुत्र में रहता था। ईसा की दूसरी और तीसरी शताब्दी में इन मुरुण्ड* लोगों का राज्य गङ्गा के आस-पास था और गुप्त-राज्य के स्थापित होने के पूर्व गङ्गा के प्रान्तों में उनका विशेष प्रभाव था, किन्तु समुद्रगुप्त के समय उनका राज्य केवल उत्तर में ही रह गया था। इन सारे विदेशी राजाओं ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार की।

सिंहल—चीन के इतिहासकारों ने लिखा है कि सिंहल (लङ्का) के राजा मेघवर्ण ने ई० स० ३६० के लगभग समुद्रगुप्त के दरबार में अमूल्य मणि-रत्नों के उपहार समेत राजदूत इसलिए भेजे थे कि उसे बोध-गया में सिंहल द्वीप से आनेवाले यात्रियों के विश्राम के लिए एक मठ बनवाने की आज्ञा दी जाय। इस प्रार्थना को समुद्रगुप्त ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। सिंहल के राजा ने वहाँ एक विशाल मठ बनवा दिया और उसे बहुत कला-

---

* शक-मुरुण्ड—ये कदाचित् उज्जैन के महाक्षत्रप थे। स्टेन कोनो का कथन है कि मुरुण्ड शब्द का अर्थ शकों की भाषा में 'स्वामी' होता है और उज्जैन के क्षत्रपों के नाम के साथ 'स्वामी' प्रायः प्रयुक्त होता था।

कौशल से सजा-धजाकर उसमें बुद्धदेव की रत्न-जटित सुवर्ण-प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा करवाई। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग ने इस विशाल मठ को बोध-गया में देखा था। उस समय इस मठ में महायान पन्थ के एक हज़ार भिक्षुक रहते थे और लङ्का के यात्रियों का वहाँ ख़ूब आतिथ्य-सत्कार होता था।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य का विस्तार—पूर्व में ब्रह्मपुत्रा से पश्चिम में यमुना और चम्बल तक, उत्तर में हिमाचल की उपत्यका से दक्षिण में नर्मदा तक समुद्रगुप्त का राज्य विस्तृत था जिस पर वह स्वयं शासन करता था। इन सीमाओं के बाहर उत्तरापथ में जो राज्य थे वे सभी उसके साम्राज्य के अधीन हो चुके थे। दक्षिणापथ के अनेक राजा उसकी सेना से पद-दलित होकर और उसके प्रताप और पराक्रम से अभिभूत होकर उसके आश्रित बन गये। विदेशीय कुशन, शक और सिंहल के राजाओं ने उसके प्रखर प्रताप के सामने सिर झुकाया। पश्चिम एशिया की आक्सस नदी से सिंहल द्वीप पर्य्यन्त उसकी कीर्ति-पताका फहराती थी। इस चक्रवर्ती सम्राट् की तुलना नैपोलियन से की जाती है। किन्तु नैपोलियन की विजय-यात्रा में मोस्को से पलायन करना और वाटरलू में परास्त होना ये दो जैसी घटनाएँ हैं वैसी समुद्रगुप्त के जीवन में कहीं भी नहीं हुईं। हज़ारों कोसों में दिग्विजय करके उसने अपने अतुल साहस, पराक्रम और सङ्गठन-शक्ति का जगत् को परिचय दिया था।

अश्वमेध-यज्ञ—सम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी दिग्विजय के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया था और उसमें दान और दक्षिणा देने के लिए सुवर्ण के पदक ढलवाये थे। उन सिक्कों में एक ओर यज्ञ-स्तम्भ में बँधे हुए घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर हाथ में चँवर लिये प्रधान महिषी की मूर्ति अङ्कित की गई है और उन पर '**अश्वमेध-पराक्रमः**' लिखा रहता है। दूसरे शिलालेखों से पता चलता है कि चिरकाल से न होनेवाले अश्वमेध यज्ञ भी उसने किये थे और न्याय से उपार्जित असंख्य सुवर्ण और गौओं का वह दान करनेवाला था।

समुद्रगुप्त का चरित्र—पराक्रम का पुतला सम्राट् समुद्रगुप्त असाधारण प्रतिभावान् पुरुष था।* उसके चरित्र में कठोरता और मृदुता का अद्भुत सम्मिश्रण था। वह जैसा शूरवीर और साहसी था वैसा ही सहृदय विद्वान् था। वह गान्धर्व-विद्या में निपुण था। 'वह सङ्गीत-कला में नारद और तुम्बुरु को भी लज्जित करता था।' उसके सङ्गीत-प्रेमी होने का प्रमाण सुवर्ण के कुछ वीणाङ्कित सिक्कों से स्पष्ट मिलता है। इन सिक्कों पर 'महाराजाधिराज श्रीसमुद्रगुप्तः' लिखा है और वीणा बजाती एक ऊँचे मञ्च पर बैठी हुई राजमूर्ति अङ्कित की गई है। इस सहृदय सम्राट् को कविता का भी बड़ा चाव था। वह काव्य रचने में ऐसा चतुर था कि विद्वान् उसे 'कविराज' कहते थे। उसकी कविता पर विद्वान् लोग रीझते थे। उसके कई सिक्कों पर छन्दोबद्ध लेख मिलते हैं जिनसे उसका काव्य-प्रेम सूचित होता है।† सिक्कों पर संस्कृत छन्दों में लेख लिखने की परिपाटी समुद्रगुप्त ने ही चलाई थी जिसका उसके वंशजों ने अनुकरण किया। इतने पुराने समय के किसी अन्य जाति के सिक्कों पर छन्दोबद्ध लेख नहीं मिलते। प्रयाग के स्तम्भ-लेख में यह लिखा है कि काव्य और लक्ष्मी के विरोध को उसने मिटा दिया। विद्वानों के सत्सङ्ग का उसे व्यसन था।‡ शास्त्रों के समर्थन और अध्ययन में उस मेधावी का मन लगता था। वह स्वयं विद्वान् था और विद्वानों का आदर करता था।§ वह वेद-मार्ग का अनुयायी था।|| उसने धर्म का प्राचीर (परकोटा) बाँधा था—उसकी मर्यादा स्थापित की थी। वह बड़ा दयालु था। पराजित शत्रुओं के साथ वह बड़ी उदारता से व्यवहार करता था। 'इसका समय कङ्गाल, दीन,

---

* 'यस्योर्जितं समरकर्म पराक्रमेद्धम्'—फ्लीट, गु० शि० २

† 'विद्वल्लोके स्फुटबहुकविताकीर्ति-राज्यं भुनक्ति'—फ्लीट, गु० शि० १

‡ 'यस्य प्रज्ञानुषङ्गो चितसुखमनसः शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः'।

§ 'वैदुष्यं तत्त्वभेदि' .. .. फ्लीट, गु० शि० १।

|| 'अध्येयः सूक्तमार्गः'। 'धर्म-प्राचीरबन्धः'। फ़्लीट, गु० शि० १।

अनाथ और दुखियों की सहायता में व्यतीत होता था, मानो उसने लोकानुग्रह के लिए ही शरीर धारण किया था।'

राजनीति तथा साम्राज्य-सङ्गठन—समुद्रगुप्त केवल युद्ध-कला में ही पटु न था किन्तु वह राजनीति में भी निष्णात था। जिस प्रकार उसने अपने साम्राज्य की शासन-व्यवस्था की थी उससे उसकी प्रगल्भ नीति-निपुणता का परिचय मिलता है। गुप्त-साम्राज्य की चिरस्थिति के उद्देश्य से सारे विजित देशों को अपने ही राज्य में मिला लेना—अपने ही शासनाधीन करना—उसने नीति-विरुद्ध समझा। अतएव, उत्तरापथ के ही कुछ प्रदेश गुप्त-राज्य में मिलाकर और आर्यावर्त की बिखरी हुई राज-शक्तियों को एकत्र कर उसने वहाँ अपनी सुदृढ़ और निष्कण्टक सत्ता स्थापित की। अपने राज्य के सीमा-प्रान्तों को सुरक्षित रखने के लिए उसने आटविक (जङ्गल के) राजाओं को अपना सेवक बनाया। शेष सीमान्त राज्यों में उसका प्रचण्ड शासन उसे कर देकर, उसकी आज्ञा मानकर, उसे प्रणाम करके पूरा किया जाता था। किन्तु प्रचण्ड नीति का ही वह सर्वथा अवलम्बन न करता था। उसने राज्य-च्युत राजाओं को फिर बड़ी उदारता से राजगद्दी पर बैठाया और जीते हुए नरेशों का धन फिर उन्हें वापिस दे दिया। दक्षिणापथ के राजाओं को उसने वश में करके फिर अनुग्रह के साथ उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति फैलाई। दक्षिण के दूरवर्ती राज्यों के प्रति उसने निग्रह की नहीं वरन् अनुग्रह की नीति का पालन किया। विदेशी राजा उसकी विविध प्रकार से सेवा करते थे। अपने राज्योपभोग के लिए उससे फ़रमान माँगते थे। उसका सिंहल के राजा से मित्रता का सम्बन्ध था। इस प्रकार समुद्रगुप्त ने अपनी निर्दोष नीति की भित्ति पर गुप्त-साम्राज्य का निर्माण और सङ्गठन किया था।

राज्य-काल—समुद्रगुप्त सिंहल के राजा मेघवर्ण का समकालीन था, जिसका समय ई० स० ३५१ से ३७९ तक था। एलन का कथन है कि समुद्रगुप्त का शासन-काल ई० स० ३३५ से ३८० तक होना सम्भव है। उसकी रानी दत्तदेवी से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने जन्म लिया जो उसका उत्तराधिकारी हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य—समुद्रगुप्त ने अपने बहुत से पुत्रों में से द्वितीय चन्द्रगुप्त ही को राज-सिंहासन के योग्य समझा था और वही उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसका राज्य-काल ई० स० ३८० के आसपास प्रारम्भ हुआ। उसने लगभग ३४ वर्ष तक राज्य किया। वह अपने पिता के सदृश साहसी, वीर और प्रतापी हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पिता से भी अधिक देश अपने राज्य में मिलाये। बङ्गाल से लगाकर बैक्ट्रिया (बलख) तक के देशों पर उसने विजय प्राप्त की तथा गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा, राजपूताना आदि पर राज्य करनेवाले शक-जाति के क्षत्रपों का राज्य छीनकर ई० स० ३९५ के लगभग उनके राजवंश को नष्ट कर दिया।

मालवा, गुजरात और सुराष्ट्र की विजय—मालवा के उदयगिरि पर्वत की गुफा में चन्द्रगुप्त के सन्धि-विग्रह-विभाग के सचिव वीरसेन ने शिव की पूजा के लिए एक गुफा-मन्दिर बनवाया था। उस गुफा के शिलालेख में यह लिखा है कि राजा जिस समय समस्त पृथ्वी जीतने के लिए आया था उस समय पाटलिपुत्र-वासी मैं भी उसके साथ इस देश में आया था।* इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त ने स्वयं मालवा और सौराष्ट्र पर आक्रमण किया था। साँची और उदयगिरि के तीन शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि ई० स० ४०१ (गु० सं० ८२) से पहले मालवा पर चन्द्रगुप्त द्वितीय का अधिकार स्थापित हो चुका था। सम्भवतः इसी युद्ध-यात्रा में चन्द्रगुप्त ने गुजरात और सुराष्ट्र पर आक्रमण किया और शकजातीय प्राचीन क्षत्रप-वंश का राज्य गुप्त-साम्राज्य में मिला लिया। इन पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्के शक संवत् ३१० (ई० स० ३८८) तक के मिले हैं जिनसे अनुमान होता है कि महाक्षत्रप रुद्रदामा के वंशजों ने सुराष्ट्र देश पर ई० स० ३८८ के आसपास तक राज्य किया था। गुप्त संवत् ९० (ई० स० ४०९) से द्वितीय चन्द्रगुप्त ने

---

* 'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञा सहैव समागतः।
भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत्॥'—उदयगिरि का शिलालेख।

सौराष्ट्र के शक क्षत्रपों की शैली पर अपने नाम के चांदी के सिक्के बनवाना शुरू किया था। इससे सिद्ध होता है कि ई० स० ३८८ से ४०९ के बीच के समय में महाक्षत्रप रुद्रसिंह का राज्य गुप्त-साम्राज्य में संयोजित कर लिया गया। संस्कृत कवि बाण ने जनश्रुति के आधार पर हर्ष-चरित में लिखा है कि शत्रु के नगर में दूसरे की स्त्रियों के कामुक शकपति को स्त्री के वेश में छिपे हुए चन्द्रगुप्त ने मार डाला। सम्भवतः यह चन्द्रगुप्त के सौराष्ट्र-विजय के समय की घटना हो।

राजा चन्द्र की दिग्विजय—दिल्ली की कुतुबमीनार के पास स्थित लोह-स्तम्भ पर खुदा हुआ एक लेख मिला है। इसमें किसी प्रतापशाली राजा चन्द्र का **वङ्ग** देश में एकत्र शत्रुओं और सिन्धु नदी के पार **वाह्लीकों** के जीतने का उल्लेख है। कुछ विद्वानों का मत है कि इस लेख का चन्द्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही होना चाहिए जिसने अपने पराक्रम से बङ्गाल के विद्रोह को शान्त किया और सिन्धु के पार वाह्लीकों को परास्त किया। उसकी उपाधि 'विक्रमादित्य' थी और उसी ने भारत के शक-राज्य की जड़ काटी थी।*

उज्जयिनी—पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य पर अधिकार स्थापित होने के कारण मालवा, गुजरात आदि बड़े सम्पन्न प्रदेश गुप्त-साम्राज्य में मिला लिये गये थे। प्राचीन काल से भड़ोच, सोपारा आदि पश्चिमी तट के बन्दरगाहों द्वारा भारत का पाश्चात्य देशों से निरन्तर व्यापार होता था। वहाँ के शुल्क की आय से इस समय गुप्त-नरेश धन-कुबेर बन गये होंगे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने पश्चिमी प्रान्त की राजधानी उज्जैन में स्थापित की। प्राचीन समय से ही वह नगर विद्या और व्यापार का बड़ा केन्द्र था और हिन्दुओं की सात पवित्र पुरियों में उसकी गणना की जाती थी। कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में उज्जयिनी को स्वर्ग का चमकता हुआ टुकड़ा बतलाया है—'**दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्**'। विद्या और वैभव का केन्द्र होने के कारण उस पवित्र पुरी पर राजाओं का बड़ा अनुराग रहता था। राजशेखर ने

---

* देखिए हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' की भूमिका।

लिखा है कि कालिदास, मेण्ठ, भारवि आदि कवियों की परीक्षा उज्जयिनी में हुई थी। वहाँ राजा लोग कवियों का दान-मान से सत्कार किया करते थे।*

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का चरित्र—चन्द्रगुप्त द्वितीय विद्वानों का आश्रयदाता और विष्णु का परम भक्त था। उसने अनेक उपाधियाँ धारण की थीं। उसके सिक्कों पर 'विक्रमाङ्क', 'विक्रमादित्य', 'अजितविक्रम', 'सिंह-विक्रम', 'परम भागवत' आदि उपाधियाँ मिलती हैं। कुछ सिक्कों पर राजा और घायल होकर गिरते हुए सिंह की मूर्तियाँ अङ्कित हैं।† इन सिक्कों से उसकी वीरता और साहस का पता लगता है। उसने विद्वानों को ऊँचे-ऊँचे अधिकारों पर नियत किया था। चन्द्रगुप्त के सन्धि-विग्रह-विभाग का मन्त्री (Minister for foreign affairs) कवि वीरसेन था जो व्याकरण, साहित्य, न्याय और लोकनीति का ज्ञाता था और शैव-धर्म का अनुयायी था। साँची के शिलालेख से ज्ञात होता है कि बौद्ध-धर्मावलम्बी आम्रकार्द्दव उसकी सेना का बड़ा अफ़सर था। इससे स्पष्ट है कि परम वैष्णव होते हुए भी चन्द्रगुप्त अन्य धर्मावलम्बियों का आदर करता था। ऐसे उदार-मनस्क सम्राट् के शासन में भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर विद्वेष होने का कोई अव-सर न होता था। उसके सिक्कों पर अङ्कित लेखों से प्रकट होता है कि उसे यज्ञ, दान आदि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान में बड़ी अभिरुचि थी। वह साहित्य का प्रेमी और पोषक अवश्य होगा जैसा कि भारत की साहित्यिक कथाओं में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य के विषय में प्रसिद्ध है। उसके समय में प्रचलित अनेक प्रकार के सोने और चाँदी के सिक्कों की अधिकता से अनुमान होता है कि उसका राज्य-काल शान्तिपूर्ण और चिरस्थायी रहा होगा और उसकी प्रजा ने व्यापार और उद्योग-धन्धों में ख़ूब उन्नति की होगी। चीनी यात्री फ़ाहियान के विवरण से प्रकट होता है कि भारतीय प्रजा उस समय सर्वथा सुखी और

---

* राजशेखर—काव्य-मीमांसा—पृ० ५५।

† 'नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितश्रिया दिवं
जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः।'

सम्पन्न थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य शासन-कार्य्य में जैसा निपुण था वैसा ही राजनीति में भी दक्ष था। उसने विजातीय शकों से भारत के भीतर और बाहर घोर युद्ध किये और उनकी सत्ता समूल उच्छिन्न कर डाली। किन्तु इस युद्ध-नीति के साथ-साथ उसने भारत के तत्कालीन प्रसिद्ध राजघरानों से सन्धि और मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था। इस नीति के अनुसार द्वितीय चन्द्र-गुप्त ने नाग-वंश की महारानी कुबेरनागा से विवाह किया था। मथुरा और पद्मावती (ग्वालियर राज्य) के आस-पास के प्रदेशों पर शासन करनेवाला नाग-वंश प्राचीन काल से प्रसिद्ध था। गुप्त-वंश के उत्थान के पहले इस वंश के राजाओं ने अनेक अश्वमेध-यज्ञ किये थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कुबेरनागा से उत्पन्न अपनी राजकुमारी प्रभावतीगुप्ता का विवाह दक्षिण के वाकाटक महाराज रुद्रसेन द्वितीय से किया था। यह भी सम्बन्ध बड़े राजनीतिक महत्त्व का था। इसके कारण गुप्त-सम्राट् का प्रभाव दक्षिण के वाकाटक-राज्य के कुन्तल (मैसोर) देश पर्यन्त व्याप्त हो गया।

चन्द्रगुप्त द्वितीय का राज्य-काल—चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय के जो शिलालेख मिले हैं उनमें चार लेख गुप्त संवत् ६१ से ९३ (ई० स० ३८० से ४१२) तक के हैं। इनसे सिद्ध होता है कि उसने ३२ वर्ष के लगभग राज्य किया उसकी दो रानियाँ थीं। पहली का नाम **कुबेरनागा** था जिसकी पुत्री प्रभावती का विवाह दक्षिण के वाकाटक-वंश के राजा रुद्रसेन के साथ हुआ था। दूसरी रानी **ध्रुवदेवी** से दो पुत्र कुमारगुप्त और गोविन्दगुप्त उत्पन्न हुए थे। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त कुमारगुप्त राज्य-सिंहासन पर बैठा था।

फ़ाहियान की भारत-यात्रा—चन्द्रगुप्त के राज्य-काल में चीनी-यात्री फ़ाहियान मध्य एशिया के मार्ग से भारत में आया। उसने ई० स० ३९९ से ४१४ तक भारतवर्ष में तीर्थाटन किया और अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा। उसके यात्रा-विवरण से तत्कालीन भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। उसकी यात्रा का उद्देश्य बौद्ध तीर्थों का दर्शन और 'विनय-पिटक' आदि बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। फ़ाहियान निडर

मनुष्य था। वह साहस का पुतला था। भारत की पुण्यभूमि के देखने की उत्कट इच्छा से, अपनी धार्मिक श्रद्धा के आवेश में, जङ्गलों के अनेक सङ्कट सहन करता हुआ वह लोप-नोर से चीनी तुर्किस्तान के खोतान नगर में पहुँचा। उस समय खोतान एक हरा-भरा बौद्ध-राज्य था। वहाँ महायान पन्थ का प्रचार था। हाल ही में पुरातत्त्वज्ञ स्टाइन को खोतान में प्राचीन स्तूपों और विहारों के न मालूम कितने चिह्न मिले हैं। वहाँ से वह पामीर को लाँघता हुआ स्वात, गान्धार और तक्षशिला होकर पेशावर पहुँचा। उसने पेशावर में एक बड़ा ऊँचा और सुन्दर बौद्ध-स्तूप देखा। वहाँ से मथुरा, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली आदि स्थानों में पर्यटन कर वह पाटलिपुत्र में पहुँचा जहाँ तीन वर्ष रहकर उसने संस्कृत और बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन किया। दो वर्ष ताम्रलिप्ति (मिदनापुर ज़िले का वर्तमान तामलुक) में रहकर, जो उस समय बंगाल का बड़ा बन्दरगाह था, समुद्र-मार्ग से सिंहल और जावा होता हुआ वह चीन देश को लौट गया।

पाटलिपुत्र का वर्णन—फ़ाहियान धर्म-सम्बन्धी बातों में इतना लवलीन था कि ऐहिक प्रसङ्गों के विषय में उसने अपने यात्रा-विवरण में अतीव संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखी है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की गङ्गा के तटस्थ प्रान्तों की सामाजिक और राजनीतिक दशा का सजीव और मनोहर चित्र इन टिप्पणियों से प्रस्फुट होता है। उसकी यात्रा की पुस्तक से पाया जाता है कि चन्द्रगुप्त की प्रजा धन-धान्य-सम्पन्न और सुखी थी, मगध के नगर विशाल थे, सार्वजनिक संस्थाएँ अनेक थीं, मार्गों में पान्थशालाएँ बनी हुई थीं, धनवान् और उपकार-शील लोगों ने पाटलिपुत्र में बढ़िया औषधालय खोल रखा था जहाँ दीन-दुखिया, लँगड़े-लूले और अन्य रोगियों का निःशुल्क इलाज होता था। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा करके औषधि सेवन कराते और वहीं रखकर उनके उपचार और पथ्य का भी प्रबन्ध करते थे। पाटलिपुत्र धनाढ्य नगर था। वहाँ हीनयान और महायान के दो विहारों में लगभग ७०० बौद्ध भिक्षु रहते थे। उनके पाण्डित्य की कीर्ति से आकृष्ट होकर देशान्तरों के विद्यार्थि-वृन्द उनके व्याख्यानों को सुनने वहाँ आते थे। पाटलिपुत्र के मध्य में निर्माण किये

हुए अशोक के महलों और मण्डपों को देखकर, जो अद्यावधि विद्यमान थे, चीनी यात्री फ़ाहियान आश्चर्य में निमग्न हो गया। उसने बड़े आश्चर्य से लिखा है कि शिल्प-कला से सजाये हुए और बेलबूटेदार विशाल पत्थरों के भवन मनुष्यकृत नहीं मालूम होते, क्योंकि बिना आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े-बड़े पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा।

शासन-व्यवस्था—फ़ाहियान को इस देश का जल-वायु पसन्द आया। राजा की मृदु नीति देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। राजा न तो बहुत कठोर और न बहुत मृदुल स्वभाव का शासक था। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ आ-जा सकते थे। उन्हें देश-विदेशों में आने-जाने के लिए आज्ञा-पत्र न लेने पड़ते थे। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी या हलका दण्ड दिया जाता था। शारीरिक या प्राणदण्ड बहुत कम दिया जाता था। बार-बार विद्रोह करने पर अपराधी को कभी-कभी दाहिना हाथ काटे जाने का दण्ड दिया जाता था। राज-कर्मचारियों और राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता था। राज-भूमि की पैदावार का एक निश्चित भाग कृषक राजा को दिया करते थे। फ़ाहियान के उक्त कथन से स्पष्ट है कि गुप्त सम्राट् के शासन में प्रजा सुखी थी और राज्य की ओर से प्रजा के जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप होता था।

सामाजिक-दशा—फ़ाहियान ने लिखा है कि लोग अहिंसा-धर्म का सर्वत्र अनुसरण करते थे। अहिंसा-सिद्धान्त का पालन प्रायः सार्वत्रिक ही था। देशभर में जीव-हत्या न होती थी। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता था और न कोई लहसुन और प्याज़ ही खाता था। न तो कोई सूअर या मुर्ग़ी पालता था और न पालतू पशु ही बेचे जाते थे। बाज़ारों में पशु-वध-शालाएँ अथवा मांस और शराब बेचने की दूकानें नहीं थीं। शिकारी, चाण्डाल आदि अस्पृश्य जाति के लोग जब शहर में आते थे तो उन्हें स्पर्श न करने के सूचनार्थ एक लकड़ी खटखटाना पड़ता था। धनिक लोग बड़े-बड़े विहार निर्माण कराते थे और उनके ख़र्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते थे। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र-भोजन मुफ़्त

मिलता था। लेन-देन में लोग कौड़ियों का उपयोग करते थे। यद्यपि चांदी-सोने के सिक्कों का ख़ूब प्रचार था तथापि साधारण जीवन के निर्वाहार्थ केवल कौड़ियों से ही काम चल जाता था, यही फ़ाहियान के कथन का तात्पर्य प्रतीत होता है। पाटलिपुत्र तथा अन्य नगरों में प्रतिवर्ष बड़े समारोह से बौद्ध मूर्तियों की रथ-यात्रा के उत्सव कीर्तन सहित मनाये जाते थे। राज्य की सुव्यवस्था के कारण प्रजा स्वतन्त्र और धनाढ्य थी, यात्रियों के मार्ग चोर-डाकुओं से सुरक्षित थे। फ़ाहियान को अपनी लम्बी यात्रा में कहीं भी चोरों की बाधा न भोगनी पड़ी थी। पर-धर्म-सहिष्णुता का भाव प्रजा में प्रसरित था। यद्यपि राजा परम भागवत हिन्दू था, तथापि धार्मिक मत-भेद के कारण किसी को उसके राज्य में क्लेश न उठाना पड़ता था। यद्यपि फ़ाहियान के लेख से इस देश में बौद्ध-धर्म का ही प्रभुत्व जाना जाता है तथापि इस युग में बौद्ध-धर्म का ह्रास का आरम्भ हो गया था जिसके लक्षण चीनी यात्री को दृष्टिगोचर होने कठिन थे।

कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य—(ई० स० ४१३–४५५) द्वितीय चन्द्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त प्रथम कुमारगुप्त गुप्त-सिंहासन पर बैठा और उसने लगभग ४० वर्ष तक राज्य किया। उसके राज्य-काल का सविस्तर वृत्तान्त नहीं मिलता परन्तु उसके समय के अनेक उत्कीर्ण लेखों और सिक्कों से स्पष्ट पता चलता है कि उसके दीर्घकालीन शासन में गुप्त-साम्राज्य को किसी भांति की क्षति नहीं पहुँची। उसका भारत पर चक्रवर्ती शासन अविकल रूप से स्थित रहा।* सम्भवतः, अपने पिता और पितामह की भांति वह भी बड़ा वीर और विजयी था। उसके कुछ सुवर्ण के सिक्कों पर '**अश्वमेध-महेन्द्र**' लिखा मिलता है। इससे अनुमान होता है कि उसने अपनी विजय के उपलक्ष में और

---

* "चतुःसमुद्रान्तविलोलमेखलां
सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनी
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥"—मंदसोर शिलालेख, (फ्लीट, सं० १८)

प्रथम कुमारगुप्त के समय की बुद्ध-प्रतिमा—लखनऊ म्यूज़ियम

चक्रवर्ती पद की रक्षा के लिए अश्वमेध-यज्ञ किया था। कुमारगुप्त प्रथम के सिक्कों पर 'परम राजाधिराज', 'अजित महेन्द्र', 'महेन्द्रादित्य', 'परम भागवत' आदि उपाधियाँ मिलती हैं। उसके समय के सिक्कों और शिलालेखों में गुप्त संवत् ९६ से १३६ (ई० स० ४१५—४५५) तक के वर्ष अङ्कित हैं जिनसे उसके राज्य का दीर्घकालीन होना सिद्ध होता है।

पुष्यमित्र और हूणों के आक्रमण—प्रथम कुमारगुप्त के अन्त-समय में गुप्त-साम्राज्य पर विपत्ति के बादल उमड़ने लगे। ई० स० ४५५ के आस-पास उसके राज्य पर शत्रुओं के आक्रमण शुरू हुए। इस घोर सङ्कट के समय युवराज स्कन्दगुप्त ने अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी। कहा जाता है कि धीर-वीर युवराज स्कन्दगुप्त ने अपने कुल की विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर करने के लिए तीन मास ज़मीन पर सोकर बिताये थे। इसी अवसर पर उसके पिता का स्वर्गवास हुआ। भिटरी के स्तम्भ पर स्कन्दगुप्त के लेख में लिखा है कि जिस प्रकार शत्रुओं को मारकर श्रीकृष्ण देवकी के पास आये थे उसी प्रकार पुत्र की विजय से हर्ष के आँसू बहाती हुई मा के समीप स्कन्दगुप्त आया। 'हूणों से लड़ते समय उसके बाहुबल से पृथ्वी कांप गई थी।'* भिटरी के लेख में लिखा है कि गुप्त-वंश में स्कन्दगुप्त परम पराक्रमी राजा हुआ। उसने स्वदेश और स्वधर्म की, बाहर के शत्रुओं के आक्रमणों से, रक्षा की। बङ्गाल से काठियावाड़ तक उसकी प्रताप-पताका फहराती रही। अपने अद्भुत पराक्रम के कारण वह 'विक्रमादित्य' कहलाया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य—गुप्त-साम्राज्य पर इस समय आक्रमण करने-वाले कोई शक्तिशाली पुष्यमित्र लोग थे जिनके इतिहास का पता नहीं चलता। उनके पश्चात् हूणों के उत्तरापथ पर हमले हुए जो टिड्डीदल के समान इस सस्य-श्यामल देश पर टूट पड़े। स्कन्दगुप्त ने इन बर्बर जातियों के आक्रमणों से अपने देश की रक्षा की। गुप्त-वंश का मेघाच्छन्न प्रताप-सूर्य फिर से जाज्व-ल्यमान हो उठा। ई० स० ४५५ में स्कन्दगुप्त ने साम्राज्य के शासन की बाग-

---

* 'हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता'—भिटरी का स्तम्भ-लेख।

डोर अपने हाथ में ली और सब देशों में रक्षक नियत किये। उसकी कीर्ति म्लेच्छ देशों में फैली। उसने शत्रुओं का दर्प नष्ट किया। उसने सुराष्ट्र के शासन के लिए पर्णदत्त को नियुक्त किया जिसके पुत्र चक्रपालित ने गिरनार में घोर वृष्टि के कारण टूटे हुए सुदर्शन नामक झील के बाँध का फिर से जीर्णोद्धार कराया।* ई० स० ४६१ के गोरखपुर के कहोम के लेख से प्रकट होता है कि गुप्त-राज्य के पूर्व और पश्चिम के प्रान्त उक्त समय तक स्कन्दगुप्त के ही अधिकार में थे। ई० स० ४६६ के एक ताम्रपत्र में 'परम भट्टारक महाराजाधिराज' स्कन्दगुप्त का राज्य-काल 'अभिवर्धमान विजय'-युक्त कहा गया है। यह लेख बुलन्दशहर ज़िले में मिला है। निःसन्देह उक्त समय तक गुप्त-राज्य के मध्यवर्ती देशों में शान्ति विराजती थी और उसके भावी ह्रास के कुछ भी लक्षण प्रतीत न होते थे। उसके सिक्कों पर उसकी उपाधियाँ 'क्रमादित्य' तथा 'विक्रमादित्य' मिलती हैं। वह भी परम वैष्णव था। उसकी मृत्यु ई० स० ४६७ के लगभग हुई।

कुमारगुप्त द्वितीय—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के उपरान्त कुमारगुप्त द्वितीय गुप्त-सिंहासन पर बैठा होगा। गुप्त-संवत् १५४ (ई० स० ४७३) का एक शिलालेख काशी के पास सारनाथ की बौद्ध-मूर्ति के नीचे खुदा है। इसमें ई० स० ४७३ में कुमारगुप्त के राज्य करने का स्पष्ट उल्लेख है।

बुधगुप्त और भानुगुप्त—स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी क्रमशः **द्वितीय कुमारगुप्त**, **बुधगुप्त** और **भानुगुप्त** बङ्गाल से मालवा तक शासन करते रहे। ये गुप्त-वंश की प्रधान शाखा के प्रतिनिधि थे। परन्तु इस वंश की दूसरी शाखा का भी पता चलता है।

पुरगुप्त, नरसिंहगुप्त और कुमारगुप्त—भिटरी (ग़ाज़ीपुर ज़िला) से मिली हुई राजमुद्रा की वंशावली के अनुसार प्रथम कुमारगुप्त के पश्चात् **पुरगुप्त**, **नरसिंहगुप्त** और **कुमारगुप्त** राजा हुए थे जो गुप्तवंश की

---

* एवं स जित्वा पृथिवीं समग्रां भग्नाग्रदर्पान्द्विषतश्च कृत्वा।
सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन्संचिन्तयामास बहुप्रकारम्॥
फ्लीट—स्कन्दगुप्त का गिरनार का शिलालेख। (ई० सन् ४५७ का)

दूसरी शाखा के प्रतिनिधि मालूम होते हैं। पुरगुप्त और नरसिंहगुप्त के सिक्कों पर क्रम से उनकी 'श्रीविक्रमः' और 'बालादित्य' उपाधियाँ मिलती हैं। चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग ने लिखा है कि नरसिंह बालादित्य ने नालन्द विश्वविद्यालय में ३०० फ़ुट ऊँचा एक विशाल मन्दिर बनवाया था जो सुवर्ण के प्रचुर प्रयोग से सजाया गया और निर्माण-कौशल के लिए विख्यात था। इन गुप्त-नरेशों का प्रधान वंश से कैसा सम्बन्ध था और किस प्रदेश पर इनका शासन था यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता।

मगध के अन्तिम गुप्त-नरेश—ई० स० ५३३ के लगभग गुप्त-वंश की प्रधान शाखा के नष्ट हो जाने पर भी कुछ काल तक इस वंश की एक शाखा का अधिकार मगध पर रहा था। इस अन्तिम गुप्त-वंश में ११ राजाओं के नाम मिलते हैं जो अन्य राजाओं के सामन्त होंगे। इन अन्तिम गुप्तों के समय में अवध और कन्नौज पर मौखरी-वंश के राजाओं का अधिकार था, जिनसे उनकी कभी अनबन और कभी मित्रता हो जाती थी। यद्यपि छठी शताब्दी के मध्य काल से मगध का राज्य-वैभव तो क्षीणप्राय हो चला था, तथापि इस देश के गौरव में, नालन्द आदि विशाल विद्यापीठ के कारण, इसकी जगत्प्रसिद्धि में किसी तरह की न्यूनता नहीं हुई। मगध बौद्ध-धर्म का सब से बड़ा केन्द्र अब भी माना जाता था। ई० स० ५३९ में चीन के बौद्ध सम्राट् वूटी ने महायान पन्थ के ग्रन्थों के संग्रह करने के लिए मगध में चीन के कुछ विद्वान् भेजे थे और मगध के राजा से उन ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद कराने के लिए एक भारतीय विद्वान् को भेजने की प्रार्थना की थी। मगध के राजा कुमारगुप्त ने बौद्ध विद्वान् परमार्थ को चीन की विद्वन्मण्डली के साथ चीन देश को भेजा। वहाँ परमार्थ ने अनेक धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद किया। सत्तर वर्ष की अवस्था में वह चीन में ई० स० ५६९ में मर गया। पूर्वोक्त चीनी सम्राट् के समय में ही ई० स० ५२० में बोधिधर्म (दक्षिण भारत के किसी राजा का पुत्र) चीन देश में गया जहाँ उसकी बड़ी कीर्ति हुई। चीन को जानेवाले भारतीय पण्डितों की नामावली में बोधिधर्म २८ वाँ था और चीन का वह प्रथम बौद्ध आचार्य्य माना गया था। इससे

यह निर्विवाद सिद्ध है कि चीन में भारतीय विद्वानों का बड़ा ही आदर-सत्कार होता था।

आदित्यसेन--पिछले गुप्त-वंश में **आदित्यसेन** प्रतापी राजा हुआ। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद वह स्वाधीन हो गया और 'राजाधिराज' की पदवी पाने के लिए उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया। इस वंश का अन्तिम राजा **जीवितगुप्त द्वितीय** था जिसका राज्य-काल ८ वीं शताब्दी में होना चाहिए। इसके पश्चात् मगध पर बङ्गाल के **पाल-वंश** का अधिकार स्थापित हुआ था।

पश्चिमी भारत में वल्लभी-वंश का उदय—हम पहले कह चुके हैं कि छठी शताब्दी के प्रारम्भ में गुप्त-साम्राज्य पतनोन्मुख हो चला था। इसके अङ्ग-भङ्ग होने शुरू हो गये थे और उसके सामन्त राजा स्वाधीन होने लगे थे। इसी समय के निकट बाहर से हूणों के प्रबल आक्रमण गुप्त-राज्य पर होने लगे। गुप्तों के **सेनापति भटार्क** ने काठियावाड़ के पूर्व **वल्लभी** में अपना राजवंश स्थापित कर लिया जिसका अधिकार भारत के पश्चिमी प्रान्तों पर ई० स० ७७० के लगभग तक रहा। चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग के कथन से प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी में वल्लभी नगर विद्या और वैभव का घर था, वहाँ पर अनेक बौद्ध मठ थे और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् गुणमति और स्थिरमति छठी शताब्दी में वहाँ हुए थे। चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने भी लिखा है कि उस समय भारत में **नालन्द** और **वल्लभी** दोनों ही विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र समझे जाते थे। वल्लभी के वंश का प्रताप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि कन्नौज के सम्राट् हर्ष ने वल्लभी के राजा ध्रुवभट्ट का अपनी पुत्री के साथ विवाह कर दिया था।

बुधगुप्त और भानुगुप्त के राज्य-काल की घटनाएँ—बुधगुप्त कुमारगुप्त दूसरे का उत्तराधिकारी हुआ। सारनाथ की एक मूर्ति पर खुदा हुआ लेख बुधगुप्त के राज्य काल का है जो गुप्त-संवत् १५७ (ई० स० ४७६) का है और दूसरा सागर ज़िले के एरण गाँव से गु० सं० १६५ (ई० स० ४८५) का मिला है। उसका आशय यह है कि "बुधगुप्त के राज्यकाल

में जब कि महाराज सुरश्मिचन्द्र यमुना और नर्मदा के बीच के प्रान्त का पालन कर रहा था उस समय (गु० सं० १६५ में) मातृविष्णु और उसके छोटे भाई धन्यविष्णु ने विष्णु का यह ध्वजस्तम्भ बनवाया।" बुधगुप्त के चाँदी के सिक्के मिले हैं जिन पर गु० सं० १७५ (ई० सन् ४६५) के अङ्क हैं। एरण के लेख से ज्ञात होता है कि उस समय तक मालवे पर बुधगुप्त का ही अधिकार था। पर उसके अन्तिम समय में गुप्त-साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तों पर हूणों का अधिकार हो गया और केवल पूर्वी प्रान्त गुप्तों के अधिकार में रहे, क्योंकि एरण गाँव से मिले हुए एक और लेख से ज्ञात होता है कि "महाराजाधिराज **तोरमाण** के राज्य के प्रथम वर्ष में स्वर्गीय मातृविष्णु के छोटे भाई धन्यविष्णु ने भगवान् वराह का मन्दिर बनवाया।" ई० स० ४८५ में मातृविष्णु और धन्यविष्णु दोनों भाई बुधगुप्त को मालवा का सम्राट् मानते थे और उसके आश्रितों में से थे। किन्तु मालवा पर तोरमाण का अधिकार होते ही धन्यविष्णु को उसका सामन्त बनना पड़ा। इस घटना से स्पष्ट है कि पाँचवीं शताब्दी का अन्त होते ही पश्चिमी प्रदेश गुप्त-वंशियों के हाथ से निकलकर हूणों के अधिकार में आ गये। गुप्त-साम्राज्य के बचे हुए भाग का बुधगुप्त के पश्चात् **भानुगुप्त** उत्तराधिकारी हुआ। एरण के ई० स० ५१० के शिलालेख में लिखा है कि 'अर्जुन के समान पराक्रमी वीर श्रीभानुगुप्त के साथ राजा गोपराज एरण में आया और शत्रु से लड़कर वीरगति प्राप्त की।' सम्भवतः ये शत्रु हूण लोग ही होंगे जिनसे गुप्त-राज्य के पश्चिमी प्रान्तों को वापस लेने के लिए भानुगुप्त ने चढ़ाई की, परन्तु उसमें वह कृतकार्य्य न हुआ, यही मालूम होता है। हूण केवल गुप्तों के पश्चिमी राज्य पर अधिकार कर सके थे, परन्तु बङ्गाल से मालवा तक का प्रदेश लगभग ई० स० ५३० पर्यन्त भानुगुप्त के अधिकार में ही रहा था।*

---

* खोह (बघेलखण्ड) से ई० स० ४८३ का परिव्राजक महाराजा हस्ती का एक लेख मिला है। इसमें "गुप्त नृप राज्य भुक्तौ" यह उल्लेख है जिससे अनुमान होता है कि राजा हस्ती भी बुधगुप्त का सामन्त था।

गुप्त-वंश के प्रताप का ह्रास भानुगुप्त के समय से होना आरम्भ हुआ। हूणों के निरन्तर आक्रमण बुधगुप्त के समय से ही गुप्त-राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर हो ही रहे थे। इस समय के लगभग मालवा में यशोधर्मा नामक एक बड़े पराक्रमी राजा का प्रादुर्भाव हुआ जिसने हूणों की शक्ति अपने बाहुबल से छिन्न-भिन्न कर अपने देश की विदेशियों से रक्षा की। गुप्त-साम्राज्य के भी अन्तिम पतन का कारण यही वीर विजयी यशोधर्मा हुआ होगा। सम्भवतः ई०स० ५३३-३४ के लगभग यशोधर्मा ने मिहिरकुल को हराकर अपने को उत्तरी भारत का सम्राट् घोषित किया होगा। चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग ने मिहिरकुल को पराजित करने का यश मगध के राजा नरसिंहगुप्त बालादित्य को ही दिया है। पर ह्वेन्त्साङ्ग का कथन अप्रामाणिक है। क्योंकि नरसिंहगुप्त तो यशोधर्मा के समय से पूर्ववर्ती है जिसका समकालीन गुप्त-राजा सम्भवतः भानुगुप्त ही था।

यशोधर्म—राजा यशोधर्म जिसको विष्णुवर्धन भी कहते थे, मालवा प्रान्त में बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसने हूणाधिपति मिहिरकुल के अत्याचार से भारतवर्ष का उद्धार किया। मन्दसोर से तीन शिलालेख यशोधर्म के समय के मिले हैं। इनमें से एक शिलालेख मालव (विक्रम) संवत् ५८९ (ई० स० ५३३) का है। दूसरे दोनों विजय-स्तम्भों के लेख का आशय निम्नलिखित है—"जो देश गुप्त-राजाओं तथा हूणों के अधिकार में नहीं आये थे उनको भी उसने अपने अधीन किया। लौहित्य (ब्रह्मपुत्र नदी)

जबलपुर ज़िले में उच्छकल्प के महाराज जयनाथ का ई० स० ४९४ का ताम्रपत्र मिला है। इसमें गुप्त संवत् के उल्लेख से अनुमान होता है कि गुप्त-वंश का प्रभाव पाँचवें शतक के अन्त तक उस प्रान्त में रहा।

खोह से मिले गु० सं० २०९ (ई०स० ५२८) के संक्षोभ के ताम्रपत्र में **'गुप्त नृप राज्य भुक्तौ'** लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि अभी तक गुप्तों के सामन्त स्वाधीन नहीं हुए थे।

दामोदरपुर (ज़िला दीनाजपुर) से मिले हुए ताम्रपत्रों से सिद्ध होता है कि गु० सं० २१४ (ई० स० ५३४) पर्यन्त, 'पुण्ड्रवर्धन भुक्ति' (उत्तरी बङ्गाल) पर भानुगुप्त ही का अधिकार था।

से महेन्द्र पर्वत (ट्रावङ्कोर के दक्षिण शिखर) और हिमालय से पश्चिमी समुद्र-तट तक के स्वामियों को उसने अपना सामन्त बनाया, और राजा मिहिरकुल ने भी, जिसने शिव के सिवा किसी के आगे सिर नहीं झुकाया था, उसके चरणों में अपना मस्तक नवाया।"* उत्तर और पूर्व देशों के राजाओं को वश में कर उसने 'राजाधिराज परमेश्वर' की उपाधि ग्रहण की। इस प्रतापी सम्राट् के पूर्व और परवर्ती वंश का कुछ पता नहीं चलता।†

हूणों का आक्रमण—हूण मध्य एशिया में रहनेवाली एक जाति थी जिसने एशिया और यूरोप के कई देशों पर आक्रमण किये। इस जाति का एक विभाग मध्य एशिया की ऑक्सस नदी के निकट आ बसा और दूसरा विभाग यूरोप की वोल्गा नदी के प्रदेशों में जा घुसा। एशिया में हूणों ने ईरान के ससानियन वंश के राजा फ़ीरोज़ को (ई० स० ४५७—४८४) परास्त कर उसका ख़ज़ाना लूटा और फिर वे भारत की ओर मुड़े। गान्धार देश को जीतकर पञ्जाब के शाकल नगर को अपनी राजधानी बनाया और क्रमशः आगे ही बढ़ते गये।

तोरमाण—स्कन्दगुप्त ने हूणों की बाढ़ को कुछ काल के लिए रोक दिया, किन्तु ई० स० ५१० के लगभग हूण राजा तोरमाण ने गुप्त-वंश के राजा भानुगुप्त से मालवा, राजपूताना आदि देश छीन लिये।

मिहिरकुल—तोरमाण का उत्तराधिकारी मिहिरकुल हुआ। वह शिव का परम भक्त था। मालवा के यशोधर्म से परास्त होने पर मिहिरकुल ने राजपूताना और मालवा आदि देश छोड़कर कश्मीर की शरण ली। लगभग ४० वर्ष में ही

---

* आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रा-
दागङ्गाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः।
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भि-
श्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।—फ्लीट गु० ई० पृ० १४६

† प्राचो नृपान् सुबृहतश्च बहूनुदीचः साम्ना युधा च वशगान् प्रविधाय येन।
नामापरं जगति कान्तमदो दुरापं राजाधिराजपरमेश्वर इत्युदूढम्॥

हूण-राज्य यहाँ से अस्त हो गया। उसने बौद्ध-धर्म पर बहुत अत्याचार किये। गान्धार देश में उनके स्तूप और मठ तुड़वाये। उसमें दया का लेश भी न था। यद्यपि वह भारत के अभ्यन्तर प्रदेशों से निकाल दिया गया था, तथापि कश्मीर, गान्धार आदि की ओर उसका अधिकार बना रहा। राजतरङ्गिणी में लिखा है कि कश्मीर के म्लेच्छों से भर जाने पर यमराज के समान उद्दण्ड मिहिरकुल नाम का राजा हुआ। मिहिरकुल का एक शिलालेख ग्वालियर से मिला है जो उसके १५ वें राज्य-वर्ष का है। ई० स० ५४२ के लगभग उसकी मृत्यु हो गई।

अभय-मुद्रा में बुद्ध-प्रतिमा—सारनाथ, काशी

सत्रहवाँ परिच्छेद

गुप्त-कालीन साहित्य, कला, विज्ञान और धर्म

गुप्त-युग—गुप्त-वंश का राज्य-काल, जिसके अन्तर्गत साढ़े तीन शतक (ई० स० ३०० से ६५०) का दीर्घ काल है, भारतीय प्रतिभा के विकास का अपूर्व समय था। साहित्य, विज्ञान और कला की परम उन्नति इस युग में हुई। गुप्त-सम्राटों की छत्रच्छाया में विद्वानों और कला-कोविदों को दान-मान सहित आश्रय मिला। गुप्त-नरेश स्वयं विद्वान् थे और विद्वानों का आदर करते थे। समुद्रगुप्त तो काव्य-कला में ऐसा प्रवीण था कि विद्वान् उसे 'कवि-राज' कहते और उसकी रचनाओं का अनुकरण करते थे। उसने अपने सिक्कों पर संस्कृत के ललित छन्दों में अपने विरुद और कारनामे लिखवाये थे। उसे विद्वानों के सत्सङ्ग का व्यसन था। वह कवि-गोष्ठी में बैठकर अपनी काव्य-कृतियों से उनका मनोरञ्जन किया करता था। वह शास्त्र के तात्त्विक अर्थ का समझनेवाला और समर्थन करनेवाला था। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति का रचनेवाला संस्कृत का महाकवि हरिषेण उस सम्राट् के दान-मान का पात्र था जिसने उसके चरित्र और दिग्विजय का वर्णन कर उसकी कीर्ति को अजर, अमर कर दिया। द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य भी विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता था। चीनी यात्री फ़ाहियान ने लिखा है कि पाटलिपुत्र उस समय विद्या का केन्द्र था; वहाँ के बौद्ध विद्वानों का यश सब दिशाओं में फैला हुआ था और उनके व्याख्यानों के सुनने के लिए विद्यार्थी दूर-दूर से आया करते थे। फ़ाहियान ने संस्कृत के अध्ययन में तीन वर्ष व्यतीत किये थे। महाकवि राजशेखर ने ई० स० की नवीं सदी के अन्त में लिखा है कि पूर्वकाल में पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों और उज्जयिनी में काव्यकारों की परीक्षाएँ हुआ करती थीं और जो इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते थे उनका यश देश में सर्वत्र फैल

जाता था। * वहाँ राजा 'ब्रह्म-सभाएँ' करते थे और उनमें सभापति होकर विद्वानों का दान-मान से सत्कार किया करते थे।

गुप्त-नरेशों का विद्यानुराग—द्वितीय चन्द्रगुप्त सम्भवतः वही 'विक्रमादित्य' हो जो संस्कृत की क्रमागत कथाओं में विद्वानों का बड़ा आश्रयदाता कहा जाता है। चीनी यात्री ह्वेन्त्सांग का कथन है कि मगध के बौद्ध नालन्द-विश्वविद्यालय में नरसिंहगुप्त बालादित्य ने ३०० फ़ुट ऊँचा एक विशाल मन्दिर बनवाया था जिसकी सज-धज बड़ी सुन्दर थी और जिसके निर्माण में रत्नों और सुवर्ण का अतिशय प्रयोग किया गया था। गुप्त-नरेशों का विद्यानुराग अत्यन्त प्रशंसनीय था।

संस्कृत-साहित्य—गुप्त-युग में संस्कृत-साहित्य की परम उन्नति हुई, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग ख़ूब ही विकसित तथा पल्लवित हुए। उस समय के समस्त शिलालेख और ताम्रपत्र संस्कृत भाषा में लिखे मिलते हैं। सिक्कों पर भी संस्कृत छन्दों में लेख उत्कीर्ण करवाये गये थे। उस समय के गद्य और पद्य की भाषा-शैली अत्यन्त प्राञ्जल और परिमार्जित थी। प्राकृत या पाली की अपेक्षा संस्कृत ही का विद्वान् अधिक आदर करने लगे थे। **असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग** आदि बौद्ध आचार्यों ने पाली भाषा का पक्षपात छोड़कर संस्कृत को अपना लिया था और अपनी कृतियों में उसका उपयोग किया था।

गुप्तों का राज्य-काल संस्कृत-साहित्य के इतिहास का परम ओजस्वी युग था। उसमें अनेक महाकवि और नाट्यकार हुए। यूनान के इतिहास में जैसा पेरीक्लीज़ (Pericles) का और इँगलैंड के इतिहास में जैसा एलिज़बैथ (Elizabeth) का समय हुआ—जिसमें समस्त देश की प्रसुप्त प्रतिभा सहसा जाग उठी—वैसा ही भारत के संस्कृत-साहित्य के इतिहास में गुप्त-युग था। यही समय था जब भारत के कविशिरोमणि कालिदास ने अपने अजर, अमर काव्यों और नाटकों की रचना की थी।

---

* काव्य-मीमांसा—पृ० ५५।

महाकवि कालिदास—भारतीय दन्तकथाओं में प्रसिद्ध है कि उज्जैन के शकारि राजा विक्रमादित्य की सभा में नौ प्रसिद्ध विद्वान् (नवरत्न) विराजते थे। किन्तु जिन नवरत्नों का कथाओं में उल्लेख मिलता है वे सब समकालीन न थे। उनमें महाकवि कालिदास का भी उल्लेख है। कालिदास कब और कहाँ हुए इन प्रश्नों पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् कालिदास को ई० स० से ५७ वर्ष पूर्व के विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं और कहते हैं कि कनिष्क (ई० स० ७८-१२०) के समकालीन कवि अश्वघोष के रचे हुए 'बुद्धचरित' में स्थल-स्थल पर कालिदास के काव्य की छाया देख पड़ती है। परन्तु अधिक विद्वानों ने इस महाकवि को गुप्त-नरेशों का समसामयिक ही माना है। कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य के चौथे सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन करते हुए वंक्षु (Oxus) नदी के तट पर हूणों के हराने का उल्लेख किया है जिनका भारतवर्ष में प्रथम प्रवेश पाँचवीं शताब्दी के मध्य में होना शुरू हुआ था। सम्भव है कि सम्राट् समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजय-यात्रा का स्मरण कर कालिदास ने रघु के दिग्विजय की कल्पना की हो। इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन करते हुए कालिदास ने स्वयंवर में एकत्रित नरेशों में 'मगधेश्वर' को ही उच्चतम मञ्च पर आसन दिया है।* इससे अनुमान होता है कि यह प्रतापी राजा कोई गुप्त-सम्राट् ही होगा जिसके समय में कालिदास ने अपने काव्य रचे। गुप्त-काल के शिलालेखों की शैली भी कालिदास की सी है। दोनों ही की कविता के रङ्ग-ढङ्ग बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि हो न हो कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रित रहे हों। इनके काव्यों में रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार और नाटकों में अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्निमित्र प्रसिद्ध हैं। इनके काव्यों से प्रकट होता है कि इनका

---

* 'कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्र-तारा-ग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥'—रघुवंश, ६।

अवन्ती और उज्जयिनी पर उत्कट अनुराग था। अतएव, कदाचित् कविवर कालिदास मालवा के रहनेवाले थे।

प्रसिद्ध विद्वान् और वैज्ञानिक—कालिदास के अतिरिक्त और भी संस्कृत के अनेक कवि और शास्त्रकार इस युग में हुए। **हरिषेण, वत्स-भट्टि,** मृच्छकटिक नाटक के प्रणेता **शूद्रक** तथा मुद्राराक्षस नाटक के कर्ता **विशाखदत्त** आदि इस समय के प्रौढ़ कवियों में माने जाते हैं। **असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग** आदि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक इसी युग में हुए थे। डाक्टर रामकृष्ण भण्डारकर का मत है कि गुप्त-काल में ही हिन्दू-धर्म की स्मृतियों, पुराणों और भाष्यों के नये संस्करण निबद्ध किये गये और संस्कृत साहित्य के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अपूर्व विकास हुआ था। गणित और ज्योतिष विज्ञान के पारदर्शी पण्डित **आर्यभट्ट** (ई० स० ४७६), **वराहमिहिर** (ई० स० ५०५-८७) और **ब्रह्मगुप्त** (ई० स० ५९८) ने इस युग को अलंकृत किया था। गुप्त-काल के इन वैज्ञानिकों की कृतियों से सिद्ध होता है कि ज्योतिष और गणित शास्त्रों के ज्ञान में भारतवर्ष इस समय पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था। उनमें ऐसे-ऐसे उच्च सिद्धान्तों का आविष्कार हो चुका था, जिनका यूरोप के विद्वानों को कई सदियों पीछे ज्ञान हुआ। अरब के विद्वानों ने आठवीं सदी में भारत से ज्योतिष-विद्या सीखी और आर्यभट्ट के ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कर 'अर्जबहर' नाम रखा।

ब्राह्मण-धर्म का अभ्युत्थान—गुप्त-काल के शिलालेखों और सिक्कों से पाया जाता है कि ब्राह्मण अथवा वेद-मूलक धर्म का इस समय महान् अभ्युदय हुआ था। अनेक बार गुप्त-सम्राटों ने **अश्वमेध-यज्ञ** किये थे, जो चिरकाल से बौद्ध-धर्म के प्रभाव से लुप्तप्राय हो चुके थे।* गुप्त-सम्राट् अपने आपको '**परम भागवत**' कहते थे। शिव, विष्णु, जनार्दन, चक्रभृत, सूर्य, कार्त्तिकेय आदि हिन्दू-धर्म के देवताओं के मन्दिरों का उल्लेख अनेक शिलालेखों में पाया जाता है। गुप्त-कालीन सिक्कों पर भी पद्मासना लक्ष्मी,

* 'चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः'—फ्लीट, गुप्त-शिलालेख।
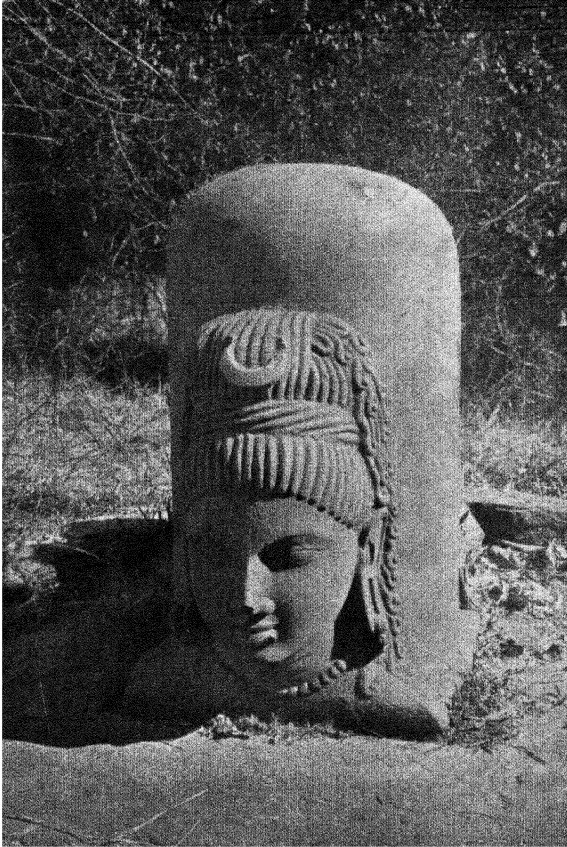
एकमुखलिङ्ग शिव-मूर्ति—नागोद स्टेट, मध्यभारत

सिंह पर बैठी हुई अम्बिका देवी, नन्दी समेत शिव और हंस सहित लक्ष्मी की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं, जिनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिन्दू देवताओं की आराधना का प्रचार उस समय अधिक हो रहा था। मन्दिर, यज्ञ, अन्न-सत्र आदि धर्म-कार्यों के लिए दानी लोग गाँव आदि दिया करते थे। उस समय पुराण हिन्दू-धर्म के प्रामाणिक मूलग्रन्थ माने जाने लगे थे और उनके द्वारा हिन्दू-धर्म का प्रचार और अभ्युत्थान इस देश में बड़ी तीव्र गति से होने लगा था।

बौद्ध-धर्म की अवनति—जैसे-जैसे हिन्दू-धर्म उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा वैसे-वैसे बौद्ध-धर्म की अवनति होने लगी। अनेक राजाओं की ओर से बौद्ध-धर्म संरक्षण पाकर बहुत बढ़ा। समय-समय पर बौद्ध भिक्षुओं में मत-भेद होते रहने से बौद्ध-धर्म में भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। उन्नतिशील हिन्दू-धर्म का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर बहुत पड़ा। इस समय तक बुद्ध के मूल सिद्धान्तों में कई फेर-फार हो चुके थे। बौद्ध-धर्म में ईश्वर की सत्ता नहीं मानी गई थी। उसमें संन्यास-मार्ग पर प्रारम्भ में बहुत ज़ोर दिया गया था। बौद्ध-धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार ज्ञान और चार आर्य्य-सत्यों की भावना से निर्वाण पाया जा सकता है। किन्तु ये शुष्क सिद्धान्त धीरे-धीरे लोगों को रुचिकर न होने लगे। इसलिए उन्होंने भक्ति-मार्ग का सहारा लिया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म में महायान पन्थ का आविर्भाव हुआ, जिसमें बुद्ध उपास्य देव माने गये, उनके अवतारों की कल्पना की गई और हिन्दू देवी-देवताओं के समान अनेक 'बोधि-सत्त्व' मान लिये गये। इन सबकी मूर्तियाँ बनने लगीं जिनके उपलक्ष में, हिन्दुओं की भाँति, पूजा, व्रत और उत्सव किये जाने लगे। हिन्दुओं ने बुद्ध को विष्णु का नवाँ अवतार मानकर उसे अपना लिया। हमारे निर्दिष्ट समय तक दोनों धर्मों में इतनी समानता बढ़ गई कि बौद्ध और हिन्दू सिद्धान्तों में भेद करना कठिन हो गया। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म परिवर्तित होता हुआ हिन्दू-धर्म में समाविष्ट हो गया। महायान पन्थ के ग्रन्थ संस्कृत भाषा में रचे गये थे। बौद्ध विद्वानों द्वारा पाली भाषा की अपेक्षा संस्कृत भाषा के अपना लिये जाने से

उनमें हिन्दू शास्त्रों के प्रति अभिरुचि बढ़ी और ऐसी स्थिति में दोनों धर्मों में परस्पर के विचारों का बहुत कुछ आदान-प्रदान हुआ। निःसन्देह संस्कृत वाङ्मय का व्यापक आन्दोलन भी इस युग में बौद्ध-धर्म की अवनति का कारण हुआ।*

जैन-धर्म--बौद्ध-धर्म के समान जैन-धर्म का भारतवर्ष में अधिक प्रचार नहीं हुआ। जैन-धर्म पहले ही से कठोर एवं तपस्यामय था, जिससे लोग इसकी ओर आकृष्ट नहीं हुए। इस धर्म को बड़े राजाओं का आश्रय भी कम मिला। जैन-सिद्धान्त दीर्घ काल तक ग्रन्थ के रूप में लिपिबद्ध नहीं किये गये। इन्हीं कारणों से जैन-धर्म का प्रभाव कुछ विशेष-विशेष स्थानों पर पड़ा।

गुप्त-कालीन कलाएँ—गुप्त-काल में भारत की वास्तु, शिल्प, चित्रण, सङ्गीत आदि कलाएँ उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थीं। उत्तर हिन्दुस्तान में गुप्त-काल के भवन और मन्दिर मुसलमानों के आक्रमण के समय प्रायः नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये थे। इसलिए तत्कालीन वास्तु-कला का हमें विशद परिचय नहीं मिल सकता। जो कुछ इस समय की छोटी-मोटी इमारतें बच रही हैं वे मध्य भारत के कुछ स्थानों में भग्नावस्था में मिली हैं। एक गुप्त-कालीन मन्दिर झाँसी ज़िले के देवगढ़ गांव में है। इसकी दीवारों के पत्थरों पर शिल्प का काम बहुत बारीकी से किया गया है। इसमें योगिराज शिव का एक शिला पर खोदा हुआ चित्र बड़ा ही अनूठा है। शिव की मूर्ति, उसकी मुद्रा और भावभङ्गी सुचारु रूप से चित्रित की गई है। दूसरे पत्थर पर शेषशायी अनन्त भगवान् विष्णु की मूर्ति है जिसे देव, गन्धर्व और किन्नर आकाश से देख रहे हैं। काशी के समीप सारनाथ में भी बड़े-बड़े विशाल मन्दिर और मठ गुप्त-काल में निर्माण कराये गये थे, यह वहाँ पर मिली हुई सुन्दर बौद्ध प्रतिमाओं के नमूनों से स्पष्ट प्रकट होता है। गुप्त-काल के उत्तम शिल्प-चित्रों और मूर्तियों का सारनाथ के अजायबघर में बहुत बड़ा संग्रह है। वहाँ के 'धामेक स्तूप' पर बेलबूटों की सजावट बड़ी ही मनोहर है।

---

* देखिए—गौ० ही० ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति।
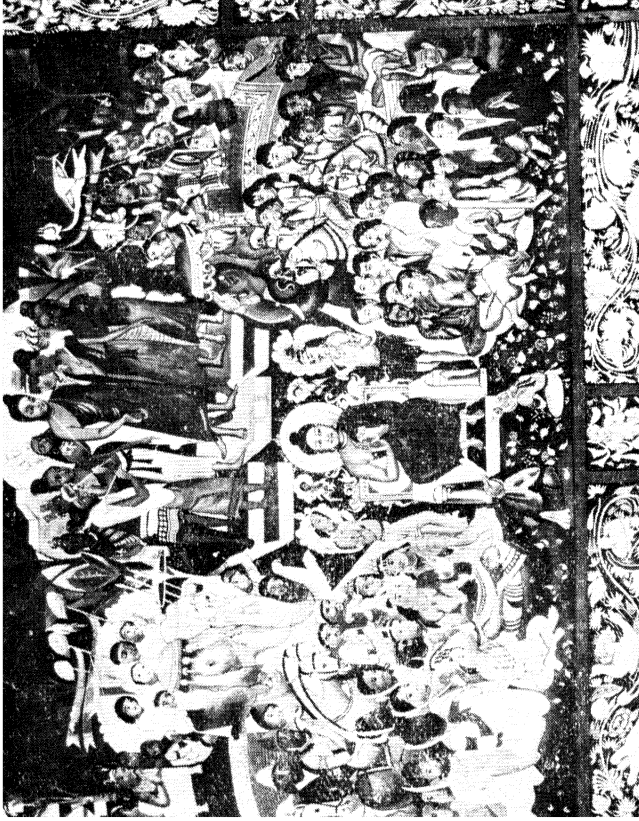
अजन्ता की चित्रकारी ।

दिल्ली का लोह-स्तम्भ—गुप्त-समय के कारीगर धातु की वस्तुएँ बनाने में भी बड़े चतुर थे। दिल्ली के समीप क़ुतुबमीनार के पास खड़ा हुआ लोह-स्तम्भ जो इस समय ढाला गया था, कारीगरी का विचित्र नमूना है। अचरज यह है कि अभी तक इस पर ज़ङ्ग नहीं लगी। यह इतना विशाल और अनुपम है कि आजकल भी बड़े से बड़ा लोहे का कारख़ाना कठिनाई से ऐसा स्तम्भ गढ़कर बना सकता है। उस समय के लोहकार कैसी वैज्ञानिक रीतियों से लोहे को परिशुद्ध करते थे तथा कैसे यन्त्रों द्वारा इतने विशाल खम्भों को ढालते थे, इन बातों पर विचार करने से उनके विज्ञान और कारीगरी पर आश्चर्य्य-चकित हो जाना पड़ता है। छठी शताब्दी के अन्त में नालन्द में ८० फ़ुट ऊँची बुद्ध की ताम्र-प्रतिमा निर्माण कर स्थापित की गई थी। बरमिंघम के अजायबघर में बुद्ध की ७½ फ़ुट ऊँची तांबे की प्रतिमा रखी हुई है जो गुप्त-काल के कला-कौशल का अद्भुत नमूना है। गुप्त-नरेशों के भिन्न-भिन्न प्रकार के सुवर्ण के सिक्कों में भी भारतीय कला-कौशल का परम उत्कर्ष दिखाई देता है। इन मुद्राओं पर कहीं वस्त्राभरण-भूषित राजा-रानी की मूर्ति अङ्कित है तो कहीं राजा के बाण से घायल होते हुए सिंह की प्रतिकृति बनी हुई है, कहा अश्वमेध-यज्ञ का घोड़ा उत्कीर्ण होता है तो अन्यत्र वीणा बजाती हुई राजमूर्ति या कमलासना लक्ष्मी देख पड़ती है।

अजन्त विहार की चित्रण-कला—चित्रण-कला की भी इस युग में ख़ूब उन्नति हो चुकी थी। दक्षिण हैदराबाद के राज्य में अजन्त विहार की गुफाओं की दीवारों पर हमारी प्राचीन चित्र-कला के बचे-खुचे चिह्न मिलते हैं। ये गुफाएँ ई० स० चौथी सदी से लगाकर सातवीं सदी के आस-पास तक समय-समय पर बनी हैं। इन चित्रों में चित्रकार ने छोटे से पुष्प या मोती से लेकर समस्त आकृति की रचना में अपना अद्भुत कला-कौशल दिखलाया है। उनमें अनेक प्रकार का अङ्गविन्यास, मुख-मुद्रा, भाव-भङ्गी और अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुन्दरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण, रूप, रङ्ग आदि उत्तमता से दिखाये गये हैं।

सङ्गीत और वाद्य—जिस युग में कविशिरोमणि कालिदास की कोमल-कान्त कृतियों की रचना हुई उसमें भला सङ्गीत-कला कैसे पीछे रह सकती

थी ! प्राचीन भारत के राजा सङ्गीत-प्रेमी होते थे और सङ्गीत-वेत्ताओं का आदर करते थे। कनिष्क के दरबार के प्रसिद्ध कवि अश्वघोष धुरन्धर गायनाचार्य थे। सम्राट् समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तम्भ-लेख में अपने आपको सङ्गीत में नारद और तुम्बुरु से बढ़कर बतलाता है और उसके एक प्रकार के सिक्कों पर वाद्य बजाते हुए उसी राजा की मूर्ति बनी है।

भारतीय कलाओं का सुवर्ण-युग—वास्तव में गुप्त-काल हिन्दू कलाओं की श्रीवृद्धि का सुवर्ण-युग था। उस समय की सुन्दर कृतियाँ देखते ही पहचान ली जाती हैं। मूर्तियों का रचना-सौन्दर्य, उनकी भाव-भङ्गी आदि विलक्षण गुण भारत की शिल्प-कला में इतने उत्तम रूप में कहीं भी नहीं मिलते। गुप्त-काल की मूर्तियों में गम्भीरता और शान्ति झलकती है, मूर्तियों के मस्तक बेलबूटों से सजे हुए प्रभा-मण्डल से घिरे रहते हैं और उन पर सादे और बारीक वस्त्रों का परिधान भी दरसाया जाता है। 'धर्मचक्र-मुद्रा' में स्थित बुद्धदेव की सारनाथवाली प्रतिमा गुप्त-कालीन शिल्प-कला की भव्यता और भावुकता का अनुपम नमूना है।

गुप्त-कालीन शासन-पद्धति—चीनी यात्री फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से पता लगता है कि गुप्त-साम्राज्य की सुव्यवस्था के कारण प्रजा सुखी और धन-धान्य-सम्पन्न थी, देश में सर्वत्र पूर्ण शान्ति का राज्य था, मार्ग सुरक्षित थे, प्रजा के जीवन में राजा की ओर से अधिक हस्तक्षेप न होता था, फाँसी अथवा अन्य कठोर दण्ड नहीं दिये जाते थे। राजा और प्रजा का सार्वजनिक हित के कार्यों की तरफ़ बहुत ध्यान रहता था। नगरों में धनाढ्य वैश्यों द्वारा स्थापित किये हुए अनेक अन्नसत्र और औषधालय थे। दान करने में, दया करने में, धर्म करने में लोग परस्पर स्पर्धा रखते थे। फ़ाहियान ने भारतवर्ष में हज़ारों मीलों की यात्रा की थी, किन्तु कहीं भी उसे चोर, डाकू या अन्य बाधाओं से पीड़ित नहीं होना पड़ा था। उसको सर्वत्र ही अतिथि-सत्कार तथा अभीष्ट सुविधाएँ प्राप्त हुई थीं।

राजकीय विभाग—गुप्त-नरेशों के शिलालेखों और मुहरों से उनकी शासन-पद्धति का कुछ परिचय हमें मिलता है। गुप्त-साम्राज्य में बहुत से

वरद-मुद्रा में खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति—बरमिंघम म्यूज़ियम

छोटे-बड़े राज्य शामिल थे जिन पर 'महाराज','महासामन्त' आदि पदवीधारी राजा शासन करते थे। वे सब गुप्त-सम्राटों के अधीन थे। शासन की सुविधा के लिए गुप्त-राज्य भिन्न-भिन्न भागों में बँटा हुआ था, जिसके मुख्य विभाग भुक्ति (प्रान्त), विषय (ज़िला) और ग्राम थे। सबसे मुख्य संस्था ग्राम-संस्था थी। ग्राम का प्रबन्ध वहाँ की पञ्चायत (पञ्च-मण्डली) करती थी। प्रान्त के शासक को गोप्ता या भोगपति कहते थे। विषयपति ज़िले के मुख्य स्थान में अपना अधिकरण (दफ़्तर) रखता था। उसे सलाह देने के लिए चार मनुष्यों की एक समिति होती थी जिसमें एक नगर-श्रेष्ठी (नगर-सेठ), एक सार्थवाह (व्यापारी), एक प्रथम कुलिक (बड़ा कारीगर) और एक प्रथम कायस्थ (प्रधान सेक्रेटरी) सदस्य होते थे। राजा के भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के नाम भी शिलालेखों और मुहरों में लिखे मिलते हैं जिनमें 'बलाधिकरण' (सेनापति), 'रणभाण्डागाराधिकरण' (युद्ध का अर्थ-सचिव), 'कुमारामात्य' (राजकुमार का मन्त्री), 'सान्धि-विग्रहिक' (परराष्ट्र-सचिव), 'दण्डपाशाधिकरण' (पुलिस का अफ़सर), 'महादण्डनायक' (न्यायाधीश), 'अग्रहारिक' (दानाध्यक्ष) आदि मुख्य थे। इनके सिवा दूसरे भी छोटे-बड़े कर्मचारी रहते थे।

आबपाशी तथा अन्य सार्वजनिक कार्य्य—कृषि की उन्नति के लिए राज्य की ओर से सिंचाई का काफ़ी प्रबन्ध किया जाता था। स्कन्दगुप्त के गिरनार के शासक ने सुदर्शन झील का जीर्णोद्धार करवाया था, जो आबपाशी के लिए अत्यन्त उपयोगी थी। वापी, कूप, तड़ाग, मन्दिर, सभा-भवन आदि सार्वजनिक कार्यों का उल्लेख गुप्त-कालीन लेखों में प्रायः मिलता है। रोगियों के लिए औषधालय भी नगरों में स्थापित किये जाते थे। अनाथ, दीन, आतुर मनुष्यों का भरण-पोषण राजा अपना परम कर्तव्य समझते थे।

व्यापार और उद्योग-धन्धे—गुप्त-काल का व्यापार और उद्योग-धन्धे भी बड़ी उन्नत दशा में थे। उस समय 'निगमों'—'श्रेणियों'—का प्रचार था। भिन्न-भिन्न पेशेवाले अपना-अपना नियमबद्ध समुदाय बना लेते थे। कृषक, व्यापारी, सेठ तथा अन्य व्यवसायी सम्भूय-समुत्थान द्वारा अपने-अपने धन्धों की उन्नति करते थे। मन्दसोर के शिलालेख से पता लगता है कि वहाँ

पर रेशम के कारीगरों की श्रेणी ने सूर्य का विशाल मन्दिर बनवाया था। ई० स० ४६९ में तेलियों के एक समुदाय को मन्दिर में दिया जलाने का काम सौंपा गया था। ये गण या निगम बैंक का भी काम करते थे। लोग इनमें अपना द्रव्य जमा करते और उस पर ब्याज पाते थे।

भारत का वैदेशिक व्यापार—भारत का विदेशों से व्यापार भी इस समय बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वस्तु-विनिमय के कारण इस देश में आये हुए रोम-साम्राज्य के सुवर्ण के सिक्के बहुतायत से प्रचलित थे। ये 'डिनेरियस' (Denarius) कहलाते थे जो संस्कृत के शिलालेखों में 'दीनार' कहे जाते थे। गुप्त-राजाओं के सिक्कों में रोम के सिक्कों का अनुकरण पाया जाता है। इस समय रोम और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ था। चीन और भारत का सम्पर्क तो पहले से चला आता था। चीन के रेशमी वस्त्र—'चीनांशुक'—भारत में काम में लाये जाते थे। बौद्ध यात्रियों और उपदेशकों का आवागमन चीन और भारत में बराबर इस समय जारी था। ई० स० ३५१ से ५७१ तक भारत के भिन्न-भिन्न भागों से विद्वानों और राजदूतों की कम से कम दस मण्डलियाँ चीन-साम्राज्य में पहुँची थीं। ई० स० ३८३ में बौद्ध विद्वान् कुमारजीव चीन देश को गया था। जावा, सुमात्रा, बालि आदि पूर्वी द्वीप-समूह से भारत के समुद्र-तट के प्रान्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था। चीन के इतिहास-लेखक कहते हैं कि जावा में बौद्ध-धर्म का प्रचार कश्मीर के युवराज गुणवर्मा ने किया था जिसकी मृत्यु ई० स० ४३१ में नानकिंग में हुई थी। फ़ाहियान ने जावा में हिन्दुओं के अनेक देव-मन्दिर देखे थे। इस समय की अजन्ता की गुफा के चित्रों में पश्चिमी-भारत के राजा के दरबार में ईरान के एक राजदूत का राजा को आकर भेट देने का चित्र अङ्कित है। ज्योतिष के आचार्य आर्यभट्ट और वराहमिहिर यूनान और रोम के ज्योतिष के सिद्धान्तों से परिचित मालूम होते हैं। सारांश यह कि गुप्त-युग में पूर्व और पाश्चात्य देशों के साथ भारतवर्ष का न सिर्फ़ व्यापारिक सम्बन्ध ही था, बल्कि उनसे परस्पर विचारों का आदान-प्रदान भी होता था। इस समय दूर-दूर के देश भारत से व्यापारिक या

राजनीतिक सम्बन्ध रखने अथवा धार्मिक दीक्षा लेने के लिए तत्पर प्रतीत होते हैं। इसमें तनिक सन्देह नहीं कि भारत सभ्यता के उच्च शिखर पर इस समय विराजमान था।

गुप्त-नरेशों की नामावली तथा उनका ज्ञात समय

अठारहवाँ परिच्छेद

सम्राट् हर्षवर्धन

हर्ष के समय के ऐतिहासिक लेख—सम्राट् हर्षवर्धन के समय के अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक लेख मिलते हैं जिनके आधार पर भारतवर्ष की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का इतिहास विशद रूप से लिखा जा सकता है। उसके राज्य-काल में प्रसिद्ध बौद्ध-यात्री **हुएन्त्सांग** चीन-देश से यहाँ आया था। उसने अपना भारत-भ्रमण-वृत्तान्त लिखा, जिससे हर्ष के समय के तथा भारत के प्राचीन इतिहास पर बड़ा प्रकाश पड़ता है। हुएन्त्सांग के मित्र **हुई-ली** ने उस चीनी यात्री की जीवनी लिखते हुए भारत के सम्बन्ध में अनेक बातें लिखी हैं जो हमारे निर्दिष्ट काल के इतिहास के लिए बड़ी उपयोगी हैं। संस्कृत के **महाकवि बाण** ने अपने आश्रय-दाता सम्राट् हर्ष का चरित लिखा जो बड़े ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रन्थ है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त, हर्ष के दान-पत्र और सिक्के तथा दक्षिण के चालुक्य-वंशी राजाओं के शिलालेख हर्ष-कालीन भारत का सजीव चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं।

हर्ष के राज्यारोहण के पूर्व की देश-स्थिति—गुप्त-साम्राज्य के अङ्ग-भङ्ग होने से छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में छोटे-छोटे अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे। मगध में **गुप्तवंशियों** का अधिकार अभी तक विद्यमान था परन्तु उनकी राज्य-सीमा बहुत सङ्कीर्ण हो गई थी। कन्नौज में **मौखरी-वंश** के राजाओं का शासन था जिनका मगध के पिछले गुप्त-नरेशों से बराबर युद्ध जारी रहता था। मगध के पास मध्य बङ्गाल में शशाङ्क (नरेन्द्रगुप्त) का राज्य था। कामरूप (आसाम) भास्करवर्म्मन के अधीन था। पश्चिमी भारत में **वल्लभी** (काठियावाड़) के राजाओं ने

गुप्त-साम्राज्य से स्वतन्त्र होकर एक नवीन राजवंश स्थापित किया था। मालवा के प्रतापी सम्राट् हूण-विजेता यशोधर्मा के वंशजों का कुछ पता नहीं चलता। कदाचित् मालवा में गुप्तवंश की किसी शाखा का अधिकार अब तक मौजूद था। पश्चिमोत्तर प्रदेशों में **हूण और गुर्जर आदि** विदेशी जातियों का दौर-दौरा था। थानेश्वर में हर्ष के पूर्वज राज्य करते थे और देश को विदेशियों के आक्रमण से बचाने के उद्योग में संलग्न थे। दक्षिण भारत में **चालुक्य-वंश** और तामिल प्रदेश में **पल्लव-वंश** का अभ्युदय हो रहा था। उत्तर भारत में हर्ष का साम्राज्य स्थापित हो जाने के समय दक्षिण और तामिल प्रदेशों में चालुक्य और पल्लव राजाओं ने अपना आधिपत्य जमा दिया था। ई० स० की सातवीं सदी के पूर्वार्ध में सारा भारतवर्ष तीन बड़ी सत्ताओं में विभक्त हो रहा था।

हर्ष का वंश-वृत्त—हर्ष के राजवंश का संस्थापक **पुष्यभूति** था। वह थानेश्वर का राजा और परम शिवभक्त था। उसके वंश में **प्रभाकरवर्धन** बड़ा प्रतापशाली राजा हुआ। उसकी पदवी '**परम भट्टारक महाराजाधिराज**' मिलती है। उसके पूर्वजों का विरुद केवल '**महाराज**' ही था। इससे सूचित होता है कि प्रभाकरवर्धन किसी दूसरे राजा का सामन्त न रहकर स्वतन्त्र हो गया था। हर्ष-चरित में लिखा है कि उसने हूण, गुर्जर, गान्धार, सिन्ध, पञ्जाब, गुजरात, मालवा आदि के राजाओं को पराजित किया था।* प्रभाकरवर्धन के समय से ही थानेश्वर के राजवंश का महत्त्व बढ़ने लगा। उसकी रानी यशोमती से दो पुत्र **राज्यवर्धन** और **हर्षवर्धन** तथा एक पुत्री **राज्यश्री** उत्पन्न हुई। राज्यश्री का विवाह कन्नौज के मौखरी-वंश के राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र **ग्रहवर्मा** के साथ हुआ। ग्रहवर्मा इस समय कन्नौज का

---

* "**हूणहरिणकेसरी सिन्धुराज-ज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विप-कूटपाकलो मालवलक्ष्मीलतापरशुः**" अर्थात् हूणरूपी हरिण के लिए सिंह, सिन्धुराज के लिए ज्वर के समान, गुर्जरों की नींद नष्ट करनेवाला, गान्धार-नरेश रूपी मस्त हाथी के लिए हस्ति-ज्वर, मालव की लक्ष्मी रूपी लता के लिए कुठार—हर्षचरित।

राजा था। उसका युद्ध मालवा के राजा देवगुप्त से ठन रहा था। देवगुप्त ने उसे परास्त कर कन्नौज पर अपना अधिकार जमा दिया था और ग्रहवर्मा को मार डाला था। उसने राज्यश्री को भी क़ैद कर लिया। ये दुर्घटनाएँ प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय घटी थीं।

राज्यवर्धन—प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के समय राज्यवर्धन पश्चिमोत्तर सीमान्त की ओर हूणों को परास्त कर रहा था। अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर ज्योंही वह हूण-युद्ध से लौटकर थानेश्वर की राजगद्दी पर बैठा त्योंही उसे अपनी बहिन राज्यश्री के क़ैद होने का समाचार मिला। राज्यवर्धन राज-पाट छोड़कर बौद्ध भिक्षुक होने की इच्छा कर रहा था, किन्तु राज्यश्री के अपमान का बदला लेने के लिए भिक्षुक होने का विचार छोड़कर उसने राज्य-भार ग्रहण कर लिया। उसने मालवा के राजा देवगुप्त पर चढ़ाई कर दी और उसे पराजित किया। मालवा से लौटते समय गौड़ (मध्य बङ्गाल) के राजा शशाङ्क (नरेन्द्रगुप्त) ने राज्यवर्धन को विश्वासघात करके मार डाला। हर्ष के एक दानपत्र में राज्यवर्धन का बौद्ध-धर्मावलम्बी होना, देवगुप्त आदि अनेक राजाओं का जीतना तथा सत्य के अनुरोध से शत्रु के घर में प्राण देना लिखा है। अपने बड़े भाई की मृत्यु से हर्ष का हृदय घबड़ा उठा। इस बीच में राज्यश्री कारागार से छूटकर विन्ध्याचल की ओर न जाने कहाँ चली गई थी। गौड़ का राजा शशाङ्क उपद्रव मचा ही रहा था। ऐसी भयङ्कर स्थिति में यह आवश्यक था कि राज्य की बागडोर किसी अनुभवी और सुदृढ़ व्यक्ति के हाथ में हो। मन्त्रियों ने हर्ष से राजा बनने के लिए बहुत आग्रह किया। मन्त्रि-मण्डल की सम्मति में हर्ष ही उस दायित्वपूर्ण पद के योग्य था। अतएव, राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् मन्त्रियों के अनुरोध से हर्ष को १६ वर्ष की अवस्था में राज्य-भार ग्रहण करना पड़ा। उसने पहले **'राजपुत्र शीलादित्य'** की पदवी ग्रहण की। हर्ष का राज्यारोहण ई० स० ६०६ में हुआ। उस समय हर्ष के सामने दो बड़े कार्य थे—एक तो शशाङ्क को दण्ड देना, दूसरा राज्यश्री को ढूँढ़ना। अतएव, उसने तुरन्त अपने मन्त्री भण्डि को शशाङ्क को दण्ड देने के लिए भेजा और स्वयं

विन्ध्याचल के वनों में खोजता हुआ अपनी बहिन से जा मिला। जिस समय हर्ष राज्यश्री से मिला उस समय वह चिता में जलकर प्राण-त्याग करने का प्रबन्ध कर रही थी। हर्ष के अनुरोध से राज्यश्री ने प्राण दे डालने का सङ्कल्प छोड़ दिया।

हर्ष की दिग्विजय—राज्यश्री को सकुशल घर पहुँचाकर हर्ष को अपने दूसरे लक्ष्य की सिद्धि के लिए अवकाश मिला। कुछ प्रमाणों से पता चलता है कि शशाङ्क के राज्य पर हर्ष ने अधिकार कर लिया था, किन्तु वह स्वयं जीता-जागता बच गया। ई० स० ६२० में लिखा हुआ शशाङ्क का एक ताम्रपत्र गञ्जाम से मिला है जो हर्ष के युद्ध के पश्चात् उसका जीवित रहना सूचित करता है। अनुमान ३० वर्ष तक युद्ध कर हर्ष ने कश्मीर से आसाम तक और नेपाल से नर्मदा तक समस्त उत्तर-भारत में अपना एकच्छत्र शासन स्थापित किया। चीनी यात्री हुएन्त्सांग ने लिखा है कि अपनी विशाल सेना लेकर उसने पूर्व से पश्चिम तक निरन्तर युद्ध किये और ६ वर्ष में समस्त उत्तरी-भारत को अपने अधीन कर लिया। पूर्व में आसाम (कामरूप) के राजा कुमार-राज ने हर्ष से मैत्री करना ही उचित समझा। पश्चिम में वल्लभी के राजा **ध्रुवसेन द्वितीय** को ई० स० ६३३ के आस-पास हर्ष ने पराजित किया। पश्चिमी-भारत के राजाओं ने हर्ष का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह द्वितीय ध्रुवसेन से कर दिया। हर्ष की अन्तिम विजय-यात्रा उड़ीसा में गञ्जाम की प्रजा के विरुद्ध हुई।

हर्ष की दक्षिण युद्ध में पराजय—हर्ष को केवल एक ही युद्ध में हार माननी पड़ी। हर्ष चाहता था कि दक्षिण में भी उसका साम्राज्य फैले, पर उस समय दक्षिण में चालुक्य-वंश का राजा **द्वितीय पुलकेशी** राज्य करता था। वह प्रताप, वीरता, उत्साह आदि में हर्ष से कुछ कम न था।* वह दक्षिण

* "भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः"। पुलकेशी का ऐहोल का शिलालेख—ए० ई० ६।

'समरसंसक्तसकलोत्तरापथेश्वर श्रीहर्षवर्धन पराजयोपलब्ध परमेश्वर नामधेयस्य'—ए० ई० ७।

का सम्राट् बन गया था जिस प्रकार हर्ष उत्तर-भारत में था। लगभग ई० स० ६२० में दोनों प्रतापी सम्राटों की मुठभेड़ हुई। परिणाम यह हुआ कि हर्ष को दक्षिण के विजय करने का विचार दूर कर देना पड़ा और नर्मदा नदी को अपने राज्य की दक्षिणी सीमा माननी पड़ी। हुएन्त्साङ्ग ने भी हर्ष की इस पराजय का उल्लेख किया है।

हर्ष की साम्राज्य-सीमा—हर्ष अपने ही साहस और पराक्रम से उत्तरापथ का चक्रवर्ती सम्राट् बन गया। उसके राज्यारोहण के समय थानेश्वर के राज्य पर घोर विपत्ति के बादल उमड़ रहे थे और उसके भाई की मृत्यु के समय तो ऐसा मालूम होता था कि वह राज्य बिलकुल ही शत्रुओं द्वारा नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। ऐसे घोर सङ्कटों से हर्ष और उसके स्वामिभक्त मन्त्रियों ने राज्य को शत्रुओं के पञ्जे से बचाया। इसके बाद उत्तरी भारत में हर्ष ने साम्राज्य-निर्माण का सूत्रपात किया। चीनी यात्री हुएन्त्साङ्ग, जो इस प्रतापी राजा के साथ रहा था, लिखता है कि हर्षवर्धन ने अपने भाई के शत्रुओं को दण्ड देने तथा आस-पास के सब देशों को अपने अधीन करने तक दाहिने हाथ से भोजन न करने का प्रण किया था। अपने जीवन-काल में उसने उस प्रण को पूरा किया। हर्ष के साम्राज्य में कश्मीर, नेपाल, मालवा, आसाम, गङ्गा-यमुना के मध्य के प्रदेश, आनन्दपुर, कच्छ, गुजरात और सुराष्ट्र सम्मिलित थे। उसकी राजधानी थानेश्वर और कन्नौज दोनों थीं, परन्तु कन्नौज पर उसे अधिक अनुराग था। गङ्गा के तीर पर बसा हुआ यह नगर चार मील लम्बा और मील भर चौड़ा, अनेक ऊँचे भवनों, उद्यानों और सरोवरों से विभूषित, विशाल, वैभव-सम्पन्न और सुरक्षित था। उसमें सौ से कहीं अधिक हिन्दू मन्दिर और बौद्ध-विहार थे। इस युग में पाटलिपुत्र का पूर्व गौरव और सौभाग्य कन्नौज नगर को प्राप्त हुआ था।

हर्ष का विद्यानुराग—हर्ष वीर विजिगीषु होने के अतिरिक्त विशिष्ट विद्वान् भी था। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति वह काव्य-नाटकों का सहृदय पण्डित और विद्वानों का उदारमनस्क आश्रयदाता था। प्रभूत दान-मान देकर वह विद्वानों को प्रोत्साहित करता था। उसके रचे हुए

'रत्नावली', 'प्रियदर्शिका' और 'नागानन्द' नाम के नाटक उसकी कवित्त्व-शक्ति के उज्ज्वल रत्न हैं। वह चित्रण-कला में भी बड़ा ही निपुण था। बँसखेड़ा से मिले हुए उसके दानपत्र में उसने अपने हस्ताक्षर चित्रलिपि में किये हैं, जो उसकी सुचारु चित्रण-चातुरी का स्पष्ट निर्देश कर रहे हैं। उसके आश्रित अनेक बड़े-बड़े विद्वान् थे। कविवर **बाणभट्ट** ने 'हर्षचरित' नामक संस्कृत गद्य-काव्य लिखकर सम्राट् हर्ष का कीर्ति-कलेवर अमर कर दिया और उसने 'कादम्बरी' नामक अपूर्व कथा की रचना की, जिसका उत्तरार्द्ध उसके पुत्र **पुलिन्दभट्ट** ने पूर्ण किया था। बाण के श्वशुर **मयूर** और **मातंगदिवाकर** हर्ष के दरबार के बड़े प्रतिष्ठित कवि थे। बाण के समय के आसपास और भी संस्कृत के अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए थे। **भारवि, कुमारदास,** पुलकेशी द्वितीय का राज-कवि **रविकीर्ति, सुबन्धु** आदि संस्कृत-साहित्य के महाकवि हर्ष के ही युग के अलङ्कार थे।

हर्ष की शासन-प्रणाली—अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा के लिए हर्ष देश भर में स्वयं दौरा किया करता था। वह प्रत्येक शासन-विभाग तथा प्रान्त का निरीक्षण स्वतः किया करता था। इससे राज-सेवक अपने कर्तव्य में सदा जागरूक रहते थे। हर्ष के दौरे बड़े समारोह से होते थे। राजा के प्रस्थित होने पर पद-पद पर सोने की बनी हुई दुन्दुभियाँ बजाई जाती थीं। मार्ग में रहने के लिए लकड़ी के महल बनाये जाते थे। चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग हर्ष के शासन को राजधर्म के आदर्शों के अनुकूल देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। पृथ्वी की उपज का छठा हिस्सा (षड्भाग) राजकोष की प्रधान आमदनी थी। कर बहुत हलके थे। अधिकारियों को जीविकार्थ जागीरें दी जाती थीं। लोकहित के कार्यों में श्रमजीवियों से बेगार न ली जाती थी, किन्तु उन्हें उचित मज़दूरी दी जाती थी। भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के लिए राजकोष से उदारतापूर्वक दान दिया जाता था। छोटे-छोटे अपराधों की सज़ा जुर्माना मात्र थी, किन्तु बड़े अपराधों के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था। कुछ अपराधों में नाक, कान या हाथ भी काट दिये जाते थे। परन्तु 'सात्मक अपराध बहुत कम होते थे। प्रत्येक प्रान्त

में कुछ ऐसे अधिकारी रहते थे जो सार्वजनिक घटनाओं का विवरण-पत्र लिखा करते थे।

नालन्द का विश्वविद्यालय—हर्ष के समय में विद्या का व्यापक प्रचार था। राज्य की तरफ़ से विद्वानों को बराबर प्रोत्साहन मिलता रहता था। विशेष रूप से ब्राह्मण और बौद्ध-भिक्षुक विद्योन्नति में अभिरत रहते थे। चीनी-यात्री ह्वेन्त्साङ्ग ने मगध के **नालन्द विश्वविद्यालय** का विशद वृत्तान्त लिखा है। उसमें १०००० छात्र रहते थे। विद्यालय के विशाल भवनों और मन्दिरों के उत्तुङ्ग शिखरों की शोभा देखने योग्य थी। विद्यार्थियों को भोजन-वस्त्र आदि सब कुछ मुफ़् मिलता था। विश्वविद्यालय का व्यय राजाओं के प्रभूत दान से चलता था। हिन्दू और बौद्ध-धर्म के सभी शास्त्र विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम के अन्तर्गत थे। इस विद्यालय से परीक्षोत्तीर्ण होने के लिए विद्वान् लालायित रहते थे। इसकी बहुत सी मुहरें मिली हैं जिन पर शान्त भाव से बैठे हुए दो मृगों के चिह्न और **"श्रीनालन्द-महाविहारीय-आर्यभिक्षुक-संघस्य"** ये शब्द खुदे हुए हैं। इस विश्वविद्यालय के कुलपति का नाम **शीलभद्र** था जिनका पाण्डित्य उस समय देश भर में प्रख्यात था। विद्यार्थियों को स्वाध्याय और वादानुवाद में दिन बीतता मालूम न होता था। नालन्द में भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देने के लिए १०० आचार्य थे। ह्वेन्त्साङ्ग ने लिखा है कि वहाँ बौद्ध-ग्रन्थों के सिवा **वेद, सांख्य, दर्शन, हेतुविद्या, शब्दविद्या, वैद्यक** आदि अनेक विषय विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम में सम्मिलित थे।

नालन्द में शिक्षा पाने के लिए हज़ारों विद्वान् आते थे। उनके पाण्डित्य की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। उनका चरित्र शुद्ध और निर्दोष होता था। वे धार्मिक आदेशों का निष्कपट भाव से अनुसरण करते थे। उनके नियम कड़े थे। नालन्द के विश्वविद्यालय का पुस्तकालय नौमञ्ज़िला था जिसकी ऊँचाई क़रीब ३०० फ़ुट थी। प्राचीन काल में इतना बड़ा पुस्तकालय कदाचित् ही कहीं रहा हो। आठवीं शताब्दी में बौद्ध-धर्म का ह्रास होने के

साथ ही साथ नालन्द का भी ह्रास हो गया। अन्त में मुसलमानों के आक्रमण से इस विश्वविद्यालय का सदा के लिए अन्त हो गया। गया के पास बड़गाँव नामक गाँव में अभी तक नालन्द की प्राचीन इमारतों के खँडहर पाये जाते हैं। चीनी यात्री ने योगशास्त्र शीलभद्र से सीखा और नालन्द में ५ वर्ष रहकर बौद्ध और ब्राह्मण ग्रन्थों का अध्ययन किया।

हर्ष का धर्मानुराग—वृद्धावस्था में हर्ष की अभिरुचि बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय पर विशेष हो गई यद्यपि वह शिव और सूर्य का भी उपासक बना रहा। उस समय वह धर्म-प्रचार के कामों में निरन्तर लगा रहता था। राज्य भर में जीव-हिंसा और मांस-भक्षण का निषेध कर दिया गया था। इस विधान के उल्लङ्घन करनेवालों को प्राणदण्ड होता था। अशोक की भाँति यात्रियों और दीन-दुखियों के लिए स्थल-स्थल पर उसने पुण्यशालाएँ बनवाई थीं जहाँ पर उन्हें भोजन, वस्त्र और ओषधि मुफ़्त दी जाती थी। हिन्दुओं के देवमन्दिरों और बौद्ध विहारों तथा स्तूपों को उसने बनवाया। हिन्दुओं के तीर्थराज प्रयाग में प्रति पाँचवें वर्ष वह **'मोक्ष-महापरिषत्'** नामक सभा कर अपना सञ्चित कोष दान देकर रिक्त कर देता था। प्राचीन काल के विश्वजित् यज्ञ में भी राजा को अपना सम्पूर्ण कोष दान में वितीर्ण करना चाहिए यह नियम था।* भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के साधुओं और विद्वानों को इस महोत्सव पर हर्ष बहुत दान देता था। अपनी विधवा बहिन राज्यश्री के साथ बैठकर उसने चीनी यात्री के महायान पन्थ पर व्याख्यान बड़े चाव से सुने थे। उस समय हिन्दू स्त्रियों में परदे की प्रथा न थी।

प्रयाग और कन्नौज के धर्म-महोत्सव—हर्ष हुएन्त्साङ्ग से बङ्गाल में मिला था। तभी से दोनों में घनिष्ठ मैत्री हो गई। हर्ष उसको अपने साथ लेकर कन्नौज वापिस आया जहाँ उसने धर्म-महोत्सव मनाने के लिए बीस राज्यों के सामन्त नरेशों और देश के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध श्रमणों, ब्राह्मणों और विद्वानों को एकत्र किया था। उस प्रसङ्ग पर मनुष्य के आकार की एक सुवर्ण की बुद्ध-

---

* "तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम्"।—रघुवंश ५।

प्रतिमा की स्थापना की गई। २१ दिन तक बुद्ध की सवारी सजे हुए हाथी पर निकाली गई। कन्नौज के उत्सव के बाद हर्ष अपने सम्मानित मित्र को प्रयाग ले आया, जहाँ करीब ५ लाख विद्वान्, साधु और यात्री एकत्र हुए जिन्हें हर्ष ने अपनी पाँच वर्ष की सञ्चित सम्पत्ति बाँट दी। यह प्रयाग का महोत्सव हर्ष के राज्य में ३० वर्ष से हर पाँचवें वर्ष नियमानुसार होता चला आता था और अब (ई० स० ६४३ में) छठी बार होनेवाला था। इस अवसर पर बुद्ध, सूर्य और शिव की प्रतिमाओं की पूजा राजा बड़े समारोह से करता था। सब सम्प्रदायों के साधुओं और दीन-दुखियों को खूब दान दिया जाता था।

हुएन्त्साङ्ग ने लिखा है कि प्रयाग में गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर प्राचीन समय से राजा लोग और धनाढ्य पुरुष, जब उनको दान करने की उत्कण्ठा होती है, सदा आते हैं और अपनी सम्पत्ति का दान कर देते हैं। इस कारण इस स्थान का नाम 'महादान-भूमि' हो गया है। आजकल के शीलादित्य राजा ने इस स्थान पर आकर अपनी ५ वर्ष की इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का दान एक दिन में कर दिया। इस महादान-भूमि में असंख्य द्रव्य और रत्नों का ढेर लगाकर राजा ने बुद्धदेव की मूर्ति की पूजा की और फिर साधुओं और विद्वानों को दान से सम्मानित किया। तत्पश्चात् उसने अन्य धर्मावलम्बियों और अनाथ, रोगी, दरिद्री लोगों को दान दिया। इस प्रकार अपना सर्वस्व दान करते हुए उस राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई।

चीनी यात्री हुएन्त्साङ्ग—बौद्ध-धर्म का पण्डित हुएन्त्साङ्ग ई० स० ६२९ में बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों की खोज में चीन से भारत की ओर प्रस्थित हुआ। चीन से काबुल तक की तीन हज़ार मील की दुर्गम यात्रा में, अपने धर्म के अपूर्व उत्साह और श्रद्धा के उन्मेष में, मार्ग के अनेक सङ्कटों को सहकर हुएन्त्साङ्ग ने भारत में पदार्पण किया। उसकी यात्रा का विवरण एक अद्भुत कथा की भाँति रोचक है। ई० स० ६३० से ६४३ तक वह भारत के प्रायः प्रत्येक प्रान्त में गया और धर्म, प्रजा, देश, प्राचीन स्मारक और जन-श्रुतियों के विषय में उसने अनेक तथ्यपूर्ण बातों का उल्लेख किया। आठ वर्ष हर्ष के राज्य में उसने बिताये। अनेक बुद्ध-प्रतिमाएँ और लगभग ६५० ग्रन्थों

की हस्तलिखित प्रतियाँ और बुद्ध के भस्मावशेष लेकर, काशगढ़, यारकुन्द, खोतान होता हुआ वह चीन को वापिस लौटा और अपने शेष जीवन को उसने बौद्ध-ग्रन्थों के अनुवाद में बिता दिया। अपने उज्ज्वल चरित्र, निर्विशङ्क साहस और प्रगाढ़ पाण्डित्य के कारण वह चीन देश का परम आदर और प्रेम का पात्र बना और 'धर्मपारदृश्वा' की उपाधि उसे सर्वसम्मति से भेंट की गई। भारत के इतिहासज्ञ हुएन्त्साङ्ग के इतने ऋणी हैं कि उससे उऋण नहीं हो सकते। भारत के सम्राट्-शिरोमणि हर्षवर्धन ने उसके सम्मानार्थ जो कुछ किया वह भी हमारे ऋण-निस्तार के रूप में कुछ नहीं के बराबर है।

हर्ष के युग का धार्मिक इतिहास—हर्ष के युग का धार्मिक इतिहास भी बड़ा ही मनोरञ्जक है। उसके पूर्वजों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों की साधना तथा उपासना स्वीकार कर, उस युग में कितनी धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता थी, इस बात का परिचय दिया है। **पुष्यभूति** परम शिवभक्त था। हर्ष का पिता **प्रभाकरवर्धन** सूर्य का उपासक था और 'प्रतिदिन, माणिक्य-जटित पात्र में लाल कमलों का गुच्छा रखकर प्रेमरञ्जित हृदय से' उसकी आराधना करता था। **राज्यवर्धन** और **राज्यश्री** बौद्ध-धर्मावलम्बी थे और हर्ष शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों ही का भक्त था। परन्तु पीछे से उसकी बौद्ध-धर्म के महायान पन्थ पर स्वयं श्रद्धा अधिक होने लगी थी। इस राजवंश की धर्म-विषयक उदारता का कारण तत्कालीन लोक-धर्म ही था। उस समय के लोक-धर्म में बड़ा ही उदार भाव था जो हर्ष और उसके पूर्वजों के धर्म-विषयक आचार-विचारों में प्रतिबिम्बित हुआ देख पड़ता है। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्त्री-पुरुष शिव, सूर्य, विष्णु, बुद्ध और अर्हत् आदि चाहे किसी को अपना उपास्य देव बना लें इसमें वे स्वच्छन्द थे।* इस समय तक पुराण

---

* 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः'—गीता।

''बहुधाप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥''—रघुवंश १०।

''यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।

हिन्दू-धर्म के आधारभूत ग्रन्थ बन चुके थे जिनमें भारत के भिन्न-भिन्न पन्थों की सङ्गति करने और उन्हें एक व्यापक धर्म में सङ्गठित करने का यत्न किया गया था। पुराणों के अवतारवाद में **राम** और **कृष्ण** के सदृश जैन तीर्थङ्कर **ऋषभदेव** और भगवान् **बुद्ध** उपास्य देव माने जा चुके थे। अतएव, भिन्न-भिन्न पन्थों के अनुयायी शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहते थे। राजा लोग भी सभी के परम उदार आश्रयदाता थे और प्रायः राजा और प्रजा सभी उपास्य देवों की पूजा करते थे। यद्यपि कभी-कभी परस्पर एक दूसरे पन्थ में द्वेष-बुद्धि हो जाती थी और बौद्धों पर अत्याचार करनेवाले राजा शशाङ्क के सदृश कुछ दृष्टान्त भी मिलते हैं, तथापि भारत में साधारणतया धर्म-विषयक सहिष्णुता का नियम ही पाला जाता था। नालन्द के बौद्ध-विश्वविद्यालय में सभी धर्मों के शास्त्र और ब्राह्मण धर्म के वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्य, योग आदि सभी विषय पढ़ाये जाते थे। यह कदापि सम्भव न होता यदि उस विश्वविद्यालय में सङ्कीर्ण साम्प्रदायिक भाव होता।

हर्ष का चीन से सम्बन्ध—हर्ष ने चीन के सम्राट् से मैत्री कर अपने एक ब्राह्मण राजदूत को उसके पास भेजा था जहाँ से वह ई० स० ६४३ में वापिस लौटा। उसी के साथ चीन के बादशाह ने भी अपना एक दूतदल हर्ष के दरबार में भेजा था। चीन से दूसरा दूतदल **वङ्गहुएन्त्से** के नेतृत्व में रवाना हुआ, किन्तु उसके मगध पहुँचने के पूर्व ई० स० ६४७ के लगभग शीलादित्य हर्ष का देहान्त हो गया और उसके सेनापति **अर्जुन** ने राज्य का अपहरण कर, चीनी दूतदल को लूटकर मार भगाया। उक्त दूतदल के मुखिया ने अपने साथियों सहित नेपाल में जाकर शरण ली, किन्तु शीघ्र ही नेपाल और तिब्बत की सेना को साथ लेकर उसने तिरहुत को आ घेरा और अर्जुन को पराजित कर क़ैद कर लिया। वङ्गहुएन्त्से अर्जुन को चीन ले

अर्हन्नित्यथ जैनशासनपराः कर्मेति मीमांसकाः

सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरि·" ॥

गया। चीन के सम्राट् के समाधि-मन्दिर में तिब्बत के राजा स्त्रोङ्गत्सन-गम्पो और अर्जुन की मूर्तियाँ बनवाकर रक्खी गईं। इस युद्ध के पश्चात् तिरहुत पर ई० स० ७०३ तक तिब्बतवालों का ही अधिकार रहा।

हर्ष संवत्—राजा हर्ष ने अपना संवत् भी चलाया था। अलबेरुनी ने लिखा है कि कश्मीर के पञ्चाङ्गों के अनुसार श्रीहर्ष विक्रमादित्य से ६६४ वर्ष पीछे हुआ था। अतएव, हर्ष का संवत् ई० स० ६०६ में शुरू हुआ। हर्ष का राज्य-काल ई० स० ६४७ में समाप्त हुआ। उसका कोई उत्तराधिकारी न था।

हर्ष के पश्चात् भारत के इतिहास का स्वरूप—हर्ष की मृत्यु के उपरान्त उत्तर भारत का भाग्य-भास्कर फिर मेघाच्छन्न हो गया। हर्ष के बड़े श्रम से निर्माण किये हुए 'सप्ताङ्ग राष्ट्र' के अङ्ग-भङ्ग होने लगे। उत्तर भारत के एक अखण्ड राज्य के अनेक टुकड़े हो गये। एक प्रबल राजनैतिक शक्ति का विलोप होने से, जिसमें आर्यावर्त के सभी छोटे-बड़े राज्य सङ्गठित हो गये थे, देश की राजनैतिक स्थिति बिगड़ गई। सामन्त राजा स्वतन्त्र होकर अपनी-अपनी तान अलापने लगे।

सम्राट् हर्ष का वंशवृक्ष
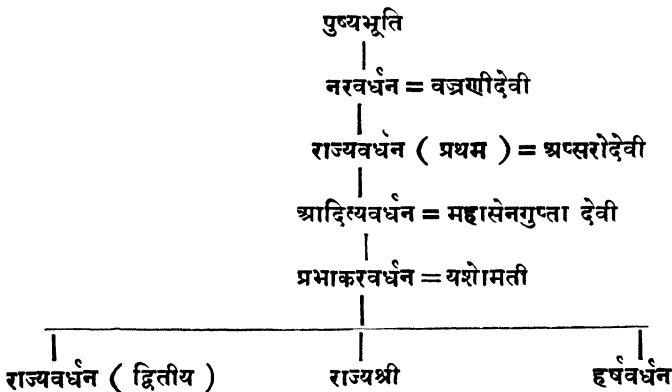
ई० स० की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध का तिथिक्रम

ई० सन्	घटना
६०५	राज्यवर्धन (द्वितीय) का थानेश्वर की राजगद्दी पर बैठना।
६०६	हर्षवर्धन का राज्यारोहण। हर्ष-संवत् का प्रथम वर्ष।
६०६—१२	उत्तरी भारतवर्ष पर हर्ष की विजय-यात्रा।
६०८	चालुक्य पुलकेशी द्वितीय का राज्य-तिलक।
६१९—२०	शशाङ्क का गञ्जाम का शिलालेख।
६२०	पुलकेशी द्वितीय का हर्ष को पराजित करना।
६२८—२९	हर्ष का बँसखेड़ा से मिला हुआ शिलालेख।
६३०—३१	हर्ष का मधुवन का ताम्र-लेख।
६३५	हर्ष की वल्लभी राज्य पर विजय।
६४१	हर्ष ने चीन को राजदूत भेजे।
६४३	हर्ष का गञ्जाम पर आक्रमण। हुएन्त्साङ्ग से उसका बङ्गाल में सम्मिलन। कन्नौज और प्रयाग के हर्ष के धर्म-महोत्सव। हुएन्त्साङ्ग का चीन को वापिस लौटना।
६४७	हर्ष की मृत्यु।

अजन्ता की चित्रकारी—गौतम बुद्ध ।
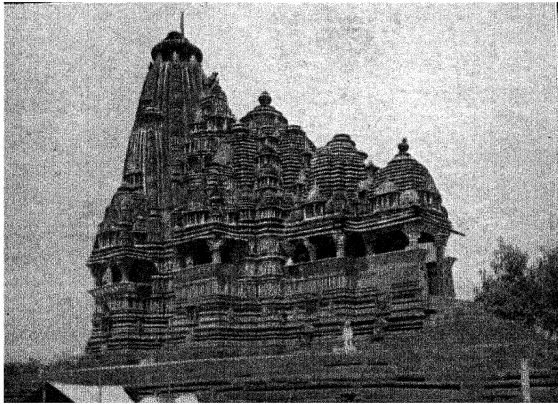
मध्य भारत में खजुराहो का आर्य-शैली का हिन्दू मन्दिर

उन्नीसवाँ परिच्छेद

राजपूत-युग

राजपूत-युग का महत्त्व—सम्राट् हर्ष की मृत्यु के उपरान्त भारत के इतिहास में नये राजवंश स्थापित हुए जो राजपूत कहे जाते थे। उन राजपूत वंशों के उत्कर्ष का काल ई० स० ६०० से १२०० तक माना गया है। इस युग में प्राचीन आर्य-धर्म और बौद्ध-धर्म का जो संघर्ष चल रहा था वह मिट गया और आर्य-धर्म को हिन्दू-धर्म का रूप प्राप्त हुआ जो प्राचीन आर्य और बौद्ध-धर्मों का मिश्रण है। हर्ष के पश्चात् पाँच सदियों तक सिन्ध को छोड़कर सारा भारत विदेशियों की पराधीनता से विमुक्त रहा। इस युग में अनेक छोटे-बड़े हिन्दू राज्य बने और बिगड़े। उनमें मौर्य और गुप्त साम्राज्य के समान कोई भी शक्तिशाली न हो सका। तथापि राजपूत युग में अनेक हिन्दू राजा बड़े यशस्वी, मनस्वी और तेजस्वी हुए। प्रजा में सुख-शान्ति विराजमान थी जिसके कारण विद्या, कला और विज्ञान की उन्नति बराबर होती रही। प्रत्येक राज्य में शिल्प और वास्तुकला की अद्भुत कृतियाँ इस समय बनवाई गई थीं। संस्कृत के कवि और शास्त्रकार राजाओं के दान-मान-पात्र थे। हिन्दी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि वर्तमान भाषाएँ इस काल में विकसित होने लगी थीं। हिन्दू-धर्म के महान् आचार्य और उद्धारक **कुमारिल, शङ्कर, रामानुज** आदि इसी युग में हुए थे।

कन्नौज—युक्त-प्रान्त में गङ्गा के पूर्व-तट पर बसा हुआ कन्नौज एक बहुत प्राचीन नगर था। महाभारत और पतञ्जलि के महाभाष्य में इसका उल्लेख मिलता है। इसके भव्य मन्दिरों, भवनों और विहारों के भग्नावशेष भी आजकल नहीं देख पड़ते। गुप्तवंशियों और हर्षवर्धन के समय में इस नगर की परमोन्नति हुई होगी। चीनी यात्री हुएन्त्साङ्ग ने यहाँ सौ विहार देखे थे,

जिनमें १० हज़ार से अधिक भिक्षुक रहते थे। हिन्दू-धर्म के भी दो सौ से अधिक मन्दिर थे। सुन्दर उद्यानों और विमल जलाशयों से यह नगर सुशोभित था। प्रजा सुखी और विभवसम्पन्न थी, लोग रेशमी वस्त्र पहिनते थे और विद्या और कला-कलाप में प्रवीण थे। जब महमूद ग़ज़नवी ने सन् १०१८ में इस नगर पर चढ़ाई की तब भी इसका प्राचीन गौरव ज्यों का त्यों था। यह चारों ओर सात दुर्गमालाओं से घिरा हुआ था। ई० स० की १२ वीं शताब्दी के पश्चात् इसका ह्रास होने लगा। शेरशाह ने इस नगर को बिलकुल ही नष्ट कर दिया।

यशोवर्मा का वंश—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् ई० सन् की आठवीं शताब्दी के अन्त तक कन्नौज के इतिहास पर कहीं से प्रकाश नहीं पड़ता। इतना पता चलता है कि आठवीं शताब्दी के आरम्भ में कन्नौज का राजा **यशोवर्मा** हुआ, जिसने ई० स० ७३१ में अपने राजदूत चीन को भेजे थे। दस वर्ष के पश्चात् उसे कश्मीर के राजा **ललितादित्य मुक्तापीड़** ने मार डाला। यशोवर्मा **महाकवि भवभूति** का आश्रयदाता था, जिसने संस्कृत के परमोत्तम नाटक उत्तर-रामचरित और मालतीमाधव रचे थे। उसके बाद **वज्रायुध** कन्नौज की गद्दी पर बैठा, पर ललितादित्य के पुत्र **जयापीड़** ने उसे भी परास्त कर गद्दी से उतार दिया। ऐसा ही घोर सङ्कट कन्नौज के तीसरे राजा **इन्द्रायुध** पर पड़ा, जिसे बङ्गाल के राजा **धर्मपाल** ने सन् ८१० के लगभग गद्दी से उतार दिया और गङ्गा-यमुना के मध्यवर्ती पाञ्चाल देश का राज्य **चक्रायुध** को सौंप दिया। सन् ८१६ के लगभग चक्रायुध भी अपने राज्य से हाथ धो बैठा। राजपूताना के प्रतीहार राज्य के राजा **नाग-भट** ने कन्नौज पर अधिकार कर उसे अपनी राजधानी बनाई।

गुर्जर-प्रतीहार-वंश—प्रतीहारों का राज्य उत्तर में मारवाड़ से लगाकर दक्षिण में भड़ौच तक माना गया है। उनकी राजधानी आबू के समीप भीनमाल थी। नागभट ने कन्नौज के राज्य को हस्तगत कर वहीं अपनी राजधानी स्थिर की। इस कारण उसके वंशजों को कन्नौज के प्रतीहार भी कहते हैं।

मिहिरभोज—इस वंश में मिहिरभोज महाप्रतापी राजा हुआ जिसने आधी शताब्दी तक (सन् ८४०–९०) राज्य किया। उसके विशाल राज्य में राजपूताना, संयुक्त-प्रान्त, गवालियर और सतलज नदी तक के ज़िले सम्मिलित थे। काठियावाड़, गुजरात और मालवा पर भी उसका अधिकार होना सम्भव है। पूर्व में बङ्गाल और बिहार के राजा देवपाल का राज्य था। उसके साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा सतलज नदी थी। पश्चिम में अरबवालों का सिन्ध का राज्य था, दक्षिण में बुन्देलखण्ड में चन्देलों का राज्य और दक्षिण-पश्चिम में राष्ट्रकूटों का राज्य था।

महेन्द्रपाल—मिहिरभोज का उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल हुआ। उसके दो ताम्रपत्र काठियावाड़ में मिले हैं जिनसे पता चलता है कि काठियावाड़ के दक्षिणी हिस्से पर भी उसका राज्य था। काव्यमीमांसा, कर्पूरमञ्जरी आदि ग्रन्थों का कर्ता प्रसिद्ध कवि **राजशेखर** महेन्द्रपाल का गुरु था। भोज और महेन्द्रपाल दोनों ही देवी के भक्त थे। कन्नौज के प्रतीहार-साम्राज्य की आन्तरिक दशा का कुछ भी पता नहीं लगा। एक अरब यात्री ने लिखा है कि नवीं शताब्दी के मध्यभाग में भोज के पास विपुल सैन्यदल था जिसमें घोड़े और ऊँटों के सवारों की भारी फ़ौज थी। उसका कथन है कि राजा बहुत ही धनाढ्य था और भारत का कोई भी प्रदेश लुटेरों से इतना सुरक्षित न था जितना प्रतीहारों का राज्य था। इस कथन से अनुमान होता है कि प्रतीहारों का राज्य-प्रबन्ध सुसङ्गठित था। महेन्द्रपाल का राज्य-काल ई० स० ८९० से ९०७ तक रहा।

महीपाल—उसके पुत्र महीपाल के समय में राजशेखर कवि कन्नौज में विद्यमान था जो उसको आर्यावर्त का महाराजाधिराज और कई देशवालों को पराजित करनेवाला लिखता है। महीपाल दक्षिण के राष्ट्रकूट इन्द्रराज तृतीय से भी ई० स० ९१६ में लड़ा था जिसमें उसकी हार हुई थी। कन्नौज के साम्राज्य का अधःपतन महीपाल के अन्तिम समय से आरम्भ होने लगा।

देवपाल (सन् ९४०–५५)—ज्यों-ज्यों कन्नौज के प्रतीहारों का राज्य निर्बल होता गया त्यों-त्यों सामन्त राजा स्वतन्त्र होने लग गये। कन्नौज के देवपाल को विष्णु की एक बहुमूल्य प्रतिमा चन्देल राजा यशोवर्मन को भेट करनी

पड़ी जिसने खजुराहो के एक परम भव्य मन्दिर में उसकी प्रतिष्ठा की। इस घटना से अनुमान होता है कि कन्नौज के प्रतीहारों का ह्रास और जेजाकभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के चन्देलवंशियों का अभ्युदय इस समय होने लगा था। यशोवर्मन कालिञ्जर के दुर्ग पर अधिकार कर कन्नौज से स्वतन्त्र बन बैठा।

विजयपाल (सन् ९६०-९०)—देवपाल का उत्तराधिकारी **विजयपाल** हुआ जिसके हाथ से गवालियर छिन गया। ई० स० ९५० के लगभग गुजरात में **सोलङ्की-वंश** का **मूलराज** भी कन्नौज से स्वतन्त्र हो गया।

राज्यपाल—विजयपाल के बाद **राज्यपाल** राजा हुआ। उसके समय में महमूद ग़ज़नवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। राज्यपाल ने भागकर अपने सामन्तों के यहाँ शरण ली। सुलतान ने वहाँ के सातों क़िले तोड़े और लूट-मार करके वह लौट गया। राज्यपाल की कायरता पर उसके मित्र राजा बहुत कुपित हुए। महमूद के बिदा होने पर चन्देल राजा गण्ड के पुत्र विद्याधर ने कन्नौज पर चढ़ाई की और राज्यपाल को मार डाला। तत्पश्चात् सन् १०२० में महमूद ने चन्देल राज्य पर हमला किया। लेकिन राजा गण्ड भी मैदान छोड़कर भाग गया।

त्रिलोचनपाल—राज्यपाल के पश्चात् **त्रिलोचनपाल** और **यशःपाल** इस वंश के अन्तिम राजा हुए। ई० स० १०९० के आस-पास गहरवार-वंश के राजा **चन्द्रदेव** ने कन्नौज का राज्य प्रतीहारों से छीनकर बनारस, अयोध्या और दिल्ली प्रान्त पर अपना अधिकार जमा दिया।

बङ्गाल का पाल-वंश—हर्ष की मृत्यु के पश्चात् मगध के गुप्तवंशियों का राज्य नष्ट होने पर बङ्गाल और बिहार में अनेक छोटे-छोटे राज्य हो गये जिनके पारस्परिक संघर्ष से प्रजा में अशान्ति फैली। इस कारण वहाँ के लोगों ने **गोपाल** को बङ्ग-देश का राजा बनाया। एक ताम्रपत्र में लिखा है कि अराजकता और अत्याचारों को दूर करने के लिए गोपाल को प्रजा ने स्वयं अपना स्वामी बनाया। गोपाल ने मगध पर अपना अधिकार जमा लिया। उसका राज्य-काल ४५ वर्ष था। वह परम बौद्ध था और उसने मगध में, उदन्तपुरी में, एक महाविहार बनवाया था।

धर्मपाल—पाल-वंश में द्वितीय महाप्रतापी राजा **धर्मपाल** था। तिब्बत के इतिहास-लेखक तारानाथ का कथन है कि उसका राज्य बङ्गाल की खाड़ी से जालन्धर तक और दक्षिण में विन्ध्याचल तक विस्तृत था। भागलपुर के ताम्रपत्र से पता लगता है कि उसने कन्नौज के राजा इन्द्रायुध से राज्य छीन-कर चक्रायुध को वहाँ का राजा बनाया। यह घटना सन् ८०० ई० के लगभग हुई।

विक्रमशिला का विद्यापीठ—विक्रमशिला के प्रसिद्ध महाविहार को, जिसमें १०७ मन्दिर और ६ विद्यालय थे, धर्मपाल ने स्थापित किया था। यह विश्वविद्यालय भागलपुर के ज़िले में गङ्गा के दाहिने किनारे एक पहाड़ी पर था।

देवपाल—धर्मपाल का उत्तराधिकारी देवपाल था। उसके राज्य के ३३ वें वर्ष का एक ताम्रपत्र मुँगेर से मिला है जिससे प्रकट होता है कि उसका प्रताप दूर-दूर तक फैला और उसका राज्य-काल भी बहुत लम्बा था। आसाम और कलिङ्ग भी उसने अपने राज्य में मिला लिये थे। वह भी बौद्ध-धर्म का बड़ा पक्षपाती था।

महीपाल—पाल-वंश का नवाँ राजा महीपाल था, जिसने ५२ वर्ष तक बङ्गाल का शासन किया। ई० सन् १०२३ के आस-पास काञ्ची के चोल-राजा **राजेन्द्र** ने उस पर हमला किया। इसके समय का विक्रम-संवत् १०८३ का एक शिलालेख सारनाथ में मिला है जिसमें लिखा है कि गौड़ (बङ्गाल) के राजा ने सारनाथ में अनेक मन्दिर बनवाये, धर्मराजिक स्तूप और धर्मचक्र का जीर्णोद्धार कराया।

गुजरात का सोलङ्की-वंश—गुजरात के मध्यकालीन इतिहास की सामग्री जैन-ग्रन्थों और शिलालेखों से उपलब्ध हुई है। छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य का अङ्ग-भङ्ग हो जाने पर चावड़ा-वंश का अधिकार गुजरात और काठियावाड़ पर बहुत काल तक रहा। नवीं सदी में उन देशों पर कन्नौज के गुर्जर-प्रतीहारों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। ई० सन् ९६० में **मूलराज** चालुक्य ने चावड़ा-वंशी राजा सामन्तसिंह को, जो उसका मामा था, मारकर

गुजरात का राज्य छीन लिया। मूलराज के वंश में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिनके राज्य-काल में गुजरात की बड़ी उन्नति हुई। ई० सन् १०८१ में जब ग़ज़नी के सुलतान महमूद ने गुजरात पर चढ़ाई कर सोमनाथ के प्रसिद्ध मन्दिर को तोड़ा तब वहाँ सोलङ्की-वंश का राजा **भीम** राज्य करता था। सोलङ्की राजाओं में **सिद्धराज जयसिंह** और **कुमारपाल** बहुत प्रसिद्ध हैं। सिद्धराज ने मालवा के परमार राजा को हराकर उस पर अधिकार कर लिया। सिद्धराज बड़ा ही लोकप्रिय, न्यायी, विद्याप्रेमी और जैनों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में कई विद्वान् रहते थे। ई० स० १०९३ से ११४२ तक सिद्धराज ने राज्य किया। कुमारपाल बड़ा नीतिनिपुण था। उसके राज्य की सीमा दूर-दूर तक फैली हुई थी। मालवा और राजपूताने का अधिकांश उसके अधीन था। जैन आचार्य **हेमचन्द्र** के उपदेश से उसने जैन-धर्म की दीक्षा लेकर अपने राज्य में जीव-हिंसा को रोक दिया था। उसने ई० स० ११४२ से ११७३ तक राज्य किया। इस वंश का अन्तिम राजा **त्रिभुवन-पाल** था। सन् १२४३ के आस-पास सोलङ्कियों की एक दूसरी शाखा ने, जो बघेल के नाम से प्रसिद्ध है, त्रिभुवनपाल से गुजरात का राज्य छीन लिया। ई० स० १२९९ में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात पर हमला किया। उस समय **कर्ण** वहाँ राज्य करता था। उसके पराजित होने पर गुजरात के सोलङ्की राज्य की समाप्ति हुई।

कन्नौज के गहड़वाल—कन्नौज के प्रतीहारों की सत्ता महमूद ग़ज़नवी के हमलों के बाद बहुत क्षीण हो गई। ई० स० १०८० के लगभग गहड़वाल-वंशी राजा **चन्द्रदेव** ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। ई० स० ११०४ के ताम्रपत्र में लिखा है कि मालवा के राजा भोज और चेदि के राजा कर्ण के मरने पर उत्पन्न हुई अराजकता से दुःखित हुई पृथ्वी चन्द्रदेव की शरण में गई। चन्द्रदेव का अधिकार काशी, अयोध्या और पाञ्चाल देश पर था। उसने कन्नौज को तुरुष्कों (ग़ज़नीवालों) के दण्ड से मुक्त किया था। उसका पुत्र **मदनपाल** और पौत्र **गोविन्दचन्द्र** क्रम से कन्नौज के राजा हुए। गोविन्दचन्द्र बड़ा प्रतापी और दानी राजा था। उसके ताम्रपत्रों में उसकी

उपाधियाँ 'महाराजाधिराज' और 'विविध-विद्या-विचार-वाचस्पति' मिलती हैं। वह स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके राज्य-काल में कन्नौज का गौरव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। गोविन्दचन्द्र के पश्चात् **विजयचन्द्र** और **जयचन्द्र** क्रम से कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठे। जयचन्द्र कन्नौज का अन्तिम प्रतापी हिन्दू राजा था जिसने राजसूय-यज्ञ भी किया था। कहा जाता है कि जयचन्द्र ने अपनी राजकुमारी संयोगिता का स्वयंवर रचा था। इस अवसर पर अजमेर के चौहान राजा **पृथ्वीराज** ने संयोगिता का अपहरण कर उससे विवाह कर लिया। इस कारण जयचन्द्र और पृथ्वीराज एक दूसरे के कट्टर शत्रु बन गये। इनकी आपस की फूट के कारण शहाबुद्दीन ग़ोरी भारत पर आक्रमण करने में सफल हुआ। ई० स० ११९४ में शहाबुद्दीन ग़ोरी ने चन्दावर (ज़िला इटावा) के युद्ध में जयचन्द्र को पराजित किया और फिर बनारस को लूटा जहाँ से वह लूट का माल, १४०० ऊँटों पर लादकर, ले गया। इस पराजय से दुखी होकर जयचन्द्र गङ्गा में डूबकर मर गया। जयचन्द्र के पश्चात् **हरिश्चन्द्र** कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा, किन्तु ई० स० १२२५ के लगभग शम्सुद्दीन इल्तूतमश ने कन्नौज पर अधिकार कर जयचन्द्र के राज्य की समाप्ति कर दी।

कलचुरी-(हैहय)-वंश--मध्यभारत पर चन्देलों और कलचुरियों का अधिकार मध्ययुग तक रहा। कलचुरी-वंश का सबसे प्रतापशाली राजा **गाङ्गेयदेव** हुआ। उसने और उसके पुत्र महाराजाधिराज **कर्ण** ने अपने वंश का गौरव दूर-दूर तक स्थापित किया और उनका प्रभुत्व पूर्व में तिरहुत तक फैला। कर्णदेव ने मगध के पालवंशी राजा से युद्ध किया और मालवा के परमार राजा भोज को पराजित किया। परन्तु ई० स० की ११वीं सदी के मध्य-भाग में चन्देल राजा **कीर्तिवर्मा** ने कर्ण को परास्त कर उसके राज्य-विस्तार को रोक दिया। उसके वंशज १२वीं सदी के अन्त तक मध्य प्रदेश में शासन करते रहे। ११वीं सदी के आरम्भ से कलचुरी राज्य के दो विभाग हो गये थे—एक पश्चिम चेदि जिसकी राजधानी जबलपुर के समीप त्रिपुर थी और दूसरा पूर्व चेदि अथवा महाकोसल जिसकी राजधानी रतनपुर थी।

चन्देल-वंश—मध्य-काल में बुन्देलखण्ड का प्रदेश **'जेजाकभुक्ति'** या जिझौती कहलाता था। इस प्रदेश पर चन्देल-वंश का तीन सदियों से भी अधिक काल तक अधिकार रहा। ई० स० की १०वीं सदी में चन्देल राजाओं ने कन्नौज से स्वाधीन होकर यमुना नदी तक अपना राज्य विस्तृत कर दिया। उनके राज्य के प्रसिद्ध नगर **खजुराहो** (छतरपुर राज्य में), **महोबा** (ज़िला हमीरपुर) और **कालञ्जर** (ज़िला बाँदा) थे। चन्देल-वंश (ई० स० ९५०-९९) में राजा **धंग** बड़ा प्रतापशाली था। उसने खजुराहो के विशाल मन्दिर बनवाये थे। ई० स० ९९० में सुबुक्तग़ीन के आक्रमण को रोकने के लिए उसने पञ्जाब के राजा जयपाल का साथ दिया था। चन्देलवंशियों ने मुसलमानों के आक्रमण के समय भारत की रक्षा में बराबर भाग लिया था। जब महमूद ग़ज़नवी ने सन् १००८ में भारत पर चढ़ाई की तब धङ्ग के पुत्र **गण्ड** ने जयपाल के पुत्र आनन्दपाल से मिलकर शत्रु का सामना किया। **कीर्तिवर्मन चन्देल** (सन् १०४९-११००) ने चेदि-नरेश कर्णदेव को पराजित किया। चेदि-वंशियों का राज्य उस समय वर्तमान मध्यप्रदेश पर था। कीर्तिवर्मा के समय में वेदान्त की शिक्षा से पूर्ण '**प्रबोध चन्द्रोदय**' नामक नाटक रचा गया था। चन्देलों ने पृथ्वीराज चौहान से भी युद्ध किया। ई० स० ११२२ में पृथ्वीराज ने **परमाल** अथवा परमार्दि को परास्त किया। ई० स० १२०३ में क़ुतुबउद्दीन एबक ने कालञ्जर का किला जीत लिया। चन्देलों की शक्ति धीरे-धीरे नष्ट हो गई, यद्यपि उनका राज्य बुन्देलखण्ड में ई० १६वीं सदी तक क़ायम रहा। चन्देल-वंश की वीर क्षत्राणी **रानी दुर्गावती** ने सन् १५६४ में अकबर की मुग़ल सेना का बड़ी बहादुरी से सामना किया था।

मालवा का परमार-वंश—परमार-वंशी नरेशों का उत्पत्ति-स्थान आबू पर्वत कहा जाता है। **कृष्णराज** (उपेन्द्र ने) ई० स० नवीं शताब्दी में मालवा को विजित कर अपना वंश स्थापित किया। उसकी राजधानी धारा नगरी थी। उसने अनेक यज्ञ किये और अपने पराक्रम से वह बड़ा प्रतापी राजा बना। इस वंश के राजाओं ने संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिए बड़ा
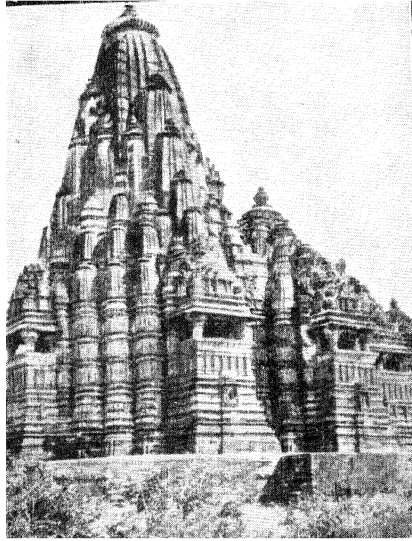
खाजुराहो का प्रसिद्ध मन्दिर ।

उद्योग किया। इस वंश में छठा राजा **श्रीहर्ष** था। उसने ई० स० ९७२ में दक्षिण के राष्ट्रकूटों की राजधानी को (मालखेड़, निज़ाम राज्य में) लूटा। श्रीहर्ष का पुत्र **मुञ्ज** उसका उत्तराधिकारी हुआ। मुञ्ज बड़ा रण-रसिक था। उसने कर्णाट, दक्षिण गुजरात, केरल और चोल के राजाओं को अधीन किया था। उसने मध्यप्रदेश पर भी चढ़ाई की थी। अन्त में, कर्णाट देश के चालुक्य राजा तैलप पर चढ़ाई करने पर, वह पकड़ा गया और फिर मार डाला गया। मुञ्ज स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आदर करनेवाला था। उसके समय के प्रसिद्ध विद्वान् **पद्मगुप्त** ने 'नवसाहसाङ्क-चरित', **धनञ्जय** ने 'दश-रूपक', **हलायुध** ने पिंगल-छन्द-सूत्रों की टीका और **अमितगति** ने 'सुभाषित-रत्न-सन्दोह' रचे थे। मुञ्ज की मृत्यु के बाद **सिन्धुराज** (नवसाहसाङ्क) धारा की गद्दी पर बैठा।

राजा भोज—सुप्रसिद्ध राजा भोज सिन्धुराज का पुत्र और उत्तराधिकारी था। वह बड़ा दानी, विद्वान् और युद्धकुशल था। उसने बहुत से राज्यों को जीता था। भोज ने चेदि (मध्य प्रान्त) के राजा गाङ्गेयदेव और गुजरात के चालुक्य राजा प्रथम भीमदेव को परास्त किया। मुञ्ज के मारनेवाले कर्नाटक के राजा तैलप के पौत्र जयसिंह पर चढ़ाई कर उसने उसको पराजित किया। भोज के विजय-वैभव को तो लोग शीघ्र ही भूल गये, किन्तु उसके विद्याप्रेम और उसकी गुणग्राहकता के गीत अब तक गाये जाते हैं। उसने अलङ्कार, योगशास्त्र, ज्योतिष, नाटक, व्याकरण, शिल्प आदि विषयों पर ग्रन्थ लिखे। उसने धारा नगरी में 'सरस्वती-कण्ठाभरण' नामक विद्यालय स्थापित किया जहाँ कई पुस्तकों को शिलाओं पर खुदवाकर रखा गया था। वह विद्वानों का बड़ा सम्मान करता था। एक-एक श्लोक पर विद्वानों को लाखों के पुरस्कार देने की उसकी ख्याति अब तक चली आती है। उसने चित्तौड़ में त्रिभुवननारायण का विशाल शिव-मन्दिर बनवाया था और भोजपुर की बड़ी झील भी उसकी बनवाई हुई मानी जाती है। उसका राज्य-काल ई० स० १०१८ से १०६० तक रहा। संस्कृत के किसी महाकवि ने राजा भोज की मृत्यु पर विलाप करते हुए लिखा है—

"अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते ।।"

भोज के अन्त-समय में गुजरात के राजा भीमदेव और चेदि के राजा कर्ण ने धारा नगरी पर चढ़ाई की। इससे राज्य में गड़बड़ी मच गई। भोज की मृत्यु के पश्चात् उसके वंशजों से गुजरात के राजाओं का युद्ध जारी रहा। ई० स० की १३वीं सदी में मालवा पर मुसलमानों के आक्रमण शुरू हुए। मुहम्मद तुग़लक़ के समय मालवा के परमार राज्य का अन्त हुआ।

बीसवाँ परिच्छेद

दक्षिण के राज्यों का इतिहास

उत्तर और दक्षिण भारत का पारस्परिक सम्पर्क—भारतवर्ष के तीन प्राकृतिक विभाग हैं। हिमालय और विन्ध्य पर्वत के बीच का प्रदेश 'आर्यावर्त' कहलाता है। नर्मदा नदी के दक्षिण से तुङ्गभद्रा नदी तक के देश को 'दक्षिणापथ' कहते हैं। भारत के सुदूर दक्षिण प्रान्त को तामिल देश या द्राविड़ कहते हैं। पूर्व काल में दक्षिण के इन दोनों प्रदेशों का परस्पर घना सम्बन्ध रहता था, परन्तु उत्तर भारत से इन देशों का राजनैतिक सम्पर्क बहुत थोड़ा रहा। यद्यपि दक्षिण से उत्तर भारत का राजनैतिक पार्थक्य प्रायः बना रहा तथापि दक्षिण देशों में उत्पन्न होनेवाले धार्मिक और दार्शनिक आन्दोलनों का प्रभाव आर्यावर्त के जातीय जीवन पर तत्क्षण पड़ता था। केरल देश के आचार्य्य शङ्कर, काञ्ची के आचार्य रामानुज तथा अन्य महात्माओं का प्रभाव कन्याकुमारी से हिम-गिरि की गहन गुहाओं तक तत्काल फैल जाता था। इससे अधिक भारत की आन्तरिक एकता का—अभिन्न संस्कृति का—और प्रबल प्रमाण क्या हो सकता है? इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भाषा, वेष, जाति और राजनीति के विभेद होते हुए भी समस्त भारत का जीवन एक ही संस्कृति के सूत्र में ओत-प्रोत था। जैसे इस देश के महाप्रतापी सम्राट् समुद्र-पर्यन्त पृथ्वी के अधिपति होने के लिए दिग्विजय करते थे वैसे ही यहाँ के प्रतिभाशाली आचार्य सारे देश की आध्यात्मिक दिग्विजय किया करते थे और उनके दिव्य सन्देश उनके जीवन-काल में ही देश के कोने-कोने में सुन पड़ते थे। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि पूर्व काल में दक्षिण का उत्तर भारत से बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहता था।

वाकाटक-वंश—ई० स० की तीसरी शताब्दी में दक्षिण के आन्ध्र-साम्राज्य के अधःपतन के पश्चात् मध्यवर्ती दक्षिण प्रदेशों पर छठी शताब्दी

तक 'वाकाटक-राजवंश' का प्रभुत्व रहा। वाकाटक राज्य की उत्तरी सीमा पर नर्मदा नदी थी और दक्षिण में भीमा नदी इस राज्य को कदम्ब राज्य से पृथक् करती थी। एक समय वर्तमान हैदराबाद राज्य के समस्त प्रदेश पर वाकाटकों का आधिपत्य था। इस वंश का प्रताप इतना बढ़ा-चढ़ा था कि सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी राजकुमारी प्रभावतीगुप्ता का विवाह वाकाटक-महाराज **रुद्रसेन** द्वितीय से किया था। इस वंश के राजा **प्रवरसेन** द्वितीय की गणना कविवर बाण ने संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों में की है। प्रवरसेन सेतु-काव्य का रचयिता था। गुप्तकालीन सभ्यता और संस्कृत-विद्या का दक्षिण में प्रचार पाँचवीं शताब्दी में वाकाटक वंश के द्वारा हुआ। सम्भवतः छठी शताब्दी के मध्य भाग में वाकाटक वंश को कलचुरियों ने स्थान-भ्रष्ट करके नासिक से उज्जैन तक अपना अधिकार जमा लिया था। परन्तु बहुत शीघ्र ही छठी शताब्दी के अन्त में चालुक्य राजा मङ्गलेश ने कलचुरियों का राज्य छीन लिया।

चालुक्य-वंश—दक्षिण का क्रमबद्ध इतिहास चालुक्य-वंश के अभ्युत्थान से ही आरम्भ होता है। इस वंश का प्रथम प्रतापी राजा पुलकेशी हुआ। उसने सन् ५५० के लगभग वर्तमान बीजापुर ज़िले में वातापी (बादामी) नगर पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया। पुलकेशी ने अपनी राज्य-सीमा को बढ़ाया और अश्वमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान किया जिसमें उसने ब्राह्मणों को बहुत से गाँव दिये। वह मनुस्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत, इतिहास और नीति में पारङ्गत था। उसके पुत्र **कीर्तिवर्मन** और **मङ्गलेश** ने पूर्व और पश्चिम की ओर अपने वंश का राज्य बढ़ाया। कोङ्कण के मौर्य, कलचुरि और कदम्ब-वंश के राजाओं के देशों पर उन्होंने अपना अधिकार जमा लिया।

पुलकेशी द्वितीय—मङ्गलेश के पश्चात् पुलकेशी द्वितीय ई० स० ६०८ में वातापी के राजसिंहासन पर बैठा। बीस वर्ष तक इस महाप्रतापी राजा ने समीपवर्ती सभी राज्यों पर हमले किये। लाट (दक्षिण गुजरात), गुजरात, मालवा, राजपूताना, कोङ्कण आदि देशों ने पुलकेशी का लोहा माना। पूर्व

की ओर कृष्णा और गोदावरी के मध्य वेङ्गी राज्य पर अधिकार कर उसने अपने भाई **कुब्ज विष्णुवर्धन** को वहाँ का उपराजा बना दिया। कुछ वर्ष के उपरान्त कुब्ज विष्णुवर्धन ने स्वतन्त्र होकर 'पूर्वी चालुक्य-वंश' स्थापित किया, जिसका अन्त ११वें शतक के अन्तिम चरण में चोल-वंश के बढ़ते हुए प्रभुत्व के कारण हुआ। सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल और पल्लव राजाओं से भी पुलकेशी द्वितीय का तुमुल युद्ध हुआ। उसकी विजय-पताका दक्षिण में सर्वत्र फहराई और वह दक्षिणापथ का राजाधिराज माना गया। सन् ६२० के लगभग सम्राट् हर्षवर्धन के दक्षिण-विजय के प्रयत्न को उसने निष्फल किया और उसे नर्मदा नदी की सीमा का अतिक्रमण न करने दिया। पुलकेशी का यश और प्रताप दूर-दूर तक प्रख्यात हुआ। पुलकेशी के राजदूत फ़ारिस गये और फ़ारिस के बादशाह ख़ुसरू द्वितीय ने पुलकेशी के दरबार में अपने राजदूत भेजे जहाँ उनका समुचित सत्कार किया गया।

अजन्ता की पहली गुफा के एक चित्र में फ़ारिस के राजदूतों के स्वागत करने के समय के दरबार का दृश्य अङ्कित किया गया है। यह चित्र बड़े महत्त्व का है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि भारत का दूरवर्ती फ़ारिस-राज्य से इस समय राजनैतिक सम्बन्ध था। इतना ही नहीं, बल्कि अजन्ता की चित्रणकला किस काल-क्रम से किस प्रकार विकसित हुई यह भी पुलकेशी के समय के चित्र से अनुमान किया जा सकता है।

पुलकेशी और ह्वेन्त्साङ्ग—पुलकेशी के दरबार में चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग सन् ६४१ में पहुँचा था। उस समय उसकी राजधानी नासिक थी। चीनी यात्री पुलकेशी के दलबल को देखकर दङ्ग रह गया। उसने लिखा है कि पुलकेशी के प्रति प्रजा की प्रगाढ़ राजभक्ति थी। उसने अपने यात्रा-विवरण में चालुक्यों के विषय में लिखा है कि 'वे किसी का तिरस्कार न सहते थे और अपमान का बदला लिये बिना वे शान्त न होते थे। परन्तु जब कोई उनसे अपना कष्ट दूर करने की प्रार्थना करता, तब उसका उपकार करने में वे प्राणों की भी परवा नहीं करते थे। अपने साथ बुराई करनेवाले को पहले वे चेतावनी देते और पीछे उससे भिड़ते थे। पराजय स्वीकार करनेवालों पर वे कभी अस्त्र नहीं उठाते थे।'

काञ्ची के पल्लववंशियों से युद्ध—काञ्ची के पल्लव वंशियों से पुलकेशी का बराबर युद्ध जारी रहा। सन् ६४२ में नरसिंहवर्मन पल्लव ने पुलकेशी को युद्ध में परास्त किया, उसका राज्य छीन लिया और कदाचित् उसको मार भी डाला। ई० स० ६५५ में पुलकेशी के पुत्र **विक्रमादित्य प्रथम** ने अपने वंश का प्रताप पुनः स्थापित किया। पल्लवों को परास्त कर उसने काञ्ची पर अधिकार कर लिया। इसके समय में गुजरात में भी चालुक्य-वंश की एक शाखा स्थापित हुई। चालुक्य और पल्लव राजाओं में परस्पर आक्रमण-प्रत्याक्रमण होते ही रहे। सन् ७५० ई० के लगभग चालुक्य-वंश का प्रभुत्व दक्षिण में नष्ट हो गया और उसको राष्ट्रकूट-वंश ने ले लिया।

चालुक्य राजा स्वयं ब्राह्मण-धर्म के अनुयायी थे, किन्तु अन्य सम्प्रदायों का भी आदर करते थे। उनके समय में बौद्ध-धर्म का क्रमशः ह्रास हुआ और हिन्दू-धर्म के कर्मकाण्ड का विशेष प्रचार होने लगा। इस विषय के बहुत से ग्रन्थ भी लिखे गये। गुफाओं में बहुत से भव्य मन्दिर बनवाये गये। संस्कृत का कवि रविकीर्ति पुलकेशी द्वितीय का आश्रित था, जिसने ऐहोल के लेख में उसकी प्रशस्ति रची थी। उसकी कवित्व-शक्ति इस लेख से बहुत प्रखर प्रतीत होती है।

राष्ट्रकूट-वंश—राष्ट्रकूट-वंश का आधिपत्य सन् ७५० ई० के आस-पास दक्षिण देश पर स्थापित हुआ और दो शताब्दी तक बराबर रहा। **दन्तिदुर्ग** राष्ट्रकूट ने वातापी पर अधिकार करने के उपरान्त और राज्यों पर भी विजय प्राप्त की। उसके उत्तराधिकारी **कृष्ण प्रथम** ने चालुक्य-वंश के अधीन सब देशों पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। वर्तमान निज़ाम राज्य में इलोरा की गुफा में **'कैलासमन्दिर'** राष्ट्रकूट राजा कृष्ण प्रथम के समय में बनाया गया था। यह भव्य और विशाल मन्दिर भारत की वास्तु-विद्या का बड़ा ही आश्चर्यजनक नमूना है। कृष्ण प्रथम के पश्चात् **गोविन्द द्वितीय** राजा हुआ, परन्तु उसका भाई **ध्रुव** उसे हटाकर गद्दी पर बैठ गया। ध्रुव ने भीनमाल के गुर्जर राजा वत्सराज को पराजित किया। ध्रुव के पुत्र **गोविन्द** तृतीय ने विन्ध्यपर्वत और मालवा से लेकर दक्षिण में काञ्ची तक अपनी शक्ति को

प्रसारित किया। उसने अपने भाई इन्द्रराज को लाट देश का उपराजा बनाया। गोविन्द तृतीय का राज्य-काल ई० स० ७९३ से ८१५ तक माना गया है।

अमोघवर्ष—उसके पश्चात् **अमोघवर्ष** ने ६२ वर्ष (सन् ८१५ से ८७७) तक राज्य किया। वह वेङ्गी के पूर्वी चालुक्य-वंशी राजाओं से लड़ता रहा। अरब के व्यापारी सुलेमान ने ई० स० ८५१ में लिखा है कि संसार में चार बड़े-बड़े बादशाह हैं—पहला बग़दाद का ख़लीफ़ा, दूसरा चीन का, तीसरा कुस्तुन्तुनिया का और चौथा बलहार (वल्लभराय)। यह बलहार भारत के दूसरे तमाम राजाओं से अधिक प्रसिद्ध है। अलमसऊदी (सन् ६४४) ने इस बात की पुष्टि करते हुए कहा है कि हिन्दुस्तान के राजाओं में सबसे बड़ा और प्रतापी मानकीर (मान्यखेट) का राजा बलहार है। अरब यात्रियों के अवतरणों से प्रकट होता है कि राष्ट्रकूट राजाओं का प्रताप उस समय बहुत ही बढ़ा-चढ़ा था। 'वल्लभ-राज' राष्ट्रकूटों की उपाधि थी। अमोघवर्ष ने नासिक को छोड़ मान्यखेट (निज़ाम राज्य का मलखेड़) को अपनी राजधानी बनाया था। यह राजा दिगम्बर जैन-मत का अनुयायी और जिनसेन का शिष्य था। जैन आचार्य **जिनसेन** और **गुणभद्र** ने दिगम्बर जैन मत का दक्षिण में नवीं और दसवीं शताब्दी में ख़ूब प्रचार किया। वृद्धावस्था में अमोघवर्ष ने राज्य का भार अपने पुत्र **कृष्णराज द्वितीय** को सौंपकर शेष जीवन धर्म-चिन्तन में बिताया था।

इन्द्र तृतीय ने कन्नौज के परिहार राजा महीपाल का राज्य छीन लिया, किन्तु महीपाल ने फिर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। परन्तु इस गड़बड़ में महीपाल के हाथ से सुराष्ट्र आदि पश्चिमी प्रदेश निकल गये थे। इस समय राष्ट्रकूटों का प्रभाव कन्याकुमारी से गङ्गा-तट तक फैला हुआ था। कृष्ण-राज तृतीय ने चोल-वंशी राजा राजादित्य को ई० स० ६४६ में युद्ध में मारा था। इसकी उपाधि 'परममाहेश्वर' थी, जिससे इसका शिवभक्त होना प्रकट होता है। इसकी मृत्यु के उपरान्त राष्ट्रकूटों का प्रताप-सूर्य अस्ताचल की ओर अवतीर्ण होने लगा। ई० स० ६७३ के लगभग राष्ट्रकूट-वंश के अन्तिम राजा कक्क द्वितीय पर चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने आक्रमण कर

अपने पूर्वजों के गये हुए राज्य को फिर जीत लिया और कल्याणी के चालुक्य-वंश की स्थापना की।

विद्या और कला—राष्ट्रकूटों के समय में विद्या और कला-कौशल की खूब उन्नति हुई थी। ये राजा स्वयं विद्वान् होते थे और गुणियों का आदर करते थे। राजा अमोघवर्ष ने 'रत्नमालिका' नाम की पुस्तक बनाई थी। जैन और संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि इनकी छत्र-छाया में बराबर होती रही। इलोरा की गुफा में खोदकर निर्माण किया हुआ कैलास-भवन नामक शिव-मन्दिर कला-कोविदों की दृष्टि में जगत् की एक अद्भुत वस्तु है, जिसके निर्माण करानेवाले राजा को धन्य है। अरब के व्यापारी और यात्रियों ने भी राष्ट्रकूटों की महिमा का मुक्त कण्ठ से बखान किया है। अरबवालों से इनका व्यापार और मित्रता का सम्बन्ध था।

चालुक्य वंश का पुनरुद्धार—चालुक्य-वंश का पुनरुद्धार करनेवाले **तैलप** का राज्य-काल २४ वर्ष तक रहा। इस अवधि में गुजरात को छोड़ उसने अपने वंश का सभी राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। धारा के परमार-वंशी राजा मुञ्ज से उसका निरन्तर युद्ध होता रहा और छः बार हारकर उसने अन्त में उससे अपने अपमान का बदला लिया। ई० स० ६६५ के लगभग मुञ्ज भागने के प्रयत्न में पकड़ा जाकर फाँसी पर लटका दिया गया। तैलप के बाद **सत्याश्रय** राजा हुआ। इसके समय में चालुक्य राज्य चोल-राजा **राजराज** के भीषण आक्रमण से बड़े ही सङ्कट में आ पड़ा। राजराज की निर्दय सेना ने लूट-मार में कुछ भी कसर न रखी।

सोमेश्वर—ई० स० १०५२ में सोमेश्वर प्रथम ने, जिसे 'आहवमल्ल' कहते थे, कृष्णा नदी पर कोप्पम में चोल राजा **राजाधिराज** से युद्ध कर उसका प्राण-घात किया। सोमेश्वर ने मालवा में धारा और दक्षिण में काञ्ची पर धावे किये और चेदि के वीर राजा कर्ण को परास्त किया। उसने वर्तमान निज़ाम राज्य में स्थित **कल्याणी** को अपनी राजधानी बनाया।

विक्रमाङ्क—कल्याणी के महाप्रतापी राजा विक्रमाङ्क ने ई० स० १०७६ से ११२६ तक राज्य किया। वह भी दक्षिण के काञ्ची के चोल राजाओं

से युद्ध करता रहा। विक्रमाङ्क ने कई बार काञ्ची पर अपना अधिकार स्थापित किया था। मैसूर में द्वारसमुद्र के राजा विष्णु होयसाल से भी उसका घोर संग्राम हुआ। विक्रमाङ्क ने ई० स० १०७६ से प्रारम्भ कर एक नवीन संवत् अपने नाम से चलाया, परन्तु उसका अधिक प्रचार न हुआ। काश्मीरी कवि **बिल्हण** विक्रमाङ्क का आश्रित था। उसने 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' नामक ऐतिहासिक काव्य में अपने आश्रयदाता के पराक्रम और प्रेम-कथाओं का वर्णन किया है। उसकी एक रानी ने उसे स्वयंवर-विवाह में जयमाल पहनाई थी। हिन्दू-धर्मशास्त्र के मान्य ग्रन्थ मिताक्षरा के लेखक **विज्ञानेश्वर** विक्रमाङ्क के समय में कल्याणी में ही रहते थे।

चालुक्य-वंश का पतन—विक्रमाङ्क की मृत्यु के बाद चालुक्य राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। तैलप तृतीय के समय में सेनापति **बिज्जल कलचुर्य** ने चालुक्य-सिंहासन पर अधिकार कर लिया, परन्तु अधिक समय तक उसे अपने अधिकार में न रख सका और सोमेश्वर चतुर्थ के समय में चालुक्य राज्य फिर ज्यों का त्यों हो गया। अन्त में सन् ११९० ई० तक पश्चिम में देवगिरि के यादवों और दक्षिण में द्वारसमुद्र के होयसालों के निरन्तर आक्रमणों से चालुक्य राज्य इतना निर्बल हो गया कि इन दोनों शक्तियों ने उसे बाँट खाया।

लिङ्गायत—लिङ्गायत या वीर शैव सम्प्रदाय का अभ्युत्थान बिज्जल कलचुर्य के अचिर-स्थायी राज्य-काल में हुआ। यह सम्प्रदाय केनारीज़ प्रदेश में अद्यापि प्रभावशाली है। इसके अनुयायी शिव-लिङ्ग की उपासना करते हैं, वेद के प्रामाण्य का प्रत्याख्यान, पुनर्जन्म और बाल-विवाह का प्रतिषेध और विधवा-विवाह का पक्षपात करते हैं। वे ब्राह्मणों से द्वेष करते हैं यद्यपि उनके सम्प्रदाय का प्रवर्तक बिज्जल का मन्त्री **बसव** ब्राह्मण था, जो पहले जैन-धर्मानुयायी कहा जाता था। इस सम्प्रदाय का जैन-धर्म के प्रति कठोर द्वेष-भाव था।

मैसोर के होयसाल—मैसोर प्रदेश के होयसाल या पोयसाल राजाओं की उत्पत्ति पश्चिमीघाट के एक साधारण सरदार से हुई थी। इस वंश का उत्थान **बिट्टिदेव** अथवा **विष्णुवर्धन** के समय में ई० स० की बारहवीं

शताब्दी के आरम्भ में हुआ। ये सरदार चालुक्य राजाओं के सामन्त थे। ई० स० ११६० के लगभग होयसाल-वंश बिलकुल स्वाधीन हो गया। विष्णुवर्धन ने पड़ोसियों से युद्ध करके अपने राज्य को बढ़ाया, परन्तु उसकी कीर्ति का मुख्य हेतु यह था कि वह दक्षिण के धार्मिक जीवन और कला-कलाप की उन्नति में निमित्त-कारण हुआ। बिट्टिग अपनी युवावस्था में कट्टर जैन था, उसने जैन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया था जिन्हें शैवमतानुयायी चोल राजाओं ने नष्ट-भ्रष्ट किया था। चोल लोगों द्वारा किया हुआ जैन मन्दिरों का विध्वंस उनके तीव्र धर्म-द्वेष और असहिष्णुता का सूचक है। महात्मा **रामानुज** के प्रभाव से बिट्टिग वैष्णव-धर्मानुयायी हो गया। तत्पश्चात् उसने अपना नाम विष्णुवर्धन रखा और विष्णु-भक्ति से प्रेरित होकर बड़े ही भव्य और अनुपम मन्दिर बनवाये। मैसोर के होयसाल-नरेशों की छत्रच्छाया में शिल्प-कला की बहुत उन्नति हुई। द्वारसमुद्र का मन्दिर दक्षिण की उत्कृष्ट शिल्प-कला का नमूना है।

रामानुजाचार्य—दक्षिण देश में ब्राह्मण-धर्म की दो मुख्य शाखाओं ने, जो शैव और वैष्णव कहलाती हैं, बहुत बड़ा धार्मिक साहित्य उत्पन्न किया। बौद्धों और जैनों के संघर्ष से शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में बराबर विचार-जागृति बनी रही। इन सब मतों के पारस्परिक संघर्ष और खण्डन-मण्डन के कारण शैव और वैष्णव धर्म का प्रभाव बढ़ता गया और जैन और बौद्ध सम्प्रदायों का प्रभाव धीरे-धीरे घटता गया। दक्षिण के वैष्णव धर्म के अनेक सन्त महात्माओं में शिरोमणि **आचार्य रामानुज** १२वीं शताब्दी में हुए थे। वे बड़े ही प्रतिभाशाली और तत्त्वदर्शी विद्वान् थे। उन्होंने भक्ति-मार्ग का उपदेश किया। रामानुजाचार्य ने काञ्ची में शास्त्राभ्यास किया था। वे अधिराजेन्द्र चोल के राज्य-काल में श्रीरङ्ग में रहते थे, परन्तु वह राजा कट्टर शैव था और उसके द्वेष के कारण रामानुज ने मैसोर के राजा का आश्रय लिया। अधिराजेन्द्र की मृत्यु के बाद फिर वे श्रीरङ्ग को लौट आये और वहाँ उन्होंने अपना शेष जीवन भक्ति-प्रतिपादक ग्रन्थों के निर्माण और भक्ति-मार्ग के प्रचार करने में बिताया। भक्ति-सम्प्रदाय के वे अग्रगण्य आचार्य थे

और भारतवर्ष के धार्मिक जीवन पर उनके उपदेश का बहुत व्यापक और गम्भीर प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने गीता और ब्रह्म-सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद की तीखी समालोचना की। भक्ति के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक मठ और मन्दिर स्थापित किये। रामानुज के प्रायः समकालीन, भक्ति-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य **निम्बार्क** और **मध्व** भी दक्षिण में ही जन्मे थे।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

सुदूर दक्षिण के द्रविड़ राज्य

पाण्ड्य, चोल और केरल--अशोक के शिलालेखों में सुदूर दक्षिण में द्रविड़ों के इन **पाण्ड्य, चोल और केरल** तीन मुख्य राज्यों का उल्लेख मिलता है और उनमें इन्हें प्रत्यन्त अर्थात् स्वाधीन राज्य बतलाया गया है। पाण्ड्य राज्य में वर्तमान मदुरा, तिनेवली के ज़िले और ट्रावंकोर का कुछ भाग शामिल था। यह दक्षिण की वेलारु नदी से कन्याकुमारी तक फैला हुआ था। चोल-राज्य के उत्तर में पेन्नार नदी और दक्षिण में वेलारु नदी थी अर्थात् नैलोर से पड्डुकोटाई तक पूर्वी कोरोमण्डल के समुद्र-तट पर पाण्ड्य-राज्य की सीमा और पश्चिम में कुर्ग की सीमा तक फैला हुआ था। इसमें वर्तमान मदरास तक और उसके समीपवर्ती ज़िले और मैसूर राज्य का अधिकांश शामिल था। चेर या केरल-राज्य मलाबार-तट पर था, जिसके अन्तर्गत आधुनिक मलाबार, ट्रावंकोर और कोचीन थे। समय-समय पर इनकी सीमाओं में परिवर्तन होता रहा।

पल्लवों का आधिपत्य--ई० स० की चौथी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक द्रविड़ देश में पल्लव-राजवंश का आधिपत्य रहा। पल्लवों के अनवरत आक्रमणों से चोल, पाण्ड्य और केरल की दशा दीन-हीन हो गई थी। समुद्रगुप्त की मुठभेड़ ई० स० की चौथी शताब्दी में काञ्ची के पल्लव राजा विष्णुगोप से हुई थी। संभवतः पल्लवों का उदय आन्ध्र-वंश के ह्रास-काल में हुआ था। पल्लवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई ठीक पता नहीं चलता। पल्लवों का सम्बन्ध 'पह्लव' या 'पार्थिवों' से था, यह तो कपोल-कल्पना है। प्राचीन तामिल-साहित्य में इनकी गणना जङ्गली जातियों में की गई है। ये पूर्वोक्त द्रविड़ राज्यों के परम शत्रु माने जाते हैं।

पल्लवों का राज्य वर्तमान मदरास के आस-पास के प्रदेश पर था। कोरोमण्डल (चोला-मण्डलं) के मध्य में काञ्ची या काञ्जीवरम् उनकी राजधानी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने चोल, पाण्ड्य आदि प्राचीन राजवंशों से देश छीनकर उसे अपने अधिकार में कर लिया था।

सिंहविष्णु—लगभग दो सौ वर्ष, ई० सन् की छठी शताब्दी के मध्य से आठवीं शताब्दी के मध्य, तक सुदूर दक्षिण देश पर पल्लव-राजवंश का साम्राज्य था। प्राचीन वंशों के राजा उसके सामन्त बन गये थे। छठी शताब्दी के अन्तिम चरण में **सिंहविष्णु** पल्लव के एक दर्पपूर्ण लेख से ज्ञात होता है कि उसने पाण्ड्य, चोल, केरल और लङ्का के राजाओं को परास्त किया था। पल्लवों के प्रखर प्रताप के समय उनके राज्य में आर्केट, मदरास, त्रिचिनापली और तञ्जोर नामक वर्तमान ज़िले शामिल थे, किन्तु उनका प्रभुत्व उत्तर में नर्मदा और उड़ीसा की सीमा से लेकर दक्षिण में पेन्नार नदी और पूर्व में बङ्गाल की खाड़ी से पश्चिम में बङ्गलोर और बरार तक व्याप्त था। सातवीं शताब्दी के आरम्भ में यद्यपि पल्लवों को कृष्णा और गोदावरी के बीच का वेङ्गी प्रदेश चालुक्यों को अर्पण करना पड़ा था, तथापि यह उनके परम अभ्युदय का समय था, जिसमें उन्होंने ऐसे भव्य स्मारक बनवाये जिनसे वे चिरस्मरणीय हो गये। नवीं शताब्दी के अन्त में उनकी राज-लक्ष्मी चोलों के हाथ में चली गई।

महेन्द्रवर्मन—पल्लव-वंशी सिंहविष्णु के पुत्र **महेन्द्रवर्मन प्रथम** ने ई० स० ६००-६२५ तक राज्य किया। उसने अनेक लोकोपकारी कार्य किये, पर्वतों में गुफाएँ और मन्दिर तथा जलाशय बनवाये। ई० स० ६१० के आस-पास चालुक्य-वंशी पुलकेशी द्वितीय ने उसे युद्ध में हराकर उससे वेङ्गी प्रान्त छीन लिया जिस पर चालुक्य-वंश की एक शाखा का अधिकार कई सदियों तक रहा।

नरसिंहवर्मन—महेन्द्रवर्मन का उत्तराधिकारी **नरसिंहवर्मन** इस वंश में बड़ा प्रतापशाली राजा हुआ। ई० स० ६४२ में उसने द्वितीय पुलकेशी के राज्य पर हमला किया, उसकी राजधानी **वातापी** छीन ली और

सम्भवतः उसे मार डाला। उसके राज्य-काल में पल्लवों का आधिपत्य समस्त दक्षिण देश पर हो गया। नरसिंहवर्मन के ही समय में चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग भारत की यात्रा करता हुआ काञ्ची पहुँचा। उसने लिखा है कि द्रविड़ देश की भूमि में ख़ूब पैदावार होती है और वहाँ की जनता में विद्या का व्यसन, लोक-सेवा, सचाई, साहस और धैर्य्य आदि बड़े गुण हैं। पल्लव राज्य में १०० से अधिक बौद्ध विहार थे जिनमें दस हज़ार साधु-सन्त रहते थे। तामिल देश में उस समय दिगम्बर जैन लोगों के बहुत मन्दिर थे। कुछ अशोक के भी बनवाये हुए भवन वहाँ चीनी यात्री को बतलाये गये थे। पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा पाँच-छः मील की परिधि में थी।

पल्लव राजाओं का कलानुराग—पल्लववंशी राजाओं ने वास्तु और शिल्प-कला में ख़ूब उन्नति की थी। काञ्ची के विशाल मन्दिर, जो प्रायः आठवीं शताब्दी के हैं, अब तक जगद्विख्यात हैं। अनेक भव्य मन्दिरों से पूर्ण इस पुरी के बनानेवाले अवश्य ही नगरनिर्माण-कला में प्रवीण होंगे। राजा नरसिंह ने मामल्लपुरम् नामक नगर बसाया और वहाँ बड़े ही निराले ढङ्ग के मन्दिर बनवाये जिन्हें देखकर आश्चर्य्य होता है।

पल्लवों का चालुक्यवंशियों से बराबर युद्ध होता रहा। ई० स० ७४० में चालुक्यों की उन पर विजय हुई। उस समय से ही पल्लवों का ह्रास होने लगा। अन्त में पल्लव राजा चोल-वंश के अधीन हो गये।

चोल-राज्य—चोल-देश की स्थिति मदरास प्रान्त के कोरोमण्डल समुद्र-तट पर थी। अशोक के समय में यह एक स्वतन्त्र राज्य था। यूनानी और रोम के इतिहास-लेखकों से पता चलता है कि चोल-राज्य जहाज़ों द्वारा विदेशों के साथ ख़ूब व्यापार करता था। इस वैदेशिक व्यापार के कारण चोल-राज्य वैभव-सम्पन्न था।

आदित्य—पल्लवों की पराधीनता से छुड़ानेवाला चोल-वंश का पहला राजा **आदित्य** था। ई० स० ९०७ में उसका पुत्र **परान्तक** सिंहासन पर बैठा। वह बड़ा वीर और विजिगीषु था। उसने पाण्ड्य-राज्य की राजधानी मदुरा को ले लिया और लङ्का पर हमले किये। चोलवंश में सबसे प्रतापी राजा

राजराज था। उसने मदरास, मैसोर और लङ्का के अधिकांश भागों को जीत-कर एक बड़ा साम्राज्य स्थापित किया। उसने चालुक्य-वंशियों से वेङ्गी का राज्य छीना और केरल तथा पाण्ड्य राज्य को अपने अधीन कर लिया। राजराज ने अपनी जल-सेना के लिए एक जहाज़ी बेड़ा भी सज्जित किया जिसके द्वारा उसने भारतीय समुद्र के कितने ही द्वीपों पर अपना अधिकार कर लिया। उसने ई० स० ९८५ से १०१२ तक राज्य किया।

राजेन्द्र चोल—उसका पुत्र राजेन्द्र चोल भी बड़ा प्रतापी था। अपने पिता की भाँति उसने भी अनेक युद्ध किये। अपने जहाज़ी बेड़े से पीगू, अण्डमान और निकोबार तक उसने धावे किये। ई० स० १०२३ में उसने बङ्गाल और बिहार के राजा महीपाल को परास्त किया और इस विजय के उपलक्ष में '**गंगैकोण्डा-चोलापुरम्**' नाम का नगर बसाया जिसमें उसने विशाल महल, मन्दिर और झील बनवाई। राजेन्द्र का उत्तराधिकारी **राजाधिराज** कृष्णा नदी पर ई० स० १०५२ के निकट चालुक्य-वंशी सोमेश्वर से लड़ा और उसके शस्त्र से आहत होकर मर गया।

अधिराजेन्द्र और राजेन्द्र—चोल-वंश के पिछले राजाओं में **अधिराजेन्द्र** और **राजेन्द्र** विख्यात हुए। वे कट्टर शैव थे। अधिराजेन्द्र ने काञ्ची के वैष्णव आचार्य्य रामानुज का घोर विरोध किया। अतएव उसे दूसरे राजा का आश्रय लेना पड़ा। १३ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में चोल-राज्य की शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। चोल और पाण्ड्य राज्यों में बहुधा लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इस पारस्परिक फूट का यह परिणाम हुआ कि ई० सन् १३१० में जब अलाउद्दीन ख़िलजी के सेनापति मलिक काफ़ूर ने उनके देश पर हमला किया तब वे अपनी रक्षा न कर सके, इस्लाम की सेना से पादाक्रान्त हुए और अपने राज्य और धन से हाथ धो बैठे।

चोल-राज्य की शासन-पद्धति—चोलों की शासन-पद्धति बड़ी ही नियमबद्ध थी। नवीं से १३ वीं शताब्दी तक के लेखों से चोलों के राज्य-प्रबन्ध के विषय में हमें बहुत सी बातें मालूम हुई हैं। चोल राजा स्वेच्छा-चारी न थे, किन्तु प्रजा की सहायता से राज्य करते थे। उनके शासन का

मूल आधार ग्राम था। कुछ ग्राम आपस में मिलकर अपनी एक महासभा स्थापित करते थे जिसे राज्य के अधिकारियों की देख-रेख में स्थानिक शासन करने का व्यापक अधिकार होता था। इस ग्राम-संघ की महासभा के सदस्य चिट्ठियाँ डालकर चुने जाते थे। सदस्यों का चुनाव एक वर्ष के लिए होता था। प्रत्येक ग्राम-संघ के पास कोष होता था और ग्राम की भूमि पर उसका पूर्ण अधिकार होता था। उसकी महासभा छोटी-छोटी समितियाँ निर्वाचित करती थी जो उद्यान, सरोवर, नहर, न्याय आदि शासन-विभागों की देख-रेख किया करती थीं।

चोला-मण्डलम् राज्य छः प्रान्तों में विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त कई विभागों में बाँटा हुआ था। इन विभागों के ज़िले बने हुए थे जिनके अधीन पूर्वोक्त ग्राम-संघ रहा करते थे। चोल-राष्ट्र के ये छोटे-बड़े विभाग शासन की सुव्यवस्था के लिए किये गये थे। चोल-राज्य किसानों से भूमि की पैदावार का षड्भाग लेता था, किन्तु कई प्रकार के और मामूली कर प्रजा पर लगाये जाते थे। भूमि की माप नियत समय पर होती थी और इसके लिए ठीक-ठीक मान-दण्ड का उपयोग किया जाता था। चोल राजाओं ने अपनी जल-सेना के लिए नौ-यान बनाया था। आबपाशी के लिए अच्छे ढङ्ग की बड़ी-बड़ी नहरें और जलाशय निर्माण कराये गये थे। कावेरी नदी से कई नहरें निकाली गई थीं। चोल देशवासी नदियों के बाँध और झीलों के घाट बनाने में बड़े चतुर थे। मुख्य सड़कों का प्रबन्ध भी बहुत अच्छा था। इन सब बातों से अनुमान होता है कि चोलों की शासन-प्रणाली सुव्यवस्थित थी। उनकी ग्राम-सभाएँ बड़े महत्त्व की थीं। उनके द्वारा केन्द्रस्थ सरकार को लोकमत से सहायता मिलती थी। राजा और प्रजा में सम्भूय-समुत्थान का भाव रहता था। ये ग्राम पञ्चायतें बृटिश शासन में बिलकुल नष्ट हो गईं।

कला-कलाप—पल्लवों की भाँति चोलों ने भी अपने देश में अनेक भव्य और विशाल मन्दिर बनवाये। काञ्ची की भाँति तञ्जौर के मन्दिर भी जग-त्प्रसिद्ध हैं। उनकी निराली रचना और सज-धज बड़ी चित्ताकर्षक है। वहाँ
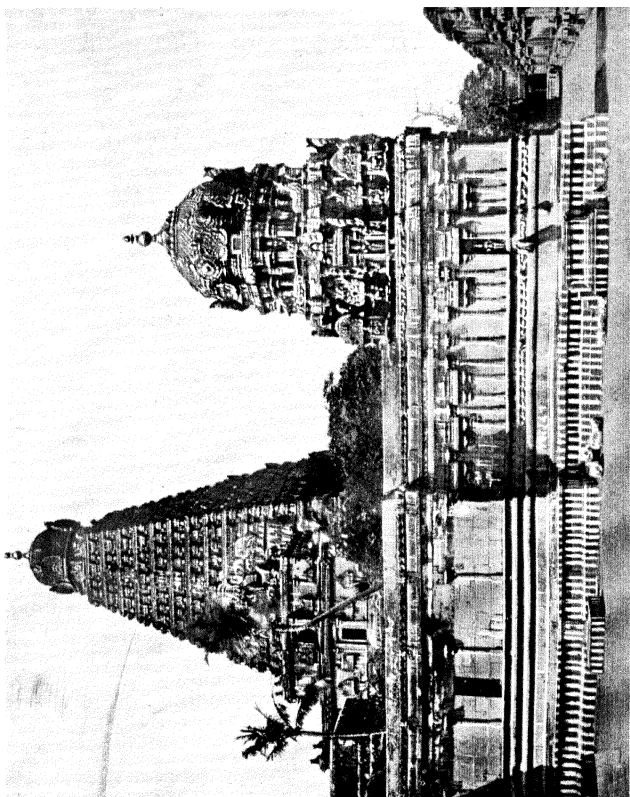
तञ्जोर का द्रविड़ शैली का हिन्दू मन्दिर

के शिल्पियों के काम में भी उनके कला-कौशल का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। दक्षिण की कला का इतिहास इसलिए अधिक रोचक है कि उसका विकास उसी देश में हुआ, उस पर किसी तरह का विदेशी प्रभाव न पड़ा और उसकी बहुत काल तक उत्तरोत्तर उन्नति होती रही।

दक्षिण भारत विदेशी आक्रमणों से अधिक दिनों तक सुरक्षित रहा। उस पर इसलाम के धावे भी उत्तरी भारत की अपेक्षा बहुत कम हुए। यही कारण है कि उसकी कला का अधिकांश बच रहा है। पल्लव और चोल वंश के शासक कला के प्रेमी थे। दक्षिण के सन्तों की मूर्तियाँ भारतीय-कला की अनुपम कृतियाँ हैं; शिव की नटराज के रूप में जो प्रतिमाएँ बनी हैं उनमें भारतीय धातु-कला का उत्कर्ष ही नहीं, किन्तु शैवों की भव्य भावना का परिचय भी मिलता है। इस शैली के उत्तम उदाहरण के रूप में हम तञ्जौर के नटराज को देख सकते हैं। मामल्लपुरं के सप्त पगोद, कैलास इलोरा के दिव्य भवन, वातापी के मन्दिर तथा उनके भीतर की मूर्तियाँ और अन्य अनेक मन्दिर मध्यकालीन दक्षिण की कला के परमोत्तम उदाहरण हैं।

धर्म—चोल राजा शिव-भक्त थे, किन्तु अन्य सम्प्रदायों के अनुयायियों के प्रति सहिष्णुता से प्रायः व्यवहार करते थे। इस नियम के विरुद्ध उन्होंने दो-एक बार जैनों और वैष्णवों पर अत्याचार किया था। तामिल-साहित्य के उन्नत करने का भी श्रेय चोल-वंश को प्राप्त है।

पाण्ड्य—पाण्ड्य राज्य भी अशोक के समय में स्वतन्त्र था। इसमें मदुरा, तिनेवली ज़िले और त्रावणकोर का थोड़ा सा भाग सम्मिलित था। ई० सन् के प्रारम्भ से ही पाण्ड्य, चोल और केरल देश के लोग रोम-साम्राज्य से ख़ूब व्यापार करते थे। इसका पता दक्षिण भारत में मिले हुए रोम के सिक्कों से लगता है। रोम के ये सिक्के आगस्टस से आरम्भ कर ज़ीनो तक के समय के हैं (ई० पूर्व २७ से ई० स० ४९१)। हीरे, मोती, मलमल, मसाले तथा चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ दक्षिण से रोम को भेजे जाते थे। जहाँ-जहाँ ये चीज़ें पैदा होती हैं वहीं रोम के सिक्के बहुतायत से मिले हैं। प्राचीन भारत में रोम-साम्राज्य का धन यहाँ के व्यापार की वस्तुओं के विनिमय में बहा

चला आता था। रोम के इतिहासकार प्लिनी (Pliny) ने लिखा है कि ऐसा कोई वर्ष नहीं होता जिसमें भारतवर्ष को हमारे साम्राज्य से एक करोड़ के लगभग धन न चला जाता हो, वहाँ से जो माल आता है वह ठीक सौगुनी क़ीमत पर यहाँ बिकता है और हम लोग भारत के व्यापार से और अपनी विलासप्रियता और स्त्रियों के कारण लुटे जाते हैं। ई० स० की पहली शताब्दी में एक यूनानी लेखक के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि यूनानी सौदागर दक्षिण के बन्दरगाहों से महीन मलमल, मोती, हाथी-दाँत और मसाले ले जाया करते थे। प्राचीन तामिल-साहित्य में भी दक्षिण भारत का विदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था इसकी बहुत कुछ चर्चा मिलती है। गोआ के समीप कादम्ब-राज्य के सिक्कों पर जहाज़ का चिह्न होता है। इससे अनुमान होता है कि कादम्ब लोग व्यापार के लिए विदेश जाया करते थे। पल्लवों के सिक्कों पर भी जहाज़ और मछली के चिह्न मिलते हैं। 'पेरिप्लस' नामक ग्रन्थ में भारत के समुद्र-तट पर बसे हुए प्रसिद्ध बन्दरगाहों का वर्णन मिलता है। मलाबार के तट पर मुज़ीरस अथवा क्रङ्गनौर और वैक्कराई नाम के दो प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र थे। तिनेवली की ताम्रपर्णी नदी पर कोरकाई नामक नगर मोतियों के व्यापार का मुख्य स्थान था। 'कावेरी पट्टिनम्' कावेरी नदी के मुहाने पर बड़े विभव और व्यापार का केन्द्र था।

तामिल-साहित्य—तामिल देश का साहित्य भी ई० स० की प्रथम और द्वितीय शताब्दियों में बड़ी प्रौढ़ावस्था में था। तामिल देश में 'सङ्गम' नाम की विद्वत्परिषद् स्थापित थी। इस सङ्गम के अनुमोदन करने पर पण्डितों की कृतियाँ प्रकाशित हो सकती थीं। यह विद्वानों का संघ मदुरा में था और इस 'सङ्गम' के द्वारा तामिल-वाङ्मय की अपूर्व श्रीवृद्धि हुई। तामिलों का परम आदरणीय ग्रन्थ तिरुवल्लुव-रचित कुराल ई० स० की प्रथम तीन शताब्दियों में किसी समय रचा गया था। तामिल देश में कुराल वैसा ही प्रख्यात और लोकप्रिय ग्रन्थ है जैसी उत्तर भारत में रामायण। उसमें तामिलों के वाङ्मय का कोष है, उनके काव्य का मधुरालाप और उपदेश-रत्नों की खान है।

पाण्ड्यों के विभव का समय—पाण्ड्य राज्य के पल्लव बड़े शत्रु थे जिनसे उसे बराबर युद्ध करना पड़ा। दसवीं शताब्दी में राजराज चोल ने पाण्ड्य-राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। सिंहल से भी इसकी बराबर लड़ाई रहती थी। ११वीं और १२वीं शताब्दी में इसे चोल राज्य की अधीनता में रहना पड़ा, किन्तु १३ वीं शताब्दी में पाण्ड्य-राज्य चोलों की अधीनता से छूटकर तामिल देश में अग्रगण्य हो गया। ई० स० १३१० में जब मुसलमानों के दक्षिण में हमले शुरू हुए उस समय यही राज्य शक्तिशाली था। परन्तु इस घटना के बाद पाण्ड्य-वंश की अवनति होने लगी।

मार्को पोलो का यात्रा-वृत्तान्त—जिस शताब्दी में पाण्ड्य राज्य उन्नति के शिखर पर विराजता था उस समय वेनिस का यात्री मार्को पोलो उस देश में पहुँचा। उसने अपने भ्रमण-वृत्तान्त में पाण्ड्य देश के राजा-प्रजा के वैभव का कुछ हाल लिखा है। वह ई० स० १२८८ और १२९३ में ताम्रपर्णी नदी के तट पर बसे हुए कायल नाम के नगर में पहुँचा। उसने लिखा है कि दक्षिण में कायल विशाल और वैभव-सम्पन्न नगर था। इसके बन्दरगाह पर चीन और अरब से सैकड़ों जहाज़ व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। वहां के राजा के पास असंख्य धन था। वह अमूल्य रत्नों के आभूषण पहना करता था। उसका दरबार बड़ा शानदार होता था। वह विदेशी और व्यापारी लोगों पर अनुग्रह करता था जिसके कारण वे उस नगर में सहर्ष आया करते थे। राजा का शासन न्यायपूर्ण था इत्यादि बातों का मार्को पोलो के भ्रमण-वृत्तान्त से पता चलता है।

केरल-राज्य—केरल अथवा चेर राज्य का उल्लेख हमें पहले-पहल ई० स० पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक के शिलालेखों में मिलता है। चेर-राज्य में वर्तमान त्रावङ्कोर राज्य का अधिक भाग शामिल था। इस प्रदेश पर कई शतक तक चोल-वंश का आधिपत्य रहा। केरल राज्य में भी ग्राम-सभाओं को बहुत कुछ राजनीतिक अधिकार मिले हुए थे। केरल-राज्य के दो प्रसिद्ध प्राचीन बन्दरगाह मुज़ीरिस और वैक्राई थे जिनका उल्लेख यूनान

और रोम के इतिहासकारों ने किया है। उनके लेखों से पता लगता है कि चेर-राज्य में पाश्चात्य देशों से ख़ूब व्यापार होता था।

रविवर्मा—केरल-वंश के प्रसिद्ध राजा रविवर्मा ने १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ-काल में चोल और पाण्ड्य राजाओं को जीतकर तामिल देश में अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया था। जब मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर हमला किया उस समय राजा रविवर्मा ने अन्य हिन्दू राजाओं को एकत्र कर स्वदेश की रक्षा के लिए शत्रु का घोर विरोध किया। केरल राज्य का सविस्तर और शृङ्खलाबद्ध इतिहास लिखने के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं है।

बाईसवाँ परिच्छेद

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति

हिन्दू-धर्म का अभ्युदय—मध्यकालीन भारत के इतिहास में पौराणिक हिन्दू-धर्म का अधिकाधिक प्रचार और बौद्ध-धर्म का क्रमशः ह्रास दृष्टिगत होता है। दक्षिण, राजपूताना, गुजरात, मालवा और बिहार के कुछ प्रदेशों को छोड़कर जैन-धर्म का अधिक प्रचार नहीं हुआ। जैन आचार्य्य हेमचन्द्र ने गुजरात में जैन-धर्म का बहुत प्रचार किया। गुजरात के राजा जयसिंह और कुमारपाल ने इस धर्म में दीक्षित होकर इसकी उन्नति के लिए बहुत प्रयत्न किया। परन्तु, शैव और वैष्णव-धर्म के प्रचारकों ने जैन-धर्म को बहुत क्षति पहुँचाई। चोल राजाओं ने शैव होकर जैनों पर अत्याचार किये। रामानुजाचार्य्य ने विष्णुवर्धन को जैन-धर्म से पराङ्मुख कर वैष्णव-धर्म के प्रचार में प्रवृत्त कर दिया। इस प्रकार जैन-धर्म क्रमशः क्षीण होता गया। बौद्ध-धर्म भी हिन्दू-धर्म की बढ़ती हुई बाढ़ के सामने न टिक सका। बौद्ध-धर्म में ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों मतभेद भी बढ़ते गये। राज्य का आश्रय न मिलने के कारण बहुत शीघ्रता से बौद्ध-धर्म की अवनति होने लगी और हिन्दू-धर्म बहुत तेज़ी से उन्नति-पथ पर अग्रसर होने लगा। हिन्दू-धर्मावलम्बियों ने बौद्ध-धर्म से बहुत सी बातें सीख ली थीं। वैष्णवों ने बौद्ध-धर्म से प्रभावित होकर अहिंसा को प्रधानता दी और बुद्ध और ऋषभदेव को विष्णु के अवतारों में सम्मिलित कर लिया।

शङ्कराचार्य—इस युग में वेद-धर्म के समर्थक बड़े-बड़े प्रतिभाशाली आचार्य्य हुए। उनमें **कुमारिलभट्ट** सातवीं सदी में हुआ जिसने वेद की प्रामाणिकता न स्वीकार करनेवाले बौद्धों का बहुत खण्डन किया। कुमारिल के पश्चात् **आचार्य्य शङ्कर** दक्षिण के केरल प्रान्त में ७८८ ई० में उत्पन्न हुए।

उन्होंने इस युग में धार्मिक और दार्शनिक क्रान्ति पैदा कर दी। उन्होंने ज्ञानकाण्ड का और अहिंसा के सिद्धान्तों का आश्रय लेते हुए वेदों का प्रचार किया और भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों से शास्त्रार्थ कर उन्हें परास्त किया। 'शङ्कर-दिग्विजय' नामक ग्रन्थ में उनके शास्त्रार्थों का विशद वर्णन किया गया है। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भारतवर्ष की चारों दिशाओं में उन्होंने एक-एक मठ स्थापित किया। उनके मठ दक्षिण में शृङ्गेरी, पश्चिम में द्वारका, पूर्व में पुरी और उत्तर में बदरिकाश्रम में अब तक चले आ रहे हैं। आचार्य शङ्कर के गुरु गोविन्द और दादा गुरु गौड़पाद थे जो 'अद्वैतवाद' (आत्मा और परमात्मा के अभेदवाद) के प्रवर्तक थे। शङ्कर की अकाट्य तर्क-शैली और प्रगाढ़ विद्वत्ता से विद्वान् लोग दङ्ग रह गये। उन्होंने वेदान्त सूत्र, उपनिषदों और गीता पर भाष्य रचकर वेद-धर्म की गौरव-गरिमा को फिर से प्रतिष्ठापित किया। 'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरी वस्तु नहीं'* यह उनका दार्शनिक सिद्धान्त था।

रामानुजाचार्य—शङ्कराचार्य्य के पश्चात् रामानुजाचार्य्य हुए जिनका जन्म १०१६ में श्रीरङ्गम् में हुआ। उन्होंने भक्ति-मार्ग का प्रचार करने के लिए अद्वैत-वाद का खण्डन करना शुरू किया। उनके पहले द्रविड़ देश में भक्ति के अनेक आचार्य्य, आलवार, नाथमुनि, आलवन्दार आदि हो चुके थे। उनका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इस सिद्धान्त में यद्यपि ब्रह्म, जीव और जगत् तीनों मूलतः एक ही माने जाते हैं तो भी तीनों कार्य्यरूप में एक दूसरे से भिन्न और कुछ विशिष्ट गुणों से युक्त हो जाते हैं। ईश्वर और जीव का वही सम्बन्ध है, जो समुद्र और तरङ्ग का है।† ब्रह्म एक भी है और अनेक भी। रामानुज के मत में परमात्मा की प्राप्ति के लिए भक्ति और शुभ कर्म ही साधन हैं। अनन्य होकर आत्म-समर्पण करना उत्तम प्रकार की भक्ति है। रामानुजा-

---

* 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'।

† 'सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥''

चार्य्य ने भी शङ्करकी भाँति, वेदान्त-सूत्र, उपनिषदों और गीता पर भाष्य रचे। उनकी वेदान्त-टीका 'श्रीभाष्य' और सम्प्रदाय 'श्री-सम्प्रदाय' कहलाता है।

अन्य वैष्णव आचार्य—रामानुज के पश्चात् **मध्वाचार्य्य** ने १२वीं सदी में भक्तिमार्ग का प्रचार किया। इस सम्प्रदाय का प्रचार दक्षिणी कर्नाटक में अधिक है। ज्ञान और भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक आचार्यों की कृतियों से बौद्ध-धर्म पर लोगों की श्रद्धा बहुत शिथिल हो गई और वेद-मूलक धर्म की बराबर उन्नति होती रही। इस्लाम-धर्म के भीषण आक्रमण की सदियों में इन आचार्यों के उपदेशों से प्रभावित अनेक साधु-सन्त हुए, जिन्होंने हिन्दू-धर्म और संस्कृति को जीवित बना रखा। वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामदास, रामानन्द, कबीर, सूरदास, तुलसीदास, नानक आदि महात्माओं ने जब हिन्दू-धर्म पर महासङ्कट पड़ रहा था, उस समय उसका उद्धार किया।

मध्यकालीन साहित्य—हर्ष के समय से ई० स० की १२ वीं सदी तक संस्कृत-साहित्य के भिन्न-भिन्न शास्त्रों और अङ्गों की बराबर उन्नति होती रही। उस समय संस्कृत ही राजकीय भाषा थी। प्राकृत बोल-चाल की भाषा थी। दक्षिण भारत में तामिल, तेलगू, मलयालम् और कनाड़ी भाषाओं का भी साहित्य उन्नत था।

मध्यकालीन कवि और विद्वान्—भारवि, दण्डी, माघ, हर्ष, जैन आचार्य जिनसेन, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, बिल्हण, कल्हण, जयदेव आदि महाकवियों ने इस युग में अपनी कोमल-कान्त कृतियों से संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि की। भवभूति ने क्रम से 'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' और 'उत्तर-रामचरित' शृङ्गार, वीर और करुणरस-प्रधान नाटक रचे। भट्ट नारायण ने 'वेणी-संहार', राजशेखर ने 'कर्पूर-मञ्जरी', कृष्ण कवि ने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक नाटक रचे। काव्य, अलङ्कार, छन्द, नाटक, कथा, आख्या-यिका, उपन्यास आदि ललित साहित्य के सभी अङ्ग इस समय उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचे हुए थे। व्याकरण, कोष, दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, सङ्गीत, नृत्य, दण्डनीति आदि बहुत से विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ इस काल

में बने थे। राज-सभाओं में बड़े-बड़े कवियों को आश्रय दिया जाता था। बहुत से हिन्दू राजा बड़े विद्वान् और विद्या-व्यसनी थे। राजा भोज ने व्याकरण, अलङ्कार, ज्योतिष और योगशास्त्र पर विशिष्ट ग्रन्थ लिखे। अजमेर के राजा विग्रहराज चतुर्थ का लिखा 'हरकेलि नाटक' शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है। प्रायः प्रत्येक दरबार में कुछ कवि और विद्वान् रहते थे, जिनका वहाँ पूर्ण सम्मान होता था। मध्यकालीन भारत का साहित्यिक विकास किसी भी अंश में पहले की अपेक्षा न्यून नहीं था।

तत्कालीन शिल्पकला—इस समय वास्तु-कला का भी खूब विकास हो चुका था। तक्षण-कला में भी भारतीय शिल्पियों ने कमाल हासिल किया था। पहाड़ों को काट-काटकर बनाई हुई भव्य गुफाएँ और मन्दिर इस समय की तक्षण-कला के परमोत्तम नमूने हैं। ऐसी गुफाएँ विशेषतः दक्षिण में मिलती हैं, जिनमें अजन्ता, इलोरा, कार्ली आदि मुख्य हैं। राष्ट्रकूट प्रथम कृष्ण के समय का इलोरा का कैलास-मन्दिर मानव-जाति के श्रम का अत्यन्त आश्चर्यजनक नमूना है। इस समय के, भिन्न-भिन्न शैलियों के, सुन्दर मन्दिर सैकड़ों स्थानों पर विद्यमान हैं। उत्तर-भारत में आर्य्य शैली के मन्दिर और दक्षिण में द्रविड़ शैली के मन्दिर प्रायः बनाये गये थे। आर्य शैली के मन्दिरों के ऊपर शिखर और द्रविड़ शैली के मन्दिरों में विमान नामक कई मञ्ज़िलों का ऊँचा मण्डप रहता है। वह ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों उसका फैलाव कम होता जाता है। गर्भगृह के आगे मण्डप या अनेक स्तम्भोंवाले विस्तृत स्थान होते हैं और मन्दिर के प्राकार के एक या अधिक द्वारों पर एक बहुत ऊँचा अनेक देवी-देवताओं की मूर्तिवाला गोपुर रहता है। अजन्ता की गुफाओं में अङ्कित चित्र भारत की प्राचीन चित्रकला के बचे-खुचे चिह्न हैं। ये चित्राङ्कित गुफाएँ ई० स० की चौथी सदी से सातवीं सदी तक समय-समय पर बनी हैं। चित्र-कला के मर्मज्ञों ने उन चित्रों के सौन्दर्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। ग्वालियर राज्य के बाघगाँव की गुफाओं में सातवीं सदी के आस-पास के बहुत से रङ्गीन चित्र हैं जो कला की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट हैं कि इनकी प्रशंसा नहीं की जा सकती। सङ्गीत, नृत्य, वाद्य

आदि कलाओं में हिन्दुओं ने बहुत उन्नति कर ली थी। भारत की सङ्गीत-लिपि (Notation) सबसे प्राचीन है। इस कला के सिखाने का बहुत सा साहित्य था। उस समय कई प्रकार की वीणा, झाँझ, बंसी, मृदङ्ग और तार के वाद्य काम में आते थे।

मध्यकालीन शासन-पद्धति—हर्ष और पुलकेशी के बाद यद्यपि सम्पूर्ण भारत कई छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था तथापि उनकी प्राचीन शासन-पद्धति में विशेष परिवर्तन इस समय नहीं हुआ था। एकतंत्र शासक होते हुए भी राजा प्रजा-हितैषी होते थे। उस समय ब्राह्मणों और धर्मगुरुओं का राजा पर बहुत प्रभाव रहता था। राजा प्रजा के भूत्यर्थ ही कर लिया करते थे।* सारा राज्य शासन की सुविधा के लिए कई प्रान्तों में बँटा हुआ था। मुख्य विभाग 'भुक्ति' (प्रान्त), विषय (ज़िला) और ग्राम थे। ग्राम का प्रबन्ध पञ्चायत के अधीन था। चोल राजाओं का शासन ग्राम-सभाओं पर सङ्गठित था। कृषि, सिंचाई, व्यापार, मन्दिर, दान आदि के लिए इन सभाओं की उप-समितियाँ थीं। ग्राम-संस्थाएँ बहुत प्राचीन-काल से इस देश में चली आती हैं। देश और राज्य में चाहे कैसे ही परिवर्तन क्यों न हों, भारतीय ग्राम सदा से स्वराज्य भोगते चले आते थे। शिलालेखों से राज्य के भिन्न-भिन्न कर्मचारियों का पता चलता है। प्रान्त का शासक 'गोप्ता' वा 'भोगिक' कहलाता था। ज़िले का शासक 'विषय-पति' कहलाता था। ग्राम-सभा के सभ्य को 'महत्तर' और मुख्य शासक को 'ग्रामिक' कहते थे। शौल्किक (कर लेनेवाला), गैाल्मिक (क़िलों का अध्यक्ष), ध्रुवाधि-करण (भूमि-कर लेने वाला), भांडागाराधिकृत (कोषाध्यक्ष), दण्डपाशिक (पुलिस), सांधि-विग्रहिक (परराष्ट्र-सचिव), रण-भांडागारिक (कमसरियट का अफ़सर), 'विनय-स्थिति-स्थापक' (न्यायाधीश), अक्षपटलाधिपति (आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला), सेनापति इत्यादि राज्य के बड़े-बड़े अधिकारियों के नाम मिलते हैं।

---

* 'प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥' रघुवंश—१।

आबपाशी का प्रबन्ध—कृषि की उन्नति के लिए राजा सदा कटिबद्ध रहते थे। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध था। सुराष्ट्र की सुदर्शन झील का इतिहास हम पर सुविदित है। राजतरङ्गिणी में 'सूय' नामक इंजीनियर का उल्लेख है जिसने झेलम नदी से नहरें निकलवाईं। कल्हण ने लिखा है कि सूय ने नदियों को इस तरह नचाया जैसे सँपेरा साँपों को नचाता है। राजेन्द्र चोल ने (१०१८–३५ ई० में) अपनी राजधानी के पास बड़ा जलाशय बनवाया। परमार राजा भोज ने भोजपुर में (भूपाल के पास) एक बहुत बड़ा तालाब बनवाया था जो संसार की कृत्रिम झीलों में सबसे बड़ा था।

भारत का व्यापार जल और स्थल मार्ग से पूर्व काल से होता चला आता था। देश के भीतर बड़े-बड़े नगर व्यापार के केन्द्र थे। समुद्र-तट के बन्दरगाहों द्वारा विदेशों से व्यापार होता था। पश्चिम में भड़ौंच, दक्षिण में कोरकाई, कावेरी पट्टिनम्, बङ्गाल में ताम्रलिप्ति व्यापार के प्रसिद्ध बन्दरगाह थे। चोल राजा एक बड़ी नौ-सेना भी रखते थे। भारत की कृषि, व्यापार और व्यवसाय इस समय उन्नत दशा में थे। मध्यकाल में बने हुए सैकड़ों भव्य मन्दिरों के देखने से भारत की तत्कालीन अनन्त धन-राशि का कुछ-कुछ अनुमान हो सकता है।

मध्यकालीन हिन्दू-समाज—हिन्दू-समाज में भी अनेक फेरफार इस युग में हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में अनेक उपजातियाँ बन गईं। इन वर्णों में परस्पर सम्बन्ध अच्छा था। यद्यपि सवर्ण विवाह श्रेष्ठ माना जाता था तथापि अन्य वर्णों से विवाह करना धर्म-शास्त्र के प्रतिकूल न था। अर्थात् अनुलोम विवाह शास्त्र के अनुसार था, प्रतिलोम नहीं। क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-वर्ग की कन्या एक ब्राह्मण ले सकता था; किन्तु क्षत्रिय, वैश्य आदि ब्राह्मण-कन्या नहीं ले सकते थे। अल-बेरुनी लिखता है कि चारों वर्णवाले इकट्ठे रहते और एक दूसरे के हाथ का भोजन खाते थे। दक्षिण में शाकाहारियों ने मांसाहारियों के साथ खाना छोड़ दिया था। धीरे-धीरे यह भेद-भाव सभी वर्णों में बढ़ता गया। समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। हर्ष की बहिन राज्यश्री ने दिवाकरमित्र

से बौद्ध-धर्म की शिक्षा प्राप्त की थी और चीनी यात्री ह्वेन्त्साङ्ग के व्याख्यान सुने थे। उसने सङ्गीत और नृत्य-कलाएँ भी सीखी थीं। यह कथा प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य्य और मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की विदुषी स्त्री सरस्वती मध्यस्थ बनी थी। महाकवि राजशेखर की स्त्री अवन्तिसुन्दरी काव्य-रचना में बड़ी प्रवीण थी। भास्कराचार्य्य ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित सिखाने के लिए 'लीलावती' ग्रन्थ लिखा। संस्कृत में कविता करनेवाली बहुत सी स्त्रियों के नाम मिलते हैं। उस समय पर्दे की प्रथा भी न थी। संस्कृत नाटकों से पता चलता है कि स्त्रियाँ गुरुकुल में पढ़ा करती थीं। समय पड़ने पर वे राज्य-प्रबन्ध भी करती थीं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय की राजकुमारी प्रभावतीगुप्ता ने अपने पति की मृत्यु के बाद वाकाटक राज्य का शासन स्वयं किया था। इस समय में सती-प्रथा बढ़ रही थी। महाकवि बाण ने इस प्रथा का विरोध किया था।* स्त्री और शूद्र वर्गों को धर्म-शिक्षा इतिहास-पुराणों द्वारा दी जाती थी।

---

* 'यदेतदनुमरणं तदतिनिष्फलम्'—कादम्बरी

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु सदा।

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः॥ उत्तरचरित्र०—

तेईसवाँ परिच्छेद

विशाल भारत तथा भारतीय सभ्यता का प्रसार

आधुनिक अनुसन्धान—बहुत दिनों तक लोगों की यह धारणा थी कि प्राचीन भारतीय कूप-मण्डूकवत् थे; संसार की अन्य जातियों से, पर्वतों तथा समुद्रों से प्रतिबद्ध होने के कारण, उनका कुछ भी सम्बन्ध न था। आधुनिक अनुसन्धानों के कारण भारतीय पुरातत्त्व के विषय में अनेक आश्चर्यजनक बातें प्रकाश में आ चुकी हैं। उनके आधार पर हम पूर्वकाल के विशाल भारत का अथवा भारतीय संस्कृति के प्रसार का एक अच्छा चित्र उपस्थित कर सकते हैं। यही नहीं, हम यह भी भली भाँति निर्धारित कर सकते हैं कि एशिया के इतिहास में भारतवर्ष का कितना योग रहा है।

भारतीय सभ्यता का देशान्तरों पर प्रभाव—हम अब यह भली भाँति जानते हैं कि प्राचीन भारतीय सामुद्रिक व्यापार करते तथा विदेश में बसते थे। पूर्व के प्रदेशों में भारतीय सभ्यता की झलक आज भी दिखाई देती है। उनमें कितने ही देश तो ऐसे हैं जिनकी सत्ता ही भारतीय है और कितने ही ऐसे हैं जिनकी सभ्यता, संस्कृति तथा धर्म भारत के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रभावित है। सीलोन, बरमा, स्याम, अनाम, नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया, मङ्गोलिया, चीन और जापान आदि इसी प्रकार के देश हैं।

शान्तिपूर्ण सम्पर्क—उक्त प्रदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रचार धार्मिक संघों के द्वारा हुआ था। चीन की सभ्यता पुरानी थी। उसने भी भारतीय सभ्यता को ग्रहण किया। चीन भारत का ऋणी है, भारत चीन का नहीं।

भारतीय उपनिवेश—कम्बोडिया, चम्पा, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली में ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग भारतीय पराक्रमी वीरों के निवास-स्थान थे। एशिया के दक्षिण-पूर्व में भारतीय उपनिवेश थे। इसके एक कोने से दूसरे कोने तक भारतीय शासकों, भारतीय कला, भारतीय शिल्प, भारतीय धर्म तथा शास्त्र का साम्राज्य था। उस समय के जो लेख मिले हैं वे संस्कृत में हैं। जान पड़ता है कि संस्कृत-साहित्य का उन देशों में सर्वाङ्ग अध्ययन होता था। प्रायः उन देशों में पहले हिन्दू-धर्म का प्रचार था, फिर बौद्ध-धर्म को स्थान मिला।

संस्कृति का प्रसार—भारतीय संस्कृति का प्रसार राज्य-लिप्सा का परिणाम नहीं, किन्तु उत्तम संस्कृति का स्वाभाविक प्रवाह था, जिसने अपनी सीमा को पार कर उन प्रदेशों को लहलहा दिया। उसके प्रभाव से जङ्गली जातियाँ भी सभ्य बन गईं। कम्बोडिया, चम्पा, श्याम, जावा आदि देशों में भारतीय विचार भर गये। उनकी प्रतिभा जगी और अनूठी कला का दर्शन मिला।

भारतीय उपनिवेशों के धर्म—पहले तो इन उपनिवेशों में हिन्दू-धर्म का प्रचार था, फिर बौद्ध-धर्म फैला। बौद्धों के महायान धर्म के प्रवेश से हिन्दू-धर्म की प्रधानता कुछ घटी, फिर भी दोनों साथ-साथ चलते रहे, कभी-कभी उनका मिश्रण भी हो जाता था। किसी-किसी उपनिवेश में धर्म का राजनीति से गहरा सम्बन्ध था। मन्दिर राज्य के काम में आते थे। राजा देवता के अंश समझे जाते थे और उनके स्मारक स्थापित किये जाते थे, जिन पर उनके देवताओं का उल्लेख होता था।

कम्बोडिया—इन भारतीय उपनिवेशों में कम्बोडिया प्रधान था। ईसा की पहली सदी में यहाँ भारतीयों की बस्तियाँ बनी थीं। इसकी शासन-पद्धति भारतीय थी। भूमि की उर्वरता, शासन की अनुकूलता, धन-धान्य की प्रचुरता के कारण शीघ्र ही इसकी शक्ति बढ़ गई। आठवीं तथा नवीं शताब्दी में इसका चरम विकास हो गया। इसकी सीमा बढ़ी और एक सुन्दर राजधानी बनी, जिसका आधुनिक नाम **अङ्करथाम** है। इसका पतन तेरहवीं शताब्दी में आरम्भ हो गया।

चम्पा—कम्बोडिया के उत्तर में चम्पा नामक उपनिवेश था। इसकी राजधानी अमरावती थी। ईसा की प्रथम शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक यह उपनिवेश शक्तिशाली बना रहा। कुछ समय तक इस पर कम्बोडिया का अधिकार था। अन्त में एनामियों के आक्रमण से इसका अन्त हो गया। यह उपनिवेश भारत तथा चीन में मध्यस्थ का काम करता था। कम्बोडिया में हमें आज भी भारतीय भाव, विचार तथा रूढ़ियाँ देखने में आती हैं, पर चम्पा के निवासी भारत को एकदम भूल गये हैं। इनमें अधिकांश इसलाम के अनुयायी हो गये हैं।

जावा और सुमात्रा—जावा और सुमात्रा में निकट होने के कारण भारतीय बहुत पहले ही बस गये। दक्षिण में एक प्रवाद है कि जो जावा जाता है वह फिर नहीं लौटता। फ़ाहियान का कथन है कि उसके समय में हिन्दू धर्म इन उपनिवेशों में ख़ूब प्रचलित था। ईसा की सातवीं शताब्दी में सुमात्रा में प्रसिद्ध शैलेन्द्रों का उदय हुआ। उनकी छत्र-छाया में बौद्ध धर्म बढ़ा और भव्य कला का निर्माण हुआ।

बोर्नियो और बाली—बोर्नियो में भी भारतीय संस्कृति का प्रचार हुआ था, जिसकी झलक आज भी मिलती है। बाली में एक प्रकार का हिन्दू-धर्म आज भी प्रचलित है। वहाँ पर हिन्दू मन्दिर हैं, जिनमें हिन्दू देवताओं की पूजा होती है। सबसे अनूठी बात तो यह है कि इन उपनिवेशों में कला का बहुत ही सुन्दर विकास हुआ। यद्यपि इस कला का आधार भारतीय है तथापि इसकी स्वतन्त्र रचना सराहनीय है। इसमें अनेक प्रकार की कला के प्रभावों का योग है।

भारतीय उपनिवेशों की कला—भारतीय कला की संकीर्णता भी इसमें कम है। कम्बोडिया का अङ्करवत (Angkorvat), जिसकी रचना बारहवीं शताब्दी में हुई थी, एक भव्य मन्दिर है। क्या शैली, क्या सजावट, किसी भी दृष्टि से देखिए, कम्बोडिया की शिल्प-कला की यह अनुपम कृति है। यह सभी भाँति पूर्ण है। बोरोबदूर का स्तूप बौद्ध-संसार का विशालतम स्मारक है। न जाने कितने कुशल शिल्पियों ने कितने वर्षों में इसका

निर्माण किया होगा। अब वह समय निकट ही है जब भारतवासी अपनी इन प्राचीन कृतियों का आदर-सम्मान के साथ दर्शन करने जायँगे। इनको देखकर एक बार विशाल भारत का स्मरण अनायास हो जाता है।

सीलोन—उक्त स्थानों के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का प्रसार, विशेषतः बौद्धों के प्रयत्न से, एशिया के अन्य भागों में भी हुआ था। कहा जाता है कि वङ्गदेश के कुमार विजय ने सीलोन को, ईसा की छठी शताब्दी से पहले, जीत लिया था। यह प्रसिद्ध बात है कि अशोक के संघ ने इस देश में बौद्ध-मत का प्रचार किया था। तामिल देश के कतिपय निवासियों के चेष्टा करने पर भी, सीलोन में बस जाने से भी, इस धर्म में विशेष परिवर्तन न हो सका। सीलोन का धर्म दक्षिण के बौद्ध-मत से मिलता है, वह हीनयान के नाम से विख्यात है। दक्षिण में काञ्ची बौद्धों का केन्द्र था, जिसका सीलोन तथा बरमा से सदा सम्बन्ध बना रहा।

बरमा—बरमा में बौद्ध-धर्म का प्रचार कब और किस प्रकार हुआ यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। बौद्ध-ख्यातों से पता चलता है कि अशोक ने सुवर्णभूमि में सङ्घ स्थापित किया था। अशोक के शिलालेखों में इसकी चर्चा न होने पर भी यह ठीक जान पड़ता है। इस देश का धर्म भी हीनयान है। कहा जाता है कि बुद्धघोष ने बरमा में बौद्ध-मत का प्रचार किया।

स्याम—स्याम में थई जाति का आगमन १०वीं शताब्दी के लगभग हुआ। हो सकता है कि बौद्ध-धर्म इसी के साथ आया हो। १३वीं शताब्दी में स्याम-राज्य बढ़ा। इसके कुछ दिन बाद ही सीलोन-संघ ने स्याम में बौद्ध-मत का प्रचार किया। पेगू दक्षिणी बौद्धों का केन्द्र जान पड़ता है। उसी से उत्तरी बरमा तथा स्याम में हीनयान का प्रचार हुआ। कम्बोडिया तथा स्याम के दरबारों में ब्राह्मणों की जो प्रतिष्ठा होती थी उससे पता लगता है कि उनका सम्बन्ध भारत से अधिक था। भारतीय संघ ने ही उनमें बौद्ध-मत का प्रचार किया।

चीन—चीन तथा भारत का सम्बन्ध दो जुदी-जुदी संस्कृतियों का पारस्परिक संसर्ग था। ईसा के जन्म के पहले ही मध्य एशिया, विशेषतः खोतान,

यारक़न्द, काशग़र आदि स्थलों में बौद्ध-मत का प्रचार हो चुका था। चीन में बौद्ध-मत का पदार्पण खोतान से हुआ। फिर तो चारों ओर से उसके अध्ययन की लालसा जगी। न जाने कितने चीनवासी भारत की पवित्र भूमि के दर्शन तथा शास्त्र के अध्ययन के लिए यहाँ आये और कितने भारतीय पण्डित चीन में भेजे तथा बुलाये गये। बोधिधर्म, परमार्थ आदि इन्हीं पण्डितों में थे। विद्या का यह व्यापार जल-स्थल-मार्ग से इतना बढ़ा कि सहस्रों ग्रन्थों का अनुवाद चीन की भाषा में हो गया।

जापान—जापान भारत से बहुत दूर था। उसका भारत से घनिष्ठ सम्बन्ध न था। जापान तथा कोरिया में बौद्ध-धर्म का प्रचार चीन के द्वारा हुआ। चौथी शताब्दी में कोरिया को तथा छठी में जापान को बौद्ध-धर्म का परिचय मिला। धीरे-धीरे जापान में भी नवीन सम्प्रदायों का प्रवेश चीन से हो गया। बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में जापान में बौद्ध-मत प्रबल रहा और फल-स्वरूप उसने कुछ काम भी किया।

एनाम—एनाम में भी १०वीं शताब्दी के लगभग चीन से बौद्ध-मत का प्रवेश हो गया। एनाम दो संस्कृतियों का युद्धक्षेत्र बना। अन्त में चीन विजयी रहा। कुछ दिनों के बाद एनाम का अधिकार भारतीय उपनिवेश चम्पा पर भी हो गया।

तिब्बत—तिब्बत भारत के निकट ही था। बौद्ध-मत की अनेक बातों का पता तिब्बत से चला है। ८वीं शताब्दी में लामा धर्म का आरम्भ वहाँ हुआ। ११वीं शताब्दी में अनेक धार्मिक सुधार हुए। लामा धर्म पर बङ्गाल के गर्हित पन्थों का प्रभाव पड़ा। उसने बौद्ध-मत की काया पलट दी। लामा तिब्बत का पोप कहा जा सकता है। उसकी शक्ति प्रधान होती है।

नेपाल—नेपाल भारत का अङ्ग है। कहा जाता है कि अशोक की पुत्री ने नेपाल में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। नेपाल में अब तक एक प्रकार का बौद्ध-मत प्रचलित है। भारत के साथ ही साथ वहाँ से भी बौद्ध-मत का लोप हो जाता; किन्तु तिब्बत के निकट होने के कारण उसमें अभी कुछ बौद्ध-

मत शेष है। नेपाल में प्राचीन बौद्ध-साहित्य सुरक्षित है। उसके वर्तमान हिन्दू-धर्म में बौद्ध-धर्म के चिह्न पाये जाते हैं।

पश्चिमी एशिया में भारतीय संस्कृति—विशाल भारत के उक्त उपनिवेशों का वर्णन सुनकर यह विश्वास नहीं होता कि पश्चिमी एशिया में उसके उपनिवेश न रहे होंगे। इसलाम के प्रभाव से, उसके प्रकोप से जो कुछ बच गया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति की एक धारा पश्चिमी एशिया में भी बही थी। काबुल की घाटी तथा अफ़ग़ानिस्तान के अन्य प्रान्त भारत के अन्तर्गत थे। भारतीय कला के अवशेष उनमें मिले हैं। फ़ारिस में बौद्ध-संघ था। अलबेरूनी के कथनानुसार ख़ुरासान, फ़ारिस, इराक, मोसल तथा सीरिया के पास तक बौद्ध-मत का प्रचार था। आशा है, भविष्य के अनुसन्धान से इस पर अधिक प्रकाश पड़ेगा।

विषयानुक्रमणिका

ह

सहायक ग्रन्थ-सूची

(1) V. Rangacharya ... History of Pre-Musalman India (Pre-Historic period) 1929.

(2) Panchanan Mitra... Pre-Historic India.

(3) V. A. Smith ... Pre-Historic Antiquities. *Imp. Gaz.*, Vol. II, Chap. II. *1908*.

(4) Sir John Marshall *Mohenjo-Daro*.

(5) V. Gordon Childe... The Aryans.

(6) E. J. Rapson ... Cambridge History of Ancient India. Vol I.

(7) Rajendra Lal Mitra The Indo-Aryans.

(8) R. C. Dutt ... History of Civilisation in Ancient India.

(9) Z. A. Ragozin ... Vedic India.

(10) A. C. Das ... Rig-Vedic India.

(11) ... Rig-Vedic Culture.

(12) E. W. Hopkins ... The Great Epic of India.

(13) C. V. Vaidya ... Epic India.

(14) Pargiter ... Ancient Indian Historical Tradition.

(15) „ ... Dynasties of the Kali Age.

(16) V. A. Smith ... Early History of India, 4th Edition.

(17) V. A. Smith ... Oxford History of India. (Oxford, 1919).

(18) B. N. Reu ... भारतवर्ष के प्राचीन राजवंश ।

(19) H. C. Rai Chaudhari Political History of Ancient India, 3rd Edition.

(20) T. W. Rhys-Davids Buddhist India.

(21) D. R. Bhandarkar ... Carmichæl Lectures (1918).

(22) E. J. Rapson ... Ancient India.

(23) R. C. Mazumdar ... Outlines of Ancient Indian History and Civilisation.

(24) E. B. Havell ... History of Aryan Rule in India.

(25) Samaddar ... Glories of Magadha.

(26) Rockhill ... Life of the Buddha.

(27) McCrindle ... Ancient India or the Invasion of Alexander the Great.

(28) McCrindle ... Translations of Ktesias, Ptolemy, Arian, Megasthenes and other classical authors.

(29) सत्यकेतु विद्यालङ्कार ... मौर्य्य-साम्राज्य का इतिहास ।

(30) N. K. Bhattasali ... Maurya Chronology and connected problems. *J. R. A. S., April, 1932, pp. 273-288.*

(31) K. P. Jayasval ... Maurya Chronology. *J. B. O. R. S., 1915, p. 67J.*

(32) K. P. Jayasval ... The Empire of Bindusara, *J. B. O. R. S., March, 1916, pp. 79-83.*

(33) H. C. Ray Chaudhri Coronation of Chandragupta Maurya. *Ind. Hist. Quart. V, 1929.*

(34) A. K. Mitra ... Mauryan Art. *Ind. Hist. Quart., 1927.*

(35) Kautilya's Arthshastra. English Translation by Shama Shastri.

(36) Mudra Rakshas ...

(37) McCrindle ... Indica of Megasthenes.

(38) Geiger ... महावंश and दीपवंश ।

(39) Jacobi ... Hemachandra's Parisistaparvan.

(40) Puranas

(41) दिव्यावदान

(42) Tibetan Dulva

(43) Krishna Svami Aiyangar. Mauryan invasion of South India. (Madras, 1918.)

(44) V. A. Smith ... Asoka.

(45) Macphail ... Asoka.

(46) D. R. Bhandarkar... Asoka.

(47) R. K. Mookerji ... Asoka.

(48) K. P. Jayasval ... Notes on the Brahman Empire, *J. B. O. R. S., 1918 and 1928.*

(49) R. D. Banerji and K. P. Jayasval. The Hathigumpha Inscription, *Ep. Ind. XX, January 1930.*

(50) V. A. Smith ... *J. R. A. S.*, July-Oct. 1918.

(51) R. G. Bhandarkar... Early History of the Deccan.

(52) D. R. Bhandarkar... The Deccan of the Satavahana period, *Ind. Ant. 1916, 1918, 1919.*

(53) E. J. Rapson ... Catalogue of coins of the Andhras, etc.

(54) K. P. Jayasval ... Problems of Saka-Satavahana History, *J. B. O. R. S., Dec. 1930.*

(55) R. G. Bhandarkar... Peep into the Early History of India.

(56) Rawlinson ... Bactria.

(57) Rawlinson ... India and the W. World.

(58) R. B. Whitehead ... Indo Greek coins, (*Lahore Mus. Cat, Vol. I, Oxford 1914.*)

(59) R. D. Banerji ... Nahapana, *J. R. A. S. 1917, pp. 272-289.*

(60) E. J. Rapson ... Bhumaka, *J. R. A. S., 1904, p. 371.*

(61) Jonveau Dubreiul... Early History of the Deccan.

(62) Vincent Smith ... The Kushan period of Indian History, *J. R. A. S. 1903.*

(63) Sten Konow ... Corpus Inscriptionum Indicaum, (*Introduction*)

(64) K. P. Jayasval ... Wema Kadphises, his statue and Kushan Chronology *J. B. O. R. S. March 1920, pp. 12-22*

(65) Debate on Kanishka *J. R. A. S. 1913, 1914.*

(66) R. D. Banerji ... The Scythian period of Indian History, *Ind. Ant. 1908.*

(67) J. Kennedy ... The Later Kushans, *J. R. A. S. 1913, pp. 1054-64.*

(68) John. F. Fleet ... Gupta Inscriptions.

(69) John Allan ... *Catal* of coins of the Gupta Dynesty.

(70) Ganga Prasad Mehta चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ।

(71) R. D. Banerji ... The Gupta period of Indian History.

(72) R. D. Banerji ... The Chronology of late Imperial Guptas, Annals of the Bhandarkar Institute, Vol. I, Pt. 1, 1919.

(73) Panna Lall ... The dates of Skandagupta and his successors. (The Hindustan Review, *January 1918*).

(74) R. C. Mazumdar ... Revised Chronology of the Later Guptas, *Ind. Ant. 1918, p. 166 J.*

(75) K. P. Jayasval ... Dark period of Indian History. *150-350 A. D.*

(76) K. P. Jayasval ... Chandragupta Vikram-aditya and his predecessor, *J. A. O. R. S. XVIII,* Pt. I, pp. 17-36.

(77) Samuel Beal ... Records of Fahian.

(78) Krishna Swami Aiyangar ... Studies in Gupta History.

(79) V. A. Smith ... The Vakatakas of Berar. *J. R. A. S 1914, p. 317 J.*

(80) K. B. Pathak ... New Light on Gupta Era and Mihirakula. *Ind. Ant. XLVII. 1918.*

(81) J. J. Modi ... The Early History of the Huns. *J. B. B. R. A. S. 1916-17. pp. 589-95.*

(82) Rev. H. Heras ... Defeat of Mihirakula. *Ind Ant Quart. III. 1927.*

(83) T. G. Aravamuthan Kaveri, Mawkheri and the Sangam Age.

(84) C. V. Vaidya ... History of Med. Hindu India. *3 Volumes.*

(85) R. K. Mookerji ... Harsa.

(86) R. C. Mazumdar ... Harsa. (*J. B. O. R. S. 1923.*)

(87) R. S. Tripathi ... Early position of Harsa. Malaviya Commemoration Volume.

(88) Bana's ... Harsacharita

(89) Watters ... Records of Yuanchiwang.

(90) R. G. Basak ... Sasanka. (*Ind. Hist. Quart. July, 1923.*)

(91) Dr. H. C. Ray ... Dynastic History of N. India. Vol. I.

(92) Sylvain Levi ... Le Nepal.

(93) D. Wright ... History of Nepal.

(94) Sir Edward Gait ... History of Assam.

(95) Sir Aural Stein ... Rajatarangini (Introduction).

(96) ELLIOT ... The History of India as told by its own historians.

(97) R. C. Mazumdar ... The Gurjara Pratiharas. *Journal* Dept. of Letters. X. 1923. pp. 1-76.

(98) V. A. Smith ... The Gurjaras of Rajputana and Kanauj.
J. R. A. S. 1909, pp. 53-56, and 247-81.

(99) A. G. R. Hoernle ... Some problems of ancient Indian History, *J. R. A. S. 1904, pp. 639-662. J. R. A. S. 1905 pp. 1-32.*

(100) N. Ray ... Chronology of the Later Pratiharas. *Ind. Ant. 1928 pp. 230-34.*

(101) Gauri Shankar H. Ojha ... राजपूताना का इतिहास ।

(102) Gauri Shankar H. Ojha ... प्राचीन लिपिमाला ।

(103) Colonel Tod ... Annals and Antiquities of Rajasthan.

(104) B. N. Reu ... The Gahadavalas of Kanauj (*J. R. A. S. January 1932, pp. 1-21.*)

(105) B. N. Reu ... Jayachandra of Kanau; *Ind. Ant. January 1930.*

(106) Harbilas Sarda ... *J. R. A. S. 1913, pp. 259-8 (Prithvirajavijaya.)*

(107) V. A. Smith ... History and coinage of th Chandels, *Ind. Ant 1908 pp. 114-148.*

(108) R. D. Banerji ... The Palas of Bengal, *Mem. As. Soc. of Bengal Vol. V. No. 3.*

(109) R. C. Mazumdar ... Early History of Bengal (Dacca 1924).

(110) V. A. Smith ... The Pala Dynesty of Bengal. *Ind. Ant. 1909 Vol. 38 pp. 238-48.*

(111) Girindra Mohan Sarkar ... The Sena period of the History of Bengal. *Journal.* Dept. of Letters XVI. 1927.

(112) R. D. Banerji ... History of Orissa.

(113) Bombay Gazetteer

(114) N. Ray ... The Maitrakas of Vallabhi, *Ind. Hist. Quart.*

दक्षिण भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थ

(115) Jonveau Dubreuil History of the Deccan.

(116) Fleet ... Dynasties of the Kanarese Districts.

(117) Krishnasvami Aiyangar. Ancient India.

(118) Sewel ... Sketches of South Indian Dynasties.

(119) K. V. Subramaniun Historical sketches of the Deccan.

(120) Gopalan ... History of the Pallavas.

(121) Nilakantha Shastri Studies in Chola history and administration.

प्राचीन भारत के इतिहास-सम्बन्धी विविध ऐतिहासिक ग्रन्थ

L. D. Barnett ... Antiquities of India.

N. N. Law ... Studies in Indian History and Culture.

A. A. Macdonell ... India's Port.

Srinivas Aiyangar ... Life in Ancient India.

G. N. Banerji ... Hellenism in Ancient India.

P. N. Banerjee ... Public administration in Ancient India.

V. R. Dikshiter ... Hindu Administrative Institutions.

R. K. Mookerji ... Local Government in Ancient India.

D. R. Bhandarkar ... Carmichæl Lectures (1921.)

S. K. Chakravarty ... A study of Ancient Indian Numismatics.

R. D. Banerji ... प्राचीन मुद्रा ।

A. A. Macdonell ... History of Sanskrit Literature.

Winternitz ... History of Indian Literature.

A. B. Keith ... Classical Sanskrit Literature.

S. K. Das ... Education in Ancient India.

S. K. Das ... Economic History of Ancient India.

J. N. Samaddar ... Economic culture of Ancient India.

J. Kennedy ... Early Commerce of Babylon with India. *J. R. A. S. 1898, pp. 241-88.*

Cunningham ... Indian Eras.

C. Mabel Duff ... Chronology of Ancient India.

S. N. Pradhan ... Chronology of Ancient India.

N. L. Dey ... The Geographical Dictionery of Ancient India.

A. Cunningham ... The Ancient Geography of India.

V. A. Smith ... History of Fine Art in India and Ceylon.

E. B. Havel ... Indian Architecture.
Fergusson ... History of Indian and Eastern Architecture.
Farquhar ... An outline of religious Literature of India.
L. D. Barnett ... Hinduism.
Hopkins ... Religions of India.
Radhakrishnan ... Indian Philosophy.
Oldenberg ... Buddha.
Rhys Davids ... Buddhism.
Keith ... Buddhist Philosophy.
Mrs. S. Stevenson ... The History of Jainism.
Jagmandor Lal Jaini ... Outlines of Jainism.
B. M. Barua ... The Ajivakas.

Journals.

(1) J. R. A. S.
(2) J. A. S. B.
(3) J. B. B. R. A. S.
(4) J. B. O. R. S.
(5) Ind. *Hist. Quart.*
(6) *Ann.* of the *Bhand Oriental Institute.*
(7) Indian. Antiquary.
(8) *Epigraphia Indica.*
(9) *Arch.* Survey Reports.
(10) *Journ.* Dept. of Letters.
(11) Journal of Indian History.
(12) *Nagari Pracharini Patrika.*
(13) Bulletin of the School of Oriental *studies.*
(14) Journal of the American Oriental Society.

(15) Memoirs of the Asiatic Society of Bengal.

(16) Memoirs of the *Arch.* Survey of India.

(17) Numismatic Chronicle.

(18) *Proc.* and Transactions of the Oriental conference (India)

(19) Quarterly Journal of the Andhra Historical Society

(20) Journal Asiatique.